

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj )

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DATE	SIGNATURE

# उपनिषदों में काव्यतत्त्व

POETIC ELEMENTS

IN THE

UPANISADS

1988-89

30 MAY 1990

डॉ० कृष्णकुमार धवन



विश्वेश्वरानन्द-वैदिकशोध-संस्थान

होगिआरपुर

१९७६

सर्वे अधिकारा सुरक्षिता

प्रवाचक-सकेत

विश्वेश्वरानन्द-वैदिकशोध संस्थानम्  
साधु-आश्रम (प ग), होशियारपुरम् (भारतम्)  
प्रथम संस्करणम् १९७६



All Rights Reserved

FIRST EDITION, 1976

*Publishers*

VISHVESHWARANAND VEDIC RESEARCH INSTITUTE  
Sadhu Ashram (P O) Hoshiarpur (India)

भारत होशियारपुरे वि वै शो स-मुद्रागृहे ।  
शास्त्रिणा देवदत्तेन मुद्राप्येद प्रकाशयते ॥

Printed and published by DEVA DATTA Shastri,  
at the V. V. R. I Press, Hoshiarpur (Pb., India)

# सम्पूर्ण

पूज्य

श्री पितृ-चरणों में

जिन्होंने

सम्पूर्ण प्रोत्साहन देकर मुझे

सुरभारती संस्कृत के

अध्ययन में प्रवृत्त

किया

# विषयानुक्रमिका

## CONTENTS

	पृष्ठ
FOREWORD By Dr V Raghavan	viii-iv
अभिनन्दन—डा० मङ्गलदेव शास्त्री	xv-xvi
प्रामुख	xvii-xxi
नाम-संक्षेप (ABBREVIATIONS)	xxii

### अध्याय 0 : उपक्रम

0 १. उपनिषत्-साहित्य का परिचय	१—१४
१. वैदिक साहित्य और उपनिषद्	१
२. उपनिषद् पद का निर्वचन	१
३. उपनिषदों की सत्या	२
४. उपनिषदों का प्रतिपाद्य	३
५. दर्शन और कविता	४
६. उपनिषदों की कला	६
0 २. काव्य के तत्त्व	१५—४६
१. विषय-प्रवेश	१५
२. काव्य-सिद्धान्तों का मूल	१७
३. अलंकार-सिद्धान्त	२१
४. गुण	२३
५. रीति	२९
६. सध्या तथा पाक	३१
७. वप्रोक्ति	३५
८. रस	३६
९. छवति	४१
१०. औचित्य	४५
११. औचित्य के भेद	४८
0 ३. वैदिक-साहित्य में काव्यतत्त्वों का मूल	५०—६१
१. वेदों में अलंकार	५२
२. वेदों में गुण	५६

0 ३ (गत पृष्ठ न आगे)	पृष्ठ
३ वेदों में रीति	५८
४ वेदों में ध्वनि	६०
५ वेदों में औचित्य	६१

### अध्याय १ : अलंकार

१ १ वस्तुनिर्देश	६३
१ २ शब्दालंकार	६४—७४
१ अनुप्रास ✓	६४
२ यमक ✓	६९
३ वञ्चोक्ति ✓	७१
४ श्लेष ✓	७३
१.३ अर्थालंकार	७५
१ ४. सादृश्यमूलक अर्थालंकार	७६—१४१
१ उपमा ✓	७६
२ पूर्णोपमा	७९
३ मुक्तोपमा	८५
४ मालोपमा	८८
५ वाच्यार्थापमा	९२
६ उपमेयोपमा	९५
७ रूपक ✓	९६
८ परिणाम	१०८
९ मन्देह ✓	११०
१० ध्रान्तिमान ✓	१११
११ उल्लेख	११२
१२ उम्प्रेक्षा ✓	११५
१३ अनिगाधोक्ति ✓	११९
१४ दोषह	१२३
१५. मृन्दयोक्ति	१२५
१६ प्रतिबन्धोपमा	१२६
१७ वृष्टान्त ✓	१२६

१४ (गत पृष्ठ से प्राग)		पृष्ठ
१८ निदर्शना		१३०
१९ परिकर		१३२
२० परिकराकुर	*	१३४
२१ पर्यायोक्त		१३८
२२ अर्थांतरन्यास		१४०
१५ विरोधमूलक अलकार		१४२—१५३
१ विरोध		१४२
२ विभावना		१४६
३ विशेषोक्ति		१४७
४ विषम		१४८
५ अन्यान्य		१४९
६ विशेष		१५१
१६ शृङ्खलाबन्धमूलक अलकार		१५४—१५८
१ करणमाला		१५४
२ सार		१५६
१७ काव्यन्यायमूलक अलकार		१५९—१६८
१ पर्याय		१५९
२ परिवृत्ति		१६०
३ परिसंख्या		१६१
४ अर्थापत्ति		१६४
५ समुच्चय		१६६
१८ तर्कन्यायमूलक अलकार		१६९—१७४
१ काव्यालिंग		१६९
२ अनुमान		१७३
१९ लोकन्यायमूलक अलकार		१७५—१७८
१ उत्तर		१७५
२ तद्गुण		१७७
११० शूढार्थप्रतीतिमूलक अलकार		१७९—१८३
१ भाविक		१७९
२ उदात्त		१८१

	पृष्ठ
१११. उभयालकार	१८४—१९१
१. सप्तृष्टि	१८५
२. सकर	१९०

### अध्याय २ : गुण-रीति-पाक

२.१. गुण	१९२—२०३
१. माधुर्यगुण	१९५
२. ओजोगुण	१९७
३. प्रसादगुण	२००
२.२. रीति	२०४—२१२
१. वंदनी रीति	२०६
२. गौडी रीति	२०८
३. पाचाली रीति	२१०
२.३. पाक	२१३—२१८
१. नारिकेलपाक	२१५
२. प्रसुमपाक	२१६
३. तिलिन्दीपाक	२१७
४. मूडीकापाक	२१८

### अध्याय ३ : ध्वनि

३.१. ध्वनिसिद्धांत	२१९—२२१
३.२. ध्वनिभेद	२२२—२४७
१. लक्षणामूलक अर्थात्सप्तमितीयध्वनियुक्तध्वनि	२२२
२. लक्षणामूलक अर्थात्तत्त्वितरुत्कृतवाच्यध्वनि	२२४
३. ध्वनिधामूलक अर्थात्तत्त्वितमूलध्वनि	२२५
४. पदध्वनि	२३९
५. वाक्यध्वनि	२४२
६. निधानध्वनि	२४४
७. प्रत्ययध्वनि	२४५
८. अनुसंधानध्वनि	२४६



अध्याय ४ : रस

पृष्ठ

४.१	रस-सिद्धान्त	२४८—२५०
४.२	रस-विश्लेषण	२५१—२५५
	१. शान्त रस	२५२
	२. अद्भुत रस	२५४
४.३	भाव	२५६—२५७

अध्याय ५ : औचित्य

५.१.	औचित्य का परिचय	२५८—२५९
५.२.	औचित्य के भेद	२६०—२६२
	१. पद-औचित्य	२६१
	२. वाक्य-औचित्य	२६३
	३. अलंकार-औचित्य	२६४
	४. विशेषण-औचित्य	२६९
	५. लिंग-औचित्य	२७१
	६. वचन-औचित्य	२७२
	७. प्रत्यय-औचित्य	२७४
	८. निपात-औचित्य	२७५
	९. नाम-औचित्य	२७७
	१०. क्रिया-औचित्य	२७८

अध्याय ६ : गद्य-काव्य

६.१.	उपनिषदों का गद्य	२८३—२८९
	१. चूर्णक गद्य	२८५
	२. वृत्तगन्धि गद्य	२८९
	३. उत्कलिकाप्राय गद्य	२९०
६.२	निष्कर्ष	२९२—२९४
६.३.	कथात्मक तथा नाटकीय गद्य	२९५—२९९
	१. कथात्मक शैली	२९५
	२. नाटकीय अथवा संध्यात्मक शैली	२९६
	उपसंहार	३००

## परिशिष्ट

पृष्ठ

(क) उपनिषदों के उपमान	३०३—३११
१ दिव्य	३०३
२. वनस्पति तथा अन्य प्राकृतिक पदार्थ	३०४
३ जीवजन्तु	३०६
४ दैनिक व्यवहार में आने वाले पदार्थ	३०७
५ विविध	३१०
(ख) छन्द	३१२—३१७
१ छन्दों के भेद	३१३
२ उपनिषदों में छन्दोमोजना	३१३
अनुष्टुप्	३१५
इन्द्रवज्रा	३१५
उपजाति	३१६
वशात्थ	३१७
(ग) सूक्तियाँ	३१८—३१९
अनुशीलित ग्रन्थ सूची (BIBLIOGRAPHY)	३२१—३२८
विशिष्ट शब्द सूची (SUBJECT INDEX)	३२९—३४९
शुद्धि पत्र	३५०—३५१

## FOREWORD

I am glad to write this short Foreword to the study of the poetic elements in the Upanisads offered in the following pages by Dr K. K. Dhavan. The literary approach to the Vedas which has received much attention in the modern study of Sanskrit literature is, however, not something absolutely new. Brahmā is counted as the first Poet, and the Vedas, the first Poetic creations. The Seers of the hymns are also called *Kavis* and the seeds of the Indian poetic theory can be traced to the *Rgveda*. In the *Nirukta*, Yāska and, before him, Gārgya, considered the words conveying simile and the concept of simile. The *Upanisads* resort as much to the simile and metaphor, and the *Vedānta-Sūtras* discuss the use of *ropaka* in the well-known description of the body as the chariot and the soul as the charioteer. Rājāśekhara therefore declares that Poetics, which thus holds the key to the understanding of many Vedic passages, is, over and above the accepted six *Āngas*, the seventh *Āṅga* of Vedic exegesis.

The *Rgveda*, of course, leads in the manifestation of the poetic style and there have been several studies of the poetical aspects of the *Rks*, particularly of the similes. Some have extended this kind of study to the *Atharva-Veda* also and produced interesting results. The present work of Dr Dhavan takes the *Upanisads* for a similar analysis. Although there has been some examination of the similes of the *Upanisads*, this, I think, is the first systematic treatment of all the poetic elements in

Upanisadic writing—*Śabdāṅkara*, *Upamā* and several other *Arthāṅkaras*, *Guna Riti*, *Aucitya*, *Rasa* and *Dhvanī*, the quality of the prose dialogues is also evaluated and the handling of metres, too, has received some attention. In the end, a classified list of the similes in the *Upanisads* is also given.

It is quite a painstaking work to sift and select from the ancient Upanisads passages answering precisely to the definitions of the different *Āṅkaras* as distinguished very much in later *Āṅkara* works. The author may well be congratulated for the analysis and presentation of the material and contributing to the enjoyment of the literary side of a literature which had been held in esteem all over the world as the highest peak of Indian Philosophy.

V RAGHAVAN

Madras

23 11-1975

## अभिनन्दन

मैं तो अपना सौभाग्य ही कहूँगा कि मुझे डॉ० कृष्णकुमार धवन के ग्रन्थ उपनिषदों में काव्यतत्त्व को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। मैं वर्षों से वेद तथा उपनिषत्-साहित्य का विद्यार्थी रहा हूँ। इसलिए वेदुष्यपूर्ण उक्त निबन्ध को देखकर मुझे अत्यन्त हार्दिक प्रसन्नता हुई है।

मेरी यह दृढ धारणा है कि उपनिषत्-साहित्य पर जिस मूढम दृष्टि से डॉ० धवन ने अपने विचार प्रतिपादित किए हैं, वे निश्चित ही सोपन्न हैं। मेरी दृष्टि में ऐसी कोई पुस्तक नहीं आई जिसमें उपनिषत्-साहित्य पर प्रकृत दृष्टि से कुछ भी विचार किया गया हो। उपनिषदों के सम्बन्ध में इस विचार का महत्त्व कई दृष्टियों से है। पता नहीं, सहस्रो वर्षों से दुर्भाग्य-वश हमारे देश में वैदिक साहित्य के प्रति, जिसमें उपनिषदों का प्रधान स्थान है, विद्वानों की बराबर उपेक्षा क्यों रही है? वेदों का सार्वभौम उपदेश मानवमात्र की अमूल्य सम्पत्ति है। ऐसी अवस्था में भी यह समझ में नहीं आता कि हमारे संस्कृत-साहित्य में वैदिक-साहित्य के प्रति हीनता की भावना कैसे पैदा हो गई? निम्न निर्दिष्ट पद्य को देखिए। महाभारत में दो स्थलों पर, कुछ पाठभेद के साथ यह पद्य आता है :—

श्रीत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपरिचतः ।

अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥

(शा० प० १० १, उ० प० १३२-६)

साथ ही, विक्रमोर्वशीय का वह पद्य तो प्रसिद्ध ही है जिसमें ब्रह्मा के लिए वेदाभ्यासजडः कहा गया है—वेदाभ्यासजडः कथं नु विषय-व्यावृत्तकौतूहलः। ऐसे वचन और भी कई स्थानों पर मिलेंगे।

प्रकृत गवेषणात्मक ग्रन्थ का प्रमुख महत्त्व तो यही है कि इसके द्वारा भारतीय विद्वानों की परम्परा में भी वैदिक साहित्य के प्रति प्रायेण जो इस प्रकार की हीनबुद्धि है, उसकी निर्मूलता सिद्ध हो जाती है। इसके अनुशीलन से मुझे ऋग्वेद के दशम मण्डल की इन ऋचाओं का ध्यान मन में आ जाता है —

यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥  
देवस्यं पश्य काव्यं ... ॥

इसी प्रकार सैकड़ों मंत्रों में वैदिक-साहित्य के शब्दों में ही वेदों के साहित्यिक महत्त्व का प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में किया गया है। निस्सन्देह वैदिक साहित्य, जिसमें उपनिषदों का अत्युत्कृष्ट स्थान है, साहित्यिक दृष्टि से भी उसी प्रकार अपना महत्त्व रखता है जिस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से।

प्रस्तुत शोध-निबन्ध का एक विशिष्ट महत्त्व यह है कि इसमें साहित्य-शास्त्र की विभिन्न दृष्टियों से, बड़े परिश्रम-पूर्वक, प्रधान उपनिषदों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। इस अभिनव अध्ययन के कारण मेरी मम्मति में डॉ० धवन के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि की पूर्वावृत्त उक्ति सार्थक हो जाती है और हम उनके लिए सुमेधाः विशेषण का प्रयोग कर सकते हैं।

इस परिश्रम-साध्य विशिष्ट कृति के लिए मैं हृदय से डॉ० धवन का मवर्धन करता हूँ। पूर्ण आशा है वे अपने इसी प्रकार के वैदिक अध्ययन को भविष्य में भी जारी रखेंगे।

मङ्गलदेव शास्त्री

मङ्गल भवन,

दिल्ली—७,

१६. ९. १९७५

## श्रामुख

वैदिक साहित्य निखिल ज्ञान-विज्ञान की अक्षय निधि है। प्राच्य तथा पारश्चात्य विद्वानों द्वारा इसका मानव-संस्कृति एवम् आध्यात्मिक दर्शन के विकास की दृष्टि से सूक्ष्म तथा सुविस्तृत अध्ययन किया गया है। भाषाविज्ञानवेत्ताओं एवं धर्मविज्ञान के अध्येताओं ने भी, वेदों का अध्ययन अनिवार्य समझकर, इनका पर्याप्त रूप से मन्थन किया है। इसके साथ-साथ इस कथन में भी कोई प्रत्युक्ति नहीं कि वेद ऋषि का अमर काव्य भी है। इनका सौन्दर्यपक्ष भी उतना ही प्रबल है जितना कि सत्य और शिव। पर इन्हें एकमात्र धर्मग्रन्थ मानने के कारण, काव्य की दृष्टि से इनका अध्ययन प्रायः उपेक्षित ही रहा है। अब विद्वानों का ध्यान शनैः-शनैः इस ओर आकृष्ट हो रहा है तथा इनमें भारतीय संस्कृति एवं ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न परम्पराओं के समान काव्य-परम्परा के बीज भी ढूँढे जा रहे हैं। कुछ विद्वानों द्वारा ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के साहित्यिक पक्षों का अध्ययन किया भी गया है।

वेदों के समान उपनिषदों के विषय में भी अब तक यही धारणा रही है कि ये मानव-जीवन के गूढ़ रहस्यों के प्रकाशक तथा आत्मिक शान्ति प्रदान करने वाले अद्वितीय ग्रन्थ हैं। इनकी दार्शनिक महत्ता को विभिन्न युगों एवं विभिन्न देशों के मनीषियों ने एकमत से स्वीकार किया है। फलतः अब तक इनका अनुशीलन आध्यात्मिक दृष्टि से ही होता आ रहा है। पर, इनके सूक्ष्म अध्ययन से प्रतीत होता है कि उपनिषद्-साहित्य न केवल गम्भीर तथा उदात्त विचारों के कारण ही गौरवान्वित है, अपितु अभिव्यक्ति की कलात्मकता की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

यह तो सत्य है कि उपनिषद् दार्शनिक दृष्टिकोण लिए हुए हैं, पर उपनिषद् का ऋषि अपने दर्शन तथा चिन्तन का मूल-रूप बनें एवम् उसे साधारण जिज्ञासुओं को हृदयङ्गम कराने के लिए प्रायः काव्यात्मक साधनों का प्रयोग करता है। परन्तु उपनिषदों का यह गरिमायुक्त साहित्यिक पक्ष विद्वानों के गम्भीर चिन्तन का विषय नहीं बना। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों का उदात्त दर्शन हिमालय के महानहिम-

शाली शिखर के समान विद्वानों को अभिभूत करता रहा है और इस कारण उसके अन्तस् में प्रवाहित होने वाली काव्य-भन्दाकिनी की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं गई ।

उपनिषदों में यद्यपि प्रभुसम्मित वाक्यों की प्रधानता है, पर देखा जाय तो कान्तासम्मित वाक्यों की भी वहा कमी नहीं । इतना होते हुए भी, इन महान् आप ग्रन्थों का काव्यगत अध्ययन कही इनकी पवित्रता को खण्डित न कर दे अथवा इनके गौरव को किसी प्रकार हानि न पहुँचा दे, सम्भवतः इसलिए काव्य के रूप में इनका अध्ययन उचित नहीं समझा जाता रहा । परन्तु, उपनिषदों की रचनाशैली बताती है कि ऋषित्व और कवित्व, दशन और कविता परस्पर विराधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं ।

वेद ही नहीं, अपितु निखिल ब्रह्माण्ड भी ईश्वर का काव्य है । ऐसी स्थिति में ईश्वर और उसकी सृष्टि के गूढ रहस्य का प्रकाशन करने वाले उपनिषद् काव्यत्व से शून्य कैसे रह सकते हैं ? भरतमुनि ने इसी कारण नाट्य के सभी अंगों की उत्पत्ति वेदों में ही मानी है । राजशेखर ने भी त्रयो और आन्वीक्षिकी के उपरान्त साहित्य विद्या को पाचवी विद्या मानत हुए उसे चारों विद्याओं का निष्पन्न माना है तथा अलङ्कार शास्त्र को सप्तम वेदांग भी, क्योंकि इसके बिना वेदार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं । अतः वेदों और उपनिषदों के अन्य पक्षों के अध्ययन के साथ

१. जग्राह पाठमृगवेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।

यजुर्वेदादभिनयान रसानाययणादपि ॥

वेदोपवेद सम्बन्धो नाट्यवेशो महारमना ।

एव भगवता सृष्टो ब्रह्मण्य सलितारमक ॥

—ना० शा०, १ १७ १८

२. षष्ठो साहित्यविद्या इति यायावरीय । सा हि षतसृणामपि विद्यानां निष्पन्न ॥

शिखा बह्वो व्याकरण निरूपण एतद्विहित ज्योतिष च यद्भागिन' इत्याचार्या । उपकारकत्वात्सकार' सप्तमभगम्' इति यायावरीय । ऋते च तत्सवरूपपरिज्ञानाद् वेदार्थानवगति ॥

—ना० शी०, द्वितीयाध्याय, शास्त्रनिर्देश



काव्य के रूप में भी इनका अध्ययन, इनमें निहित विचारों का पूर्णतः अप्रतिगति के लिए नितान्त आवश्यक है। तथापि, ऋग्वेद काल से प्रवर्धमान भारतीय दर्शन के विकास के अध्ययन के लिए यदि उपनिषदों का अनुशीलन अनिवार्य है, तो भारतीय काव्यपरम्परा के अध्ययन के लिए भी वह अनिवार्य नहीं तो उपयोगी अवश्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी दृष्टिकोण से ईश, वेन, कठ आदि पूर्वतन एकादश उपनिषदों का काव्य-शास्त्रीय अध्ययन किया गया है। इनमें काव्यगत विविध विशेषताएँ अप्रत्याशित रूप से उपलब्ध हैं।

इस ग्रन्थ को छः अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में अलंकार-सौन्दर्य का निरूपण करते हुए उपनिषदों में उपलब्ध अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों, उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारों तथा उभयालंकारों का विवेचन किया गया है। इन विवेचन के लिए आचार्य विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण को मुख्य आधार माना गया है। द्वितीय अध्याय में पद और वाक्ययोजना की दृष्टि से उपनिषदों की भाषा और शैली की रमणीयता का गुण, रीति व पाक के रूप में प्रतिपादन किया गया है। उपनिषदों में ध्वनि-सौन्दर्य की भी कमी नहीं है। तृतीय अध्याय में ध्वनि-सौन्दर्य का उद्घाटन करते हुए ध्वनि के कतिपय भेदों का दिग्दर्शन कराया गया है। चतुर्थ अध्याय में रस का विवेचन किया गया है। उपनिषदों में मत्स्यतः शान्त तथा अदभुत रस की ही अभिव्यक्ति हुई है। अंग के रूप में शृङ्गार की भी अभिव्यञ्जना पाई जाती है। रस के अतिरिक्त, उपनिषदों में भावादिके दर्शन भी पर्याप्त रूप में होते हैं। स्यान-स्यान पर ऋषि अग्नि, आदित्य आदि देवों के प्रति रति की अभिव्यक्ति करते देखे गये हैं। काव्य को सजीव एवं सार्थक बनाने वाले औचित्य नामक तत्त्व का विवेचन पंचम अध्याय में किया गया है। ऋषियों ने ब्रह्म-तत्त्व तथा जीवन-दर्शन को सुस्पष्ट करने के लिए उपनिषदों में सर्वत्र उचित पदों, वर्णों, प्रत्ययों, वाक्यों आदि का प्रयोग किया है, जिससे उनके चरनों में प्राणप्रतिष्ठा के साथ-साथ सुन्दरता भी आ गई है।

गद्य-रचना की दृष्टि से भी उपनिषद्-साहित्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उपनिषदिक गद्य उत्तरवर्ती संस्कृत-साहित्य में प्रचलित विविध गद्य-शैलियों का पूर्वगामी प्रतीत होता है। लौकिक संस्कृत-साहित्य में प्राप्त गद्य की कथा, आट्यायिका, चम्पू आदि अनेक विधाओं एवम् उनमें

प्राप्त चूर्णक, वृत्तगन्धि, उत्कलिका इत्यादि अनेक शैलियों के सुन्दर निदर्शन उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। इनमें अतिरिक्त सम्वादात्मक (नाटकीय) शैली का भी प्रभूत प्रयोग उपनिषदों में हुआ है, जिससे सिद्ध होता है कि लौकिक मस्त्रुत के नाटकों का सम्बन्ध एवम् वेद के सम्वाद-मूक्तों से न होकर औपनिषदिक गद्य की इस नाटकीय शैली में है। उपनिषत्-साहित्य में प्राप्त गद्य के पूर्वोक्त विविध रूपों का सोदाहरण विवेचन षष्ठ अध्याय का प्रतिपाद्य है।

उपनिषत् साहित्य का परिचय, काव्य के तत्त्वों का मंडान्तिक विवेचन तथा वैदिक साहित्य में काव्य के तत्त्वों के मूल का प्रतिपादन उपक्रम भाग में तथा उपनिषदों के प्रसिद्ध उपमानों, सूक्तियों एवम् उनमें उपलब्ध कतिपय लौकिक छन्दों का निर्देशन परिशिष्ट-भाग में समाविष्ट है।

### कृतज्ञता-प्रकाशन

प्रस्तुत ग्रन्थ मूलरूप में पंजाब विश्वविद्यालय (चण्डीगढ़) द्वारा पीएच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। इसके प्रकाशन के अवसर पर मैं इस शोधकार्य में अपने निर्देशक, डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, अध्यक्ष, मस्त्रुत-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। इस विषय में अनुमन्धान करने की मूलप्रेरणा मुझे अपने परममित्र, साहित्यशास्त्र प्रवीण डॉ० रविशङ्कर नागर (दिल्ली) से मिली थी। तथा च. इसकी पूर्ति के निमित्त भी इनमें सतत अमित सहयोग एवं प्रोत्साहन मिलता रहा। तदर्थ मैं इनका अत्यन्त श्रेणी हूँ। अब तक केवल उच्च दार्शनिकता के लिए विरुपात उपनिषदों की काव्यात्मकता का उदघाटन करने-जैसे दु माध्य कार्य में अनेकानेक समस्याओं का उभरना स्वाभाविक था। परन्तु, सौभाग्य में इनके समाधानार्थ मुझे भाषाविद् व साहित्य के मर्मज्ञ डॉ० देवीदत्त शर्मा (चण्डीगढ़) तथा प्राच्य-विद्याविचारद प० इन्द्रदत्त उनियाल (होशियारपुर) से सत्परतापूर्वक सहायता प्राप्त होती रही। तदर्थ मैं इन विद्वानों का हृदय से आभारी हूँ। प्रस्तुत ग्रन्थ की विशिष्ट शब्द सूची के निर्माण का कार्य श्री प्रिंसोन्समिह विन्दा ने तथा प्र०-संशोधन प्रो० रत्नचन्द्र शर्मा ने अत्यन्त मनोयोग व परिश्रम में किया है। इनका मैं किन्तु शब्दों में

धन्यवाद करें ? इसके साथ ही मैं अपनी धर्मपत्नी श्रीमती कृष्णा धवन का भी धन्यवाद किये बिना नहीं रह सकता, जो इस दिशा में समय-समय पर मेरी प्रेरणा के स्रोत रही हैं ।

यह मेरा परम सौभाग्य है कि इस पुस्तक का FOREWORD (प्रारम्भ) भारतीय काव्य-शास्त्र के निष्णात व आधिकारिक विद्वान् पद्मभूषण डॉ० वी० रायवन् ने लिखने की कृपा की । मैं उनके प्रति अपनी असीम कृतज्ञता प्रकट करता हूँ । साथ ही मेरे इस सारस्वत-परिश्रम के अनुमोदनार्थ अभिनन्दन वेदमनीषी मुनिमेधातिथि डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री ने अभिव्यक्त किया । उनके बहुमूल्य विचारा तथा प्रोत्साहनक आशीर्वाद के लिए मैं अत्यन्त आभारी हूँ ।

पाण्डुलिपि में अपेक्षित परिष्कारसहित सुचारु एवं सुव्यवस्थित तरणि से प्रस्तुत पुस्तक का संपादन-कार्य विश्वेश्वरानन्द वैदिकशोध-संस्थान के उपमंचालक तथा संस्थान की शोध-ग्रन्थमालाओं के प्रधान संपादक, श्री एस० भास्करन् नायर ने किया । वस्तुतः इस ग्रन्थ के वर्तमान रूप में प्रकाशित होने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त है । मैं उनके प्रति और अन्ततः वैदिक वाङ्मय के प्रचार-प्रसारार्थ गत सात दशकों से भी अधिक समयपर्यन्त अतवरत कार्यरत विश्वेश्वरानन्द-वैदिकशोध-संस्थान के प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त किए बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने इस पुस्तक को अपनी विख्यात वुल्नर-भारतभारती-ग्रन्थमाला (*Woolner Indological Series*) में प्रकाशित करना महर्षि स्वीकार किया ।

कृष्णकुमार धवन

संस्कृत-विभागाध्यक्ष,  
 डॉ० ए० वी० कॉलेज,  
 चण्डीगढ़,  
 १०-१२ १९७५

# नाम-संक्षेप

## ABBREVIATIONS

अ० स०	=	अलङ्कारसर्वस्व
अथर्व०	=	अथर्ववेद
ईश०	=	ईशोपनिषद्
ऋ०	=	ऋग्वेद
ऐत०	=	ऐतरेयोपनिषद्
औ० वि० च०	=	औचित्यविचारचर्चा
कठ०	=	कठोपनिषद्
का०	=	काव्यादर्श
का० अ०	=	काव्यानुशासन
का० प्र०	=	काव्यप्रकाश
का० भौ०	=	काव्यभौमांसा
कुष०	=	कुवलयानन्द
केन०	=	केनोपनिषद्
छा०	=	छान्दोग्योपनिषद्
तै०	=	तैत्तिरीयोपनिषद्
दृष०	=	दृषन्यालोच
ना० शा०	=	नाट्यशास्त्र
प्र० ह०	=	प्रतापहस्तोप
प्रश्न०	=	प्रश्नोपनिषद्
बृ०	=	बृहदारण्यकोपनिषद्
भा०	=	माण्डूक्योपनिषद्
मु०	=	मुण्डकोपनिषद्
र० ग०	=	रसगंगाधर
ष० जी०	=	षत्रोत्तिजीवित
श्व० वि०	=	श्वत्सुदिवेद
श्वे०	=	श्वेताश्वतरोपनिषद्
मा० ह०	=	मात्स्यदर्पण

## 0.१. उपनिषद्-साहित्य का परिचय

### 0११ वैदिक साहित्य और उपनिषद्

विश्व का प्राचीनतम साहित्य वेद है। वेद के अन्तर्गत अनेक शाखाओं में प्रचलित चार वैदिक संहिताएँ और उन पर लिखे गए व्याख्यात्मक ग्रन्थ, ब्राह्मण माने जाते हैं।<sup>१</sup> ब्राह्मण ग्रन्थों के दो भाग हैं— १ शुद्ध ब्राह्मण, जिनमें वेद-मन्त्रों की व्याख्या तथा कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है। २ आरण्यक, जिनमें दार्शनिक तथा आध्यात्मिक चिन्तन पाया जाता है। इसी चिन्तन का चरमोत्कर्ष आरण्यक ग्रन्थों के उपनिषद्-खण्ड में प्राप्त होता है। प्रत्येक ब्राह्मण के अन्त में आरण्यक परिशिष्ट के रूप में जुड़ा हुआ है तथा प्रत्येक आरण्यक के साधारणतया अन्त में उसका उपनिषद् सम्बद्ध है। सिद्धान्ततः प्रत्येक उपनिषद् का सम्बन्ध किसी न किसी वैदिक शाखा के ब्राह्मण में होना चाहिए।<sup>२</sup> इस प्रकार प्रत्येक शाखा का अपना ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् रहा होगा।

### 0१२ उपनिषद् पद का निर्वचन

उपनिषद् शब्द का साधारण अर्थ है वह विद्या जो गुरु के अत्यन्त निकट बैठ कर सीखी जाती है। इस आधार पर उपनिषद् पद का निर्वचन उप ब्रह्मसामोष्यं नि निश्चयेन सीदति प्राप्नोति यदा सा उपनिषद्— इस प्रकार से किया जा सकता है। ऐतरेय-आरण्यक में भी उप-नि पूर्वक सद् घातु बैठने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

विश्वामित्रं ह्येतदहं शसिष्यन्तमिन्द्र उपनिषसाद<sup>३</sup>।

१ मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदानामधेयम्। (सायस्तम्ब, परिभाषा ३१)

२. एकंश्रुत्यास्तु शाखाया एकंकोपनिषन्मता। (मुनितनोपनिषद्, १-१४)

३ ऐतरेय-आरण्यक, २. २ ३

उपनिषद् यौगिक शब्द है। इसका निर्वचन कई प्रकार से किया जाता है। उपनिषद् शब्द की रचना उप+नि+पद्लृ (सद्) धातु से क्विप् प्रत्यय का योग करने से होती है। पद्लृ धातु के विशरण (विनाश), गति (ज्ञान) और अवसादन (शिथिलीकरण) तीन अर्थ हैं। शंकराचार्य ने भी कठोपनिषद् की भूमिका में उपनिषद् शब्द की निरुक्ति इस प्रकार से की है—सदेर्घातोर्विशरणगत्यवसादमायंस्त्योपनिपूर्वस्य क्विप्-प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति। उपनिषच्छब्देन च व्याचिह्न्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते। ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्ते 'आयुर्वे घृतम्' इत्यादिषत्। उपनिषद् शब्द के निर्वचन के सम्बन्ध में परम्परा से प्राप्त निम्नाद्धृत श्लोक भी प्रसिद्ध हैं—

उपनीय तमात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यत ।  
 निहन्त्यविद्यां तज्ज च तस्मादुपनिषद् भवेत् ॥  
 निहन्त्यनर्थमूलं स्वाविद्यां प्रत्यक्तया परम् ।  
 नपत्यपास्तसमेदमतो वोपनिषद् भवेत् ॥  
 प्रवृत्तिहेतून् निरोपास्तन्मूलोच्छेदकत्वतः ।  
 यतोऽवसादयेद् विद्यां तस्मादुपनिषद् भवेत् ॥

### ०१३ उपनिषदों की सख्या

उपनिषदों की सख्या काल क्रम से धीरे धीरे बढ़ती हुई २०० में ऊपर तक आ पहुँची है। वर्णानुक्रम से अक्षमात्रोपनिषद् से लेकर हरम्बोपनिषद् तक लगभग २२० उपनिषदें प्राप्त हैं। परन्तु प्राचीन वैदिक शाखाओं से निकटतम तथा साक्षात् सम्बन्ध रखने वाली १५-२० उपनिषदें ही उपलब्ध हैं। अन्य उपलब्ध उपनिषदें वस्तुतः अवाचीन साम्प्रदायिक ग्रन्थ हैं। शंकराचार्य ने केवल निम्न १० उपनिषदों पर भाष्य लिखा है— ईश, ऐतरेय, कठ, वेन, छन्दोग्य, तैत्तिरीय, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य तथा बृहदारण्यक। इनके अतिरिक्त शंकर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में श्वेताश्वतर तथा कौपीतकी को भी उद्धृत किया है। प्राचीनता, भाषा, शैली, विषयगठन और उपादेयता के आधार पर ईश, वेन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर ही मुख्य व विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। अनेक विद्वानों ने इन्हीं पर भाष्य किया है, अतः इन्हीं ही सर्वमान्यता और प्रामाणिकता प्राप्त हैं।

## ०१४ उपनिषदों का प्रतिपाद्य

पूर्वपृष्ठों में उल्लिखित उपनिषद् शब्द की सभी व्युत्पत्तियाँ इसी अर्थ की बोधक हैं कि ब्रह्मविद्या तथा मोक्ष, जन्म-मरण अथवा सत्सार के बन्धन अथवा अज्ञान का उच्छेद करने वाली विद्या का नाम उपनिषद् है। अतएव वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत ब्रह्मज्ञान के प्रतिपादक ग्रन्थविशेष उपनिषद् कहलाते हैं। वैदिक वाङ्मय में उपनिषदों का स्थान सबसे अन्त में आता है, अतः इन्हें वेदान्त नाम से भी अभिहित किया जाता है। वेदान्त ही ब्रह्मविद्या है। इसी ब्रह्मविद्या के कारण विश्व में उपनिषदों की प्रतिष्ठा है। प्रस्थानत्रयी में भी उपनिषदों का प्रथम स्थान है। यह अब सर्वमान्य है कि इहलोक व परलोक में सच्चो शान्ति का मार्ग दिखाने वाली अकेली ये ही पुस्तकें हैं। ब्रह्म का स्वरूप, आत्मा का परिचय, परलोक का रहस्य, उपासना की विधि, उपासना द्वारा अभ्युदय तथा निश्चयस की प्राप्ति, सृष्टि का रहस्य, आत्मा और परमात्मा के दर्शन का उपाय, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति—इन सब विषयों का शका-समाधान-सहित विशद विवेचन उपनिषदों में पाया जाता है। पराविद्या और अपराविद्या के साथ कर्मवाद, ज्ञान की गरिमा, एकत्व (अद्वैत) की भावना का विश्ववन्धुत्व की भावना तथा अमृत के रूप में निरूपण<sup>१</sup> और नातात्व की भावना का मृत्यु (विनाश) के रूप में निदर्शन भी उपनिषदों में पाया जाता है। ब्लूमफील्ड के शब्दों में भारतीय चिन्तन का कोई भी रूप ऐसा नहीं, बौद्धधर्म भी नहीं, जो उपनिषदों से निस्सृत न हो।<sup>२</sup>

उपनिषद् एकमात्र दर्शन-ग्रन्थ ही नहीं, इनमें भारतीय सस्कृति के विभिन्न पक्षों, जीवनमूल्यों तथा नैतिक मानदण्डों के भी दर्शन होते हैं। तत्कालीन सामाजिक संगठन, ब्राह्मणादि का स्थान, आश्रम-व्यवस्था तथा नारी की सन्तोषजनक दशा के वर्णन के साथ यज्ञ की विश्व की प्रक्रिया के रूप में एवं श्रेष्ठ कर्म के रूप में व्याख्या—यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म, यतो वै ब्रह्म, यज्ञो वै विष्णु—भी मिलती है। कोरे वेदपाठ, जन्म-

१. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानत ।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥ ( ईश० ७ )

२. *The Religion of the Veda*, p. 51.

गत वर्ण व्यवस्था, हिंसात्मक यज्ञवाद तथा आडम्बरशील जीवन के प्रति उपनिषद्काल में मोह न था और नाहीं तत्कालीन ऋषि पलायनवादी थे, इस प्रकार के त्रान्तिकारी वातावरण की सूचना भी इन ग्रन्थों से मिलती है।

अतएव, उपनिषदों को भारतीय चिन्तन, जीवन, दर्शन, सस्त्रति और सभ्यता का मूल स्वीकार किया जाता है। भारतीय भक्ति पद्धति का मूल रूप भी विवेचकों ने, वैदिक महिताओं और आरण्यकों के पश्चात्, उपनिषदों को ही माना है। वस्तुतः उपनिषद् उत्तरकाल के जो भिन्न भिन्न विचार प्रवाह हैं, उनका उद्गम उपनिषद् ही है।

### ०१५ दर्शन और कविता

वेदों के अनुशीलन से अवगत होता है कि दर्शन और कविता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त से स्पष्ट विदित होता है कि दर्शन और कविता का मगम होता है। इसे शताब्दियों के बाद उपनिषदों के ऋषियों ने देखा और कई प्रयोग भी किए। कविता तथा दर्शन दाना कल्पना की भूमि पर पनपते हैं। अन्तर यह है कि दर्शन की कल्पना को तर्क की कसौटी पर कसा जाता है, कविता के लिए ऐसी वाध्यता नहीं। तर्क की भी कोई ऐसी कसौटी नहीं है, जो सर्वत्र एक-ही काम कर सके। मन्नाट् जनक को आत्मा का स्वरूप समझाने हुए याज्ञवल्क्य ने कहा—

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत । इव च परलोकस्थान च । सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम् । तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने निरुत्थेते उभे स्थाने पश्यतीव च परलोकस्थान च ।<sup>१</sup>

—तथावर्णिन इत पुरुष के दो स्थान हैं—इह (लोक) और परलोक । तीसरा सन्ध्य-स्थान है स्वप्न । उस सन्ध्य स्थान में लडा होकर (बह) इहलोक और परलोक दोनों स्थानों को देखता है ।

यहां लोक और परलोक के बीच सन्ध्य स्थान के रूप में स्वप्न का जा मान्यता दी गई है क्या इसे तर्क द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है ? नहीं। तो इसे दर्शन कहा जाय या कविता ? दर्शन



और कविता के मन्थनपर रचित होने के कारण उपनिषदों को साहित्य की एक नई विधा के रूप में स्वीकृत किया जाना चाहिए ।

आत्मा और ब्रह्म का विषय जितना दर्शन का हो सकता है उतना साहित्य का भी । इसी प्रकार परमानन्द की उपलब्धि तथा शिवेतर की क्षति का विषय भी जितना दर्शन का है उतना काव्य का भी । दर्शनकार अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए बौद्धिक युक्तियों का सहारा लेता है तो साहित्यकार कल्पना एवं मनोवेगों का । उपनिषद्-कार की यह विशेषता है कि वह अपने गहन चिन्तन में प्रभूत गूढ दर्शन को सुन्दर, सुस्पष्ट व आकर्षक बनाने के हेतु उसमें काव्य की पुट भी देता है । वह यथोपलब्ध भाषा में मनानुकूल परिवर्तन करके अभीष्ट सिद्धि करता है । वह कभी शब्दों में नया अर्थ देकर, कभी दो पदों के जोड़ में नया पद बनाकर, कभी विभक्तिविधान, कभी प्रतीक-योजना, कभी रूपक-योजना तो कभी अप्रस्तुत योजना, कभी उपमान विधान और कभी दृष्टान्त-योजना द्वारा दार्शनिक सिद्धान्तों का मार्मिक विवेचन करता है । ज्योतिष् शब्द का सामान्य अर्थ तो भौतिक प्रकाश है, किन्तु ऋग्वेद ३ १० ५ तथा ७ ३३ ८ में बुद्धि अथवा ज्ञान के लिए भी आया है । उपनिषत्कार तम को अज्ञान के अर्थ में ( ईश० ३ ९ ), अज्ञा को प्रकृति ( श्वे० ४ ५ ) जाल को माया ( श्वे० ५ ३ ), हृदय को परमात्मा ( श्वे० ६ १५ ), पुहा को हृदय अथवा आत्मा ( ऋठ० २ २० ), अश्वत्थ को ससार ( कठ० ६ १ ) के अर्थ में प्रयुक्त करके अभिप्राय की सिद्धि करता है । बृहदारण्यक ३ ८ ८ में समस्त-व्यस्त के रूप में मत्र का अत्यधिक प्रयोग करके लौकिक अनुभूति से ब्रह्मानुभूति का पार्थक्य दिखाया गया है—

स होवाच—एतद् तदधर गापि ब्राह्मणा अपि ब्रह्मन्तस्थूलमनण्डपमहूत्सव  
मदीधमसोहितमरुतेहमन्ध्यायमतमोऽवावनाकाशमसगपरसमगन्धमवक्षुक्कमधोत्रमवा-  
गमनोऽजेत्कमप्राणममुखमगात्रमनन्तरमवाह्यम् ।

ये सारे शब्द चिन्तन और भावना की नई दिशा की ओर मकेत करते हैं । इन प्रयोगों को साहित्यिक उपलब्धियों के रूप में स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए ।

## ०१६ उपनिषदों की कला

उपनिषदों का महत्व जितना अविश्वकल रूप से ब्रह्म, जीव और प्रकृति के रहस्य का उदघाटन करने अथवा गूढ आध्यात्मिक दर्शन के कारण है, उतना ही उन तत्त्वों का ऐसी शैली से प्रतिपादन करने में है जिसे उनमें रमणीयता तथा उत्तमता का आधान हो गया है। इस रीति में उन्हें अत्युच्च एवं गहन विचारों को जनसाधारण तथा अपरिपक्व-बुद्धि शिष्यों तक पहुँचाने में आशातीत सफलता मिली है।

ब्रह्म क्या है ? हम क्या हैं ? हम कहाँ से आए ? हमारी स्थिति किसमें है ? हमारा पर्यवसान कहाँ होगा ? इत्यादि रहस्यों के सौन्दर्यपूर्ण उदघाटन के लिए उपनिषदों के चिन्तक कवियों ने काव्य के उपकरणों का अचिन्तित रूप में ही खूब प्रयोग किया है। वे सुगूढ़ में सुगूढ़ दार्शनिक तत्त्वों की प्रभावोद्गम में अभिव्यक्ति के लिए अनजाने में अलङ्कृत भाषा व्यंग्य ध्वनि विरोधाभास तथा आख्यान, संवाद आदि का महज रूप में प्रयोग कर गए हैं।

पर, उपनिषदों का विषय जीवन का गहन रहस्य तथा आध्यात्मिक चिन्तन है। अतः परवर्ती कालिदास भारवि, माघ आदि कवियों के समान इनमें मनावेगों का प्रबल चित्रण नहीं है और न ही इनके काव्य की शैली कृत्रिम तथा आडम्बरपूर्ण है। उपनिषदों का काव्य रहस्यात्मक नैतिक तथा उदात्त विचारों में परिपूर्ण है। ऋषियों के अभिव्यजना-कौशल ने उनकी कृति को काव्यत्व का रूप दे दिया है। जब ऋषि ब्रह्मानुभूति की स्थिति में होता है या सृष्टि के रहस्य को अनुमानना चाहता है, उस समय उसकी कृति में अपने आप काव्य के तत्त्वों का समावेश हो जाता है। छन्द की धारा प्रवाहित होती है, उपमानों की लड़ी बन जाती है, भावानुरूप कोमल ललित पदयोजना हो जाती है। इस प्रकार उपनिषद् के ऋषि की कृति में महज काव्य का दर्शन होने लगता है।

साहित्यशास्त्रों के लिए उपनिषदों की विचार सामग्री भले ही आसर्पण का विषय न हो, परन्तु वह अभिव्यक्ति, वह विद्या जिसमें ऋषि ने अपने गहन चिन्तन को साकार किया, भाषा का वह परिधान जो उसने अपने विचारों का पहनाया, अथवा ही साहित्यिक दृष्टि में महत्वपूर्ण है और परवर्ती साहित्यकारों के लिए प्रेरणा का स्रोत भी।

ऋषियों के इस अभिव्यजन-कौशल में अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, श्रोत्रिय के तत्त्व अन्तर्हित हैं।

हम देखते हैं कि एक ही विचार को व्यक्त करने के लिए उपनिषदों का कवि अपनी अभिव्यक्ति को नानारूप प्रदान करता है। उसकी यह अभिव्यक्ति परवर्ती साहित्यज्ञों की दृष्टि में कभी किसी अलंकार का रूप धारण करती है, कभी रीति, कभी ध्वनि तथा कभी श्रोत्रिय का। जब ऋषि को इस तत्त्व के दर्शन होते हैं कि आत्मा सर्वनियन्ता है, सर्वशासक है, तो उस विचार की अभिव्यक्ति में उपमा अलंकार स्वाभाविक रूप में घुलमिल कर प्रकट होता है तथा ऋषि के विचार को मूर्तरूप प्रदान करता है। जैसे—

अरा इव रपनाभी सहता यत्र नाद्यः ।

स एषोऽन्तरवर्तते बहुधा जायमानः ॥

—मु० २ २ ७

यह उपमा कृत्रिम तथा बाह्य नहीं, अपितु ऋषि के विचार का नैसर्गिक अंग बन गई है जैसे कि विदग्ध रमणी द्वारा प्रयुक्त कुकुम-पीतिका आदि प्रसाधन उसके लावण्य में घुलमिल कर तदाकार हो जाते हैं।

आत्मा सर्वव्यापी है, इस विचार को बोधगम्य बनाने के लिए ऋषि को अभिव्यक्ति में विरोध अलंकार सहज रूप में आकर उसे प्राजल बना देता है—

तदेजति तन्नंनति तद्दूरे तदन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

—ईश० ५

यदि यहाँ ऋषि केवल यही कह देता है कि आत्मा सर्वव्यापी है, तो उसकी वाणी में कोई सौन्दर्य नहीं था। परन्तु ऋषि ने विरोध से उस भाव को कितना आकर्षक रूप दे दिया है—बहु आत्मतत्त्व प्राप्त भी है और दूर भी। इस विरोध में चमत्कार है और इससे आत्मा के सर्वव्यापित्व का रमणीय रूप में जान होता है। इसी प्रकार—

हिरण्यमेव पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

—ईश० १५

में ऋषि उपमेय का उल्लेख न करके श्रोता के मन में कुतूहल उत्पन्न करता है। केवल उपमान (हिरण्यमय पात्र) का ही उल्लेख पाठक को चमत्कृत कर देता है। यह प्रयोग रूपकातिशयोक्ति अलंकार ही तो है।

उपनिषदों के ऋषियों के कुछ अन्य काव्यात्मक प्रयोग भी दर्शनीय हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक  
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽप्यग्नि ।  
तमेव भान्तमनु भानि सर्वं  
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—कठ० ५ १५

उम अक्षय्य ज्योति के सामने सूर्य, चन्द्र, तारक, विद्युत् आदि ज्योनिया नगण्य हैं। इस भाव का यह विलक्षण काव्यमय वर्णन है।

मानव की अन्तरिक्ष में उड़ने की लालसा की पूर्ति के लिए बृहदारण्यक में स्वप्नावस्था का आश्चर्यकारी आश्रय लिया गया है।

प्राणेन रक्षन्नुवरं कुलाय बहिष्कुलायादमृतरवरित्वा ।  
स ईयतेऽमृतो यत्र काम हिरण्मय पुरुष एकहस ॥  
स्वप्नान्त उच्चावचमोदमानो रूपाणि देव कुरते बहूनि ।  
उतेष स्त्रीभि सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥

—बृ० ४ ३ १२ १३

—अचरनीड की रक्षा का भार प्राण को सौंपकर नीड से बाहर विवरता हुआ वह अमृत स्वर्णहस (अमृत आत्मा) जहाँ इच्छा होती है वहीं पहुँच जाता है। स्वप्नावस्था में ऊँचे देवादि और नीचे पशु आदि भावों को प्राप्त होता हुआ आत्मा अनेक रूपों को रच लेता है। तथा स्त्रियों के साथ हर्ष मनाता हुआ सा और मित्रों के साथ हँसता हुआ सा तथा भयों को देखता हुआ प्रतीत होता है।

हम अपनी लम्बी उड़ान के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। वह हिमालय के उम पार में आना है और कुछ माम इधर व्यतीत करने लौट जाता है। स्वप्नकाल में आत्मा की लम्बी उड़ान के लिए इसमें अधिक उपयुक्त उपमान नहीं मिल सकता। ऋग्वेद में हमारी पवित्र उड़ान का वर्णन आया है। पर उपसृत मंत्र में उपनिषद् का अर्थना हम अधिक उपयुक्त और आकर्षक है।

एत उदाहरण साहित्यिक प्रवचन का देगिए—

माह मन्ये सुवेदेति मोम वेदेति वेद च ।  
यो नत्तुदेह ततुदे मोम वेदेति वेद च ॥

—वेन० २. २

—ब्रह्म को भली भाँति जानता हूँ, यह मैं नहीं मानता और न (यही मानता हूँ कि) नहीं जानता हूँ (क्योंकि) जानता भी तो हूँ। हम लोगो में जो उसे जानता है वही उसे (मेरे अतिप्राय को) जानता है कि 'मैं जानता हूँ' और 'नहीं जानता हूँ', ये (दोनों ही) नहीं हैं।

इस प्रकार के कथन का साहस कोई साहित्यिक ही कर सकता है, दार्शनिक की दृष्टि में तो ऐसा कहना बड़ो ध्वाघात होगा। इसी प्रकार का चमत्कारपूर्ण वर्णन विम्ब मत्त म भी है—

यस्यामत्त तस्य मत्त मत्त मत्त न वेद स ।

अविज्ञात विज्ञानता विज्ञातमविज्ञानताम् ॥

—केन० २ ३

जीवन का रहस्य चिन्तकों को अनादि काल से झकझोरता आया है। इस गुत्थी को सुलझाने के लिए कठ के ऋषि ने एक आख्यान का सहारा लिया कि एक युवा ने मृत्यु का ही द्वार जा खट खटाया था। परन्तु रहस्य, रहस्य ही बना रहा। कठोपनिषद् के इस काल्पनिक आख्यान द्वारा कोशलपूर्ण एव आकर्षक जँती में मृत्यु लोभ की यात्रा, यम के प्रनीभन और नचिकेता द्वारा उनके दृढ़ प्रत्याख्यान, तथा सुन्दर उक्तियों के माध्यम में भौतिक पदार्थों की क्षणभंगुरता एव असारता तथा मृत्यु के रहस्य का वर्णन करने का सुन्दर प्रयास है। यह ऋषि की साहित्यिक प्रवृत्ति और रुचि की ओर ही संकेत करता है। ऋग्वेद में भी कुछ ऐसे सूक्त हैं, जिनमें मृष्टि के घवगुठन को सरकाने की इसी प्रकार चेष्टा की गई है।

तैत्तिरीय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में उपनिषद्कारों ने शुष्क दार्शनिक तत्त्वों को अनेक रोचक आख्यानों द्वारा वर्णित करके उन्हें सरम और मजीब रूप प्रदान किया है। सत्यकाम जावास की कथा, उपस्ति-कथा, श्वेतकेतु की कथा, श्वान-कथा, दृप्त वालाकि की कथा उदाहरण रूप में देखी जा सकती है।

उपनिषदों के ऋषि शब्दों की आत्मा से परिचित थे और उन का श्रौचित्यपूर्ण विधि में प्रयोग करने में निपुण भी। देखिए—

श्वीभावा मर्त्यस्य घदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेज ।

अपि सर्वं जीवितमत्पमेव तदंघ्रं याहास्तव नृत्यगते ॥

—कठ० १ २६

इस मन्त्र में श्शोभाया (जो कल तक भी नहीं टिके रह सकते) पद का कितना सुन्दर और उचित प्रयोग हुआ है। ऐसे प्रयोग स्वत ही साहित्यिक काटि में रख जाने के अधिकारी हो गए हैं। इसी प्रकार—

ऋष्वंमूलोऽथावशाख एषोऽश्वत्य मनातन ।

तदेव शुक्र तद्यह्य तदेवामृतमुच्यते ।

तस्मिँस्त्लोका श्रिता सर्वे तदु नात्वेति वञ्चन ॥

—पठ ६ १

इस मन्त्र में सर्वोपरि ब्रह्म व विवेचन में ब्रह्म का ऋष्वं शब्द में तथा समार को अश्वत्य वृक्ष के रूप में और अहकारादि तन्वा का अपकृष्टताद्योतक अथावशाख शब्द में वर्णित किया गया है।

जनमाधारण का जिस प्रकार अपनी ज्ञान समझाई जाय, इस ज्ञान में ऋषि मुगल थे। उन्हें वृक्ष में ब्रह्म व समार के दर्शन हुए। समार ब्रह्म का ही फँसा हुआ रूप है तथा ब्रह्म उसका मूल है। इसे समझाने के लिए उन्होंने उपयुक्त मन्त्र में वृक्ष का उपमान के रूप में ले लिया। जिस प्रकार विश्व में अतिरिक्त प्रतिविम्ब का अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार परमात्मा में अलग अलग कण्ठावच्छिन्न चेतन का कोई अस्तित्व नहीं, इस तन्व का आलकारिक भाषा द्वारा प्रभावपूर्ण रीति में समझाया गया है। इस काव्यमय रीति व अत्रतन्वन में ही दार्शनिक तत्त्वा की हृदयहारिणी अभिव्यक्ति हुई है।

जैसा कि ऊपर मनेन किया गया है, दृश्यमान मृष्टि व अदृश्य यष्टि की मुख्य समस्या का चिन्तन और समाधान ही उपनिषदा का विषय है। इस स्पष्ट करने और तन्वात हृदयगम कराने के लिए ऋषियां न प्राकृतिक दृश्या व गेहिक काय-वस्त्राव के माध्यम में ऐसी साध्यमयी पद्धति को अपनाया है कि अत्यन्त तत्त्व तथा अमूर्त भाव नामने आ खूब प्रतीत होते हैं। ब्रह्मोपनिषद् के ऋषि ने ब्रह्म का किसी यात्री के गन्तव्य स्थान की तरह माना है, जिसकी प्राप्ति के लिए साधक को अन्तः साधना की आवश्यकता होती है। कोई रथी यदि यात्रा कर, तो उसे मारथि, रथ, घोड़े, लगाम आदि अनेक साधन

चाहिए, तभी वह गन्तव्य तक पहुँच सकता है। इस व्यावहारिक ज्ञान का उपयोग ऋषि ने रूपक बाध कर किया है—

आत्मान रश्मि विद्धि शरीर रूपमेव तु ।  
 बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रप्रहमेव च ॥  
 इन्द्रियाणि हृद्यात्प्राहुर्बिषयास्तेषु गोचरान् ।  
 ... .. ॥

—कठ० ३ ३-४

इस रूपकमय दृष्टान्त की प्रेरणा का स्रोत यजुर्वेद का यह मंत्र ही सकता है—

सुषारथिरश्वानिष यन्मनुष्यान्नेनोप्यतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।  
 हृत्प्रतिष्ठ घदञ्जिर जघाठ तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु ॥

—यजु० ३४ ६

एक वृक्ष पर बंठे पक्षियों को ऋषि ने जीव और ब्रह्म के व्यवहार के रूप में देखा और प्रकृति में प्रभावित लौकिक कवि के समान उस दृश्य को चित्रवत् प्रस्तुत कर दिया तथा अन्यथा अगम्य तत्त्व को गम्य भी बना दिया—

द्वा सुपर्णा मयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।  
 तयोरन्यं पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनशनन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

—मु० ३. १ १

जीव अपने कर्मों की समाप्ति पर निर्विकार परमात्मा में मिल जाता है। इस अवस्था में उसका अपना अस्तित्व शेष नहीं रहता, वह ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। इस दार्शनिक विचार को मुण्डक के ऋषि ने नदी के प्रवाह तथा समुद्र की उपमा से प्रस्तुत किया है—

यथा नद्यः स्याद्भ्रमणा समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।  
 तथा विद्वान्नामस्त्वाद्विमुक्तं परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

—मु० ३ २. ८

उपनिषद् के ऋषियों ने ब्रह्म में मृष्टि की उत्पत्ति तथा उसी में ब्रह्म की व्याप्ति को समझाने के लिए, अपने मुख से निकले तन्तुओं का जाल बना कर उसी में अपने को निपटा लेने वाली, मकड़ी के दृष्टान्त से बताना उचित समझा है—

स यथोपानामिस्तन्तुनीच्चरेद्यथाऽग्ने क्षुद्रा विस्फुलिगा व्युत्तरन्त्येव-  
 नेवास्मादात्मन सर्वे प्राणा सर्वे लोका सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि

—वृ० २ १ २०

निम्न मन्त्र में ऋषि ने ब्रह्मरूपी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ब्रह्मजिज्ञासुरूपी लक्ष्यवेधक की कल्पना की है, और उत्तम धनुष व तीक्ष्ण बाणों के साथ वेध-चातुर्य का भी उसी प्रकार के उपमानों में विधान किया है—

धनुर्गृहीत्वौपनिषद् महास्त्र शरं द्युपासानिशितं भवधीतम् ।

आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाशरं सोम्य विद्धि ॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तत्त्वलक्ष्यमुच्यते ।

अप्रमत्तेन वेदव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

—म० २ २ ३-४

यहाँ, रूपक अलंकार की सहायता से, ब्रह्मजिज्ञासु कुशल धनुर्धारी के रूप में मग्न होकर अपने लक्ष्य में रमा हुआ प्रत्यक्ष-सा दीख रहा है।

छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम अध्याय के १२ वे खण्ड में शीव उद्गीथ (श्वान-कथा) में एक बड़ा कटाक्षपूर्ण प्रसंग है। इस कथा का सम्बन्ध भौतिक सम्पत्ति की प्राप्ति के उद्देश्य से मत्रोच्चारण करने से है। इसका अभिप्राय उन मत्रोद्गाताओं का उपहास करना प्रतीत होता है जो किसी न किसी भौतिक पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा से ही मत्रगायन करते थे। यह कथा आधुनिकतम साहित्यिक विधा विद्रूपिका (Parody) का मूल प्रतीत होती है। इस विद्रूपिका के द्वारा ऋषि साहित्यिक शैली में भौतिकता पर आध्यात्मिकता की श्रेष्ठता स्थापित कर रहा है।

उपनिषदों में कविता व प्राण सवेदनशीलता के भी दर्शन होना है। मुडकोपनिषद् सवेदनशील रचना का सुन्दर उदाहरण है।

उपनिषदों के अनेक गद्यात्मक भाग भी ऐसे हैं जो भावप्रवणता की दृष्टि में उच्चकाटि की कविता प्रतीत होते हैं। इनमें, प्रायः पद्य में दृश्यमान भावुकता और उर्वर कल्पना उभर कर आई है। उदाहरण के रूप में निम्न गद्यभाग दर्शनीय है—

असौ वा आदित्यो देवमथु तस्य शीरेव तिरश्चोत्तरोन्तरिस्तमपुषो मत्तौच्य पुत्राः । तस्य ये प्रांचो रश्मयस्ता एवाप्त्य प्राच्यो मधुनाह्य ऋच एव मधुहृत ऋचेद एव पुण्य ता अमृता आपस्ता वा एता ऋच ।



... अयं वेदस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाऽर्घो मज्जूष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्य ता अमृता आप । ... अयं वेदस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाडच सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्य ता अमृता आप । ... अयं वेदस्योदचो रश्मयस्ता एवास्योद्रीच्यो मधुनाडचोऽथर्वागिरस एव मधुकृत-इतिहास-पुराण पुष्य ता अमृता आप । ... अयं वेदस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाडचो गृह्य। एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मं च पुष्य ता अमृता आप । ... अयं तत ऊर्ध्वं उवेत्य नंबोवेता नारतमेतैकत एव मध्ये स्थाता तदेयं श्लोकः ।

न चं तत्र न निम्बोच नोबियाय कवाचन ।

देवास्तेनाह सत्येन मा विराधियि ब्रह्मरोति ॥

न ह वा अस्मा उदेति न निम्बोचति सकृद्देवा हैवास्मं भवति य एतामेव ब्रह्मोपनिषद वेद ।

—छा०, प्रपाठक ३, खण्ड १ से ११ तक

आदित्योपासना का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है— निश्चय से यह सूर्य देवों का मधु है, धी—आदित्यश्लोक—ही तिरछा वश है, मधुछता लगने का स्थान है। अन्तरिक्ष मधु कोश है और किरणें उसके पुत्र (भ्रमरिया) हैं। इनके द्वारा वह मधुसत्त्व करता है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा में फंसी जो किरणें हैं, वे ही इसको मधुनाडिया हैं। चारों वेदों की ऋचाएँ मधुमणिपया हैं, और वेद पुष्य हैं जिनका वे रस सचित करती हैं। ... सूर्य के रक्त, श्वेत, कृष्ण आदि वर्ण ही विभिन्न प्रकार के अमृत हैं, जो देवों के जीवन का आधार हैं।

यहाँ ऋषि ने रूपक के द्वारा आदित्यवर्ण, सवितारूप परमात्मा के आनन्दमय रूप का हृदयावर्जक निरूपण किया है। इस गद्य खण्ड को उच्चकोटि की पद्यमय कविता के समकक्ष माना जा सकता है।

ठीक है कि उपनिषदों में प्रकृति-काव्य (nature poetry) अथवा प्रेम-काव्य नहीं है, अतः इनमें कविता का सत्य और शिव पक्ष ही प्रबल है। मुन्दर का औपनिषदिक विचारधारा के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी नहीं है, न ही वह उपनिषदों के क्षेत्र में इतना घाता है। परन्तु उपनिषदों में प्रकृति तथा मानसिक प्रदेश के उदात्त रूप और लोकोत्तर जगत् का मुन्दर एव विशद वर्णन है, जो इन्हें बरबस ही काव्य की कोटि में ला विठाता है।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि अज्ञात शक्ति का स्पर्श अथवा माधात्कार गूढ दर्शन के द्वारा किया जा सकता है, तो कविता उसमें सहायक है। उपनिषद् इस तथ्य का प्रत्यायक उदाहरण है। इनमें प्रवचन, सवाद, वादविवाद, आख्यान प्रश्नोत्तर, गद्य, पद्य आदि विविध साहित्यिक विधाओं का यथावसर उपयोग किया गया है। भाव की सुन्दर एवं सुस्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए वाद में उपमा, दृष्टान्त, रूपक, अतिशयोक्ति आदि अलंकार कहे जाने वाले तथा गुण, रीति, ध्वनि, औचित्य आदि नामों में अभिहित काव्य के तत्त्वों का भी उनमें समावेश है। इस प्रकार काव्य के प्रायः सभी उपकरण उपनिषदों में दृष्टिगोचर होते हैं, चाहे सर्वथा उस रूप में नहीं जो शक्तियों वाद लक्षणग्रन्थों में निर्धारित हुए।

उपनिषद्कारों की वाणी में जो तथाकथित अलंकार, माधुर्य आदि गुण आज हमें दिखाई देते हैं वे तो ऋषि की केवल अभिव्यक्ति की विधाएँ हैं जो उनके गहन विचारों को सरलता तथा सुन्दरता में पाठकों के हृदय में उतार देती हैं। इन विधाओं के प्रयोग से उसकी अभिव्यक्ति न केवल सरल व सरस हुई है, अपितु उसमें शक्तिमत्ता तथा प्रभावशालिता भी आ गई है। जब ऋषि के सामने कोई दार्शनिक गमन्या आती है, वह ब्रह्माण्ड के रहस्य का मूलज्ञान चाहता है, तब बिना प्रयास के ही और अनजान में ही उसकी वाणी में अलंकार उभरने लगते हैं। ये अलंकार उसके विचार का विशद करते हैं, उसके अनुकूल होते हैं और उसके दार्शनिक चिन्तन की धारा के साथ मिल कर प्रवाहित हो जाते हैं। जब ऋषि का मस्तिष्क किसी गहन विचार में समाप्त हो जाता है, तब उसकी अभिव्यक्ति भी प्रबल हो उठती है और वह साहित्यिक रूप धारण कर वह निकलती है।

इस प्रकार उपनिषद् महज काव्य है, वृत्तिमत्ता का उसमें लेश भी नहीं। अलंकार, गुण, रीति आदि सभी ऋषि की अभिव्यक्ति का प्रयोजित उपकरण बने हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में इसी दृष्टि में उपनिषदों का तथ्य के तत्त्वों के आधार पर अध्ययन किया गया है।

## ०.२. काव्य के तत्त्व

### ० २.१. विषय-प्रवेश

काव्य का प्रभाव मीधा हृदय पर भिन्न-भिन्न रूप में पड़ता है। अतः इसका निष्कृष्ट लक्षण परिभाषित करना साहित्यशास्त्र के आचार्यों के लिए मदा ही कठिन रहा है। काव्य के दो प्रमुख तत्त्व हैं— (१) अनुभूति और (२) उसके सम्प्रेषण का माध्यम—शब्द और अर्थ अर्थात् भाषा। आचार्य भट्टतांत जब कहते हैं दर्शनार्थ वर्णनाच्चाय रुदा लोके कविभूति<sup>१</sup>, तब वे दर्शन तथा वर्णन के नाम से काव्य के उपर्युक्त दोनों तत्त्वों का निर्देश करते हैं। कवि को ऋषि कहा गया है। ऋषि उसे कहते हैं जिसमें दर्शन शक्ति हो, जो मत्तो का द्रष्टा हो, तथा कवि वह है जो कान्तदर्शी हो। कवि भी ऋषि है जो मत्तो का न सही, म्यावर जगम जगत् का सूक्ष्म दर्शन तो करता ही है। जिस कवि में जितनी अधिक दर्शनशक्ति होती है, उतना ही वह काव्य में अपने लोकदर्शन को उपनिबद्ध करने में सफल होता है। दर्शन के रूप में काव्य के अनुभूतिपक्ष का महत्त्व द्योतित करते हुए भट्टतांत कहते हैं—नानुपि, कविरिस्तुन्नत ऋषिश्च किल दर्शनात्<sup>२</sup>। परन्तु दर्शनशक्ति होने पर भी यदि कवि में अपने दर्शन को अभिव्यक्ति देने की क्षमता नहीं है, तब उसका दर्शन अनुर्वर भूमि में पड़े बीज के समान अस्फुटित ही रहेगा। अतः दर्शन को वर्णन की भी नितान्त अपेक्षा है। अतएव कवि के दर्शनपक्ष का महत्त्व प्रोद्घोषित करने के बाद भट्टतांत नोबिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना<sup>३</sup>, यह कहकर अभिव्यक्ति के महत्त्व पर भी बल देते हैं। अनाविल दर्शन जब सफलतापूर्वक अभिव्यक्त होता है, उन्ही समय मन्दर काव्य की मृष्टि होती है।

इस दृष्टि से काव्य की कोई भी परिभाषा किसी भी युग तथा देश में उपनिबद्ध की जाए, उसमें काव्य के इन्हीं दो प्रमुख तत्त्वों का

१. भट्टतांत 'उद्घुत हेमचन्द्र, वाग्भ्यानुशासन, पृ० ४३२, दम्बई १९३८

२. वही

३. वही

समावेश रहेगा। फिर भी काव्य के लक्षण में एकरूपता देखने में नहीं आती। इसका कारण है कि कुछ आचार्य काव्य में अनुभूति को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं तथा अन्य उम अनुभूति के सम्प्रेषण के माध्यम, अभिव्यक्ति प्रकार को। इस प्रकार काव्य का लक्षण परिभाषित करते समय आचार्यों में न कवन मतभेद ही रहा है, अपितु उम मतभेद के आधार पर काव्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों का भी जन्म हुआ है। रम, औचित्य, अलंकार गुण, रीति, छवि, वक्रोक्ति आदि सिद्धान्त वास्तव में आचार्यों के एसे दृष्टिकोण हैं, जिनके द्वारा उन्होंने काव्य के कभी अनुभूतितत्त्व तथा कभी अभिव्यक्तितत्त्व को प्रोद्घाटित किया है। प्राक्तन आचार्य भरत मुनि में प्रारम्भ करके नव्य आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ पर्यन्त काव्यस्वरूप के चिन्तन की धारा अविग्न गति में प्रवाहित होती रही है, और अपने युग तथा देश की आवश्यकतानुसार आचार्यों ने काव्यतत्त्व के भूस्थान के लिए विविध मापदण्ड प्रस्तुत किए हैं।

सर्वप्रथम आचार्य भरत ने यह समाद श्रुते ऋषिबर्षं प्रवर्तते<sup>१</sup> कहकर काव्य में अनुभूति के महत्त्व को रेखांकित किया और फिर आचार्य भामह ने कथाभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलकृति<sup>२</sup> कहकर अभिव्यक्ति का टिण्डिमनाद किया कि काव्य में कथ्य की अपेक्षा श्यन-प्रकार = भणितिवंचित्य का अत्रिक महत्त्व है। अपने मन्तव्य का पुनर्गमन करने हुए वे फिर कहते हैं—

संपा सर्वत्र यथोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।

यथोत्पत्तौ कविना कार्यं कोऽनकारोऽनया विना ॥<sup>३</sup>

कुछ भी हा उपर्युक्त विवेचन में यह ता स्पष्ट है कि मन्त्र के काव्यशास्त्रियों ने काव्य के मौखिक तत्त्वा पर व्यापक तथा गहन दृष्टि में विचार किया है। कभी आचार्य काव्य के उपादानभूत शब्द तथा

१. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, पृ० ६२, बाध्यमाना ४२, १९४१

२. भामह, वाचानकार, १. १६

३. वही, २. ८५

अर्थ से काव्य के लक्षण को प्रारम्भ करते हैं। परन्तु इनमें कौन प्रधान है, कौन गौण है, या दोनों ही प्रधान हैं, इस विषय को लेकर उनमें मतभेद उत्पन्न हो जाता है। दण्डी तथा पण्डितराज जगन्नाथ जैसे प्राचार्य शरीर तावद्विष्यायं व्यञ्जिन्ना पदावली<sup>१</sup> तथा रमणोपायप्रतिपादक शब्दः काव्यम्<sup>२</sup> कहकर काव्य में शब्दतत्त्व अर्थात् अभिव्यजन को प्राधान्य देते हैं तथा भामह शब्दार्थो<sup>३</sup> सहितौ काव्यम्<sup>४</sup> और मम्मट तदवयो शब्दार्थो<sup>५</sup> सगुणावनलकृती पुन श्वापि<sup>६</sup> कहकर शब्द तथा अर्थ अर्थात् अभिव्यक्ति तथा अनुभूति दोनों को काव्य में महत्त्वपूर्ण समझते हैं। इस प्रकार सस्कृत-काव्यशास्त्र में शब्दप्राधान्यवाद तथा शब्दार्थो भयप्राधान्यवाद का प्रचलन हुआ। इन्हीं के आधार पर काव्य के भिन्न भिन्न लक्षण उपनिबद्ध किए गए।

काव्य के लक्षण में चाहे शब्दप्रधान हो या शब्द और अर्थ दोनों, परन्तु शब्द तथा अर्थ में जब तक वैशिष्ट्य या विलक्षणता का समावेश नहीं होता तब तक उन्हें काव्य की सजा से अभिहित नहीं किया जा सकता। काव्य के उपादानभूत शब्दार्थ के वैशिष्ट्य के विवेचन में ही अनेक सिद्धान्तों का जन्म हुआ, जिनके आधार पर आचार्या ने अपनी अपनी दृष्टि से शब्दार्थ की इस विशिष्टता का विवेचन करते हुए काव्य में अनुभूतितत्त्व या अभिव्यक्तितत्त्व का विश्लेषण किया।

## ०२२. काव्य सिद्धान्तों का मूल

रुप्यक के अलंकारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने अपनी विवृतिटीका में शब्दार्थ के वैशिष्ट्य के आधायक तत्त्वों का विवेचन करके उनके आधार पर काव्यशास्त्र के प्रचलित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।<sup>७</sup> शब्दार्थ का साहित्य काव्य है। परन्तु यह साहित्य विशिष्ट

१. दण्डी, काव्यादर्श, १. १०

२. जगन्नाथ, रसगणधर, १. १

३. भामह, काव्यालंकार, १. १६

४. मम्मट, काव्यप्रकाश, १. ४

५. इह विशिष्टौ शब्दार्थो काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुत्प्रेतव्यं व्यापार-मुत्प्रेतव्यं व्यञ्जमुत्प्रेतव्यं वेति त्रयं पक्षाः। आलोच्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयोऽपि भगिनिर्विविच्येण भोगकुरवेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षोपस्थात् उद्भूटादिभिरपीकृताः, द्वितीयो धामनेन, तृतीयो बक्रोक्तिर्जीवितकारेण, चतुर्थो मृदनापकेन, पंचम आनन्दवर्धनेन।

(समुद्रबन्ध, विवृतिटीका [वि० स० सी०], पृ० ४)

होना चाहिए। शब्दार्थ का यह विशिष्ट साहित्य ही काव्य को काव्येतर साहित्य से विभिन्न करता है। अतः समुद्रबन्ध ने सर्वप्रथम तो इह विशिष्टी शब्दाद्यौ काव्यम कहकर विशिष्ट शब्दार्थ को काव्य कहा, विशेषताविहीन शब्दार्थ को काव्य नहीं माना और, जिस विशेषता से शब्दार्थ काव्य बनते हैं, उसे तीन प्रकार से (१) धर्म (२) व्यापार और (३) व्यंग्य द्वारा प्रतिपादित किया। समुद्रबन्ध का आशय है कि शब्द अथ यदि धर्मो है तो कुछ धर्म ऐसे होते हैं जो उन्हें विशिष्ट बना देते हैं। सभी मनुष्य समान होते हैं परन्तु शौर्य, श्रीदार्य आदि धर्म उन्हें विशिष्ट बना देते हैं, जिनके कारण वे दूसरों से विलक्षण हो जाते हैं। इसी प्रकार कुछ धर्मों के कारण शब्दार्थ विशिष्ट होकर काव्य बन जाते हैं। वे धर्म दो प्रकार के हैं—(१) अलंकार और (२) गुण। भामह उद्भट, दण्डी प्रभृति आचार्य अलंकारों को शब्दाद्य की विशेषता के आधायक धर्म मानकर उनसे विशिष्ट शब्दार्थ का काव्य मानते हैं। अतः ये अलंकारवादी आचार्य हैं, क्योंकि इनकी दृष्टि में अनुप्रास आदि शब्दालंकार तथा उपमा आदि अर्थालंकार शब्दाद्य के आधायक धर्म हैं। आचार्य वामन ने अलंकारों की अपेक्षा माधुर्य, आज, प्रसाद आदि गुणों को शब्दाद्य के विशिष्ट्य या आधायक धर्म स्वीकार किया तथा गुणविशिष्ट रचना का काव्य का परमतत्त्व अंगीकार किया। यही रीति सिद्धान्त के प्रवर्तक हुए। इनकी दृष्टि में शब्दाद्य का विशिष्ट्य इतना अलंकारों से नहीं, जितना गुणों से है। इसका वाद भट्टनायक तथा कुन्तक जैन आचार्यों ने अलंकार गुण रूप धर्मों से अतिरिक्त व्यापार को शब्दाद्य की विशेषता का आधायक तत्त्व प्रतिपादित किया। कुन्तक की दृष्टि में यह व्यापार कवि का है, जिसमें उन्होंने कहा है। 'कवि अपने भणिति चंचित्त्य में शब्दाद्य का विशिष्ट बनाता है। यह कवि व्यापार का ही प्रभाव है जिससे शब्दाद्य पहिले साधारण प्रतीत होते थे, वे ही कवि व्यापार से विशिष्ट होकर महदया का चमत्कृत बन लगे हैं।

यानेष शब्दान् वपमालपाम, यानेष चार्थान् वयमृत्सिषाम ।

तरेव विद्यासविरागमय्यं समोहयते वचसो जगति ॥<sup>१</sup>

१ कविव्यापारवचनप्रकारा संभवन्ति यतः ।

(कुन्तक, यत्रोक्तिबीजित, १. १८)

२ नीलकण्ठीगीत, शिवसीमार्जव, १. १३

कवि की वाणी में वक्रता रहती है, उसके कथन-प्रकार में वैचित्र्य होता है। कवि की वाणी की यह वक्रता ही बक्रोक्ति है। यह वेदगध्यभंगी भणिति है। कुन्तक की दृष्टि से यह काव्य की आत्मा है। जो वात वक्रता में रहित है, वह साधारण वात है, काव्य नहीं—  
वातमिना प्रवक्षते।<sup>१</sup> जो कथन वक्रता से युक्त है वही काव्य है।

शब्दार्थो संहितौ वक्रकविव्यापारशान्तिः ।  
बन्धे ध्वनिस्थितौ काव्ये तद्विदाह्लादकारिणि ॥<sup>२</sup>  
यद्वक्रं वच सास्त्रे लोके च वच एव तत् ।  
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ॥<sup>३</sup>

जहाँ कुन्तक ने कवि की दृष्टि से काव्य में वक्र-व्यापार का प्राधान्य सिद्ध कर बक्रोक्ति नामक नए सिद्धान्त को जन्म दिया, वहाँ भट्टनायक ने भोगीकृत व्यापार को काव्य में प्रधानता देकर रसिक की दृष्टि में शब्दार्थ के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया।

द्वयोरुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगोभवेत् ।<sup>४</sup>

इस भोगीकृत व्यापार के रूप में भट्टनायक ने काव्यशास्त्र में रस की प्रतिष्ठा की, जिसका निर्देश पहिले आचार्य भरत कर ही चुके थे। भट्टनायक ने कहा—

अभिधा भावना चान्या तदभोगीकृतमेव च ।  
अभिधाधामता याते शब्दार्थलिङ्गनी तत ॥  
भावनाभाव्य एयोऽपि शृंगारादिगणो मतः ।  
तदभोगीकृतरूपेण ध्याप्यते सिद्धिमान् मर ॥<sup>५</sup>

१. नामह, काव्यालंकार, २. ८७

२. कुन्तक, बक्रोक्तिजीवित, १. ७

३. भोज, शृंगारप्रकाश, प्र० भा०, अध्याय ६, पृ० ४२६

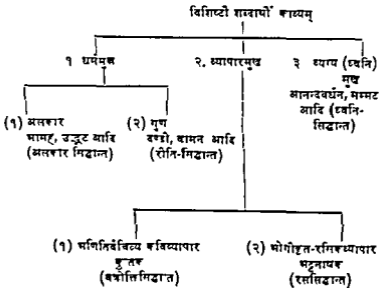
४. भट्टनायक . उद्धृत, ध्वन्यालोक-सोचन, पृ० १६१, ( कु० स्वा० रि० ६० )

५. भट्टनायक : उद्धृत, हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, टिप्पण, पृ० ६३-६७

इस भोगीकृत व्यापार को प्रधानता देकर भट्टनायक ने सहृदय की रमास्वादशक्ति पर बल दिया और काव्य के अनुभूतिपक्ष का परिपोष किया।

समुद्रबन्ध की दृष्टि में अन्तिम पक्ष व्यंग्य का है। ध्वनिवादी आचार्य काव्य में व्यंग्य को महत्त्व देते हैं। व्यंग्यार्थ के प्राधान्य पर ध्वनि होनी है और ध्वनि ही उत्तम काव्य है। वाच्यार्थ साधारण होता है। व्यंग्यार्थ रमणीय एवं सहृदयहृदयकवेद्य है। काव्य में उसी की ही परम प्रतिष्ठा होनी चाहिए। इस पक्ष में अभिव्यक्ति तथा अनुभूति दोनों का समन्वय है, क्योंकि व्यजित होने पर ही रस रम है। यदि रस की व्यजना न हुई तो, उसकी अनुभूति नहीं होती। ध्वनि ही रस का प्राण है। सुन्दर अभिव्यक्ति ही अनुभूति का सम्प्रेषण करती है। अभिव्यक्ति = व्यजना वाक् है, ता रस अर्थ है। व्यजना और रस, अभिव्यक्ति तथा अनुभूति दोनों ध्वनिमिद्धान्त में अर्धनारीश्वर के समान सम्पृक्त होते हैं। अतः ध्वनिमिद्धान्त को सर्वोत्तम मिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

समुद्रबन्ध के इस विवचन का निम्नलिखित तालिका में स्पष्ट किया जा सकता है—





## ०२३ अलंकार-सिद्धान्त

प्रसिद्ध कोशनिर्माता अमरसिंह ने अलम् के चार अर्थ दिए हैं— भूषण, पर्याप्ति, शक्ति, वारण ( अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारण-वाचकम् ) । इनमें भूषणार्थक अलम् + √कृ के साथ भाव या करण के अर्थ में घञ् भावकरणणो सूत्र से घञ् प्रत्यय के याग में अलंकार शब्द निष्पन्न होता है । भाव में घञ् करने से अलंकार का अर्थ है अलंकारवृत्ति = मौन्दर्य । जैसाकि अलंकार का प्रयोग करते हुए वामन न कहा है—सौन्दर्यमलंकार । यह अलंकार का व्यापक अर्थ है जिसकी परिधि में काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है, क्योंकि ये सभी तत्त्व काव्य का सौन्दर्य हैं । परन्तु जब करण के अर्थ में घञ् प्रत्यय का प्रयोग होता है, तब अलंकार से उपमा आदि प्रसिद्ध अलंकारों का ग्रहण होता है । जो काव्य की सुन्दरता में भाग्य है, वे अलंकार हैं । उपमा आदि का अलंकार नाम सार्थक है, क्योंकि ये शब्दार्थ के मौन्दर्य का साधन हैं ।

सर्वप्रथम भामह ने—

रूपकादिरलंकारस्तयान्यंबहुधोदित ।

न कान्तमपि निर्भूय विभक्ति वनितामुद्यम ॥'

वहकर काव्य में अलंकारों के महत्त्व को प्रतिष्ठित किया । अलंकार-वादी आचार्यों ने अलंकारहीन कविता को विधवा कहा है । जिस प्रकार सुन्दर होने पर भी रमणी का मुख तिलक, कुण्डल आदि अलंकारों के बिना आकर्षक नहीं होता, उसी प्रकार शब्दार्थ भी अलंकारों के बिना काव्य नहीं बनते । इन अलंकारों की जननी है वक्रता या अतिशयोक्ति । गोरपत्न्य इतीवर्दत्तुगान्यति मुखेन स. आदि वाक्य काव्य नहीं हैं, क्योंकि इनमें कथन की वक्रता न होने के कारण कोई अलंकार नहीं है । इस सन्दर्भ में भोजराज के विषय में कथा प्रचलित है कि उन्होंने भूखे ब्राह्मणों को—

भोजन देहि राजेन्द्र, घृतसूपसमन्वितम् यह वचन कहने पर भोजन तो दे दिया, परन्तु उनकी इस छन्दोबद्ध रचना पर उन्हें पारितोषिक

१. का० मू० १. १. २

२. भामह, वाचस्पत्यकर, १. १३

नहीं दिया। परन्तु जब उन्होंने अपने अपूर्ण पद्य की पूर्ति करते हुए कहा—

साहित्यं च शरच्चन्द्रचन्द्रिकावत्तदधि ।

तब उनकी पद्ययोजना पर प्रसन्न होकर भोजराज ने उन्हें प्रभूत पुग्म्कार दिया।

पहिला पद्यग्रन्थ वक्रता से रहित, अलंकारविहीन था और दूसरा अनुप्रासोपमा में भण्डित होकर आकर्षक बन गया था। पहिला कथन साधारण था, परन्तु दूसरा अलंकारों से युक्त होकर विशिष्ट बन गया था। पहिला काव्य नहीं था, दूसरे में अलंकारों के योग से काव्यत्व आ गया था।

अलंकारों के महत्त्व का स्पष्ट करते हुए अग्रजी साहित्य के आलोचक वेन न कहा है—

A figure of speech is a deviation from the plain and ordinary mode of speaking for the sake of greater effect, it is an unusual form of speech.<sup>१</sup>

भामहृ जा अलंकारतत्र के प्रजापति के पद में अभिहित हुए, के बाद उद्भट रुद्रट प्रतिहारन्दुराज अण्णयदीक्षित आदि आचार्यों ने अलंकारों का विवेचन किया। इनमें जयदेव तो अलंकारों के इतने समर्थन हुए कि उन्होंने अलंकारों का काव्य में महत्त्व न देने वाले मम्मट पर कटाक्ष करने हुए कहा—

अगोचरोति य काव्य शब्दार्थावनलहृती ।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलहृती ॥<sup>२</sup>

काव्यशास्त्र के प्रारम्भ के युग में आचार्यों की दृष्टि काव्य के स्थूल पक्ष पर ही अधिक थी। अतः अलंकारों का महत्त्व स्वाभाविक

१ Bain *Rhetoric and Composition*, 1

(As Quoted by Dr V Raghavan in *Some Concepts of Sanskrit Grammar*, p 50)

२. जयदेव, चन्द्रमौक्त, १. ८

था। परन्तु बाद में जब रस, ध्वनि आदि सिद्धान्तों का, जो काव्य के अन्तरंग को प्रोद्घाटित करते थे, महत्त्व बढ़ा, तब भी अलंकारों की उपेक्षा न हो सकी। रस और ध्वनि सिद्धान्त में उपलक्षण के रूप में अलंकारों को स्वीकार किया गया है और उनका स्वरूप इस प्रकार निर्धारित हुआ है—

उपकुर्वन्ति त सन्त धेऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।

हारादियद्वलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय ॥<sup>१</sup>

ऋग्वेद से प्रारम्भ करके अब तक के साहित्य में अलंकारों का प्रयोग बराबर होता आ रहा है। वैदिक ऋषि तो लक्षणग्रन्था से परिचित नहीं थे, फिर भी उन्होंने स्वाभाविक रूप से अलंकारों का प्रयोग किया है। वैदिक साहित्य में प्रायः बहुत से अलंकार उपलब्ध हैं, जिनके लक्षण परवर्ती साहित्यशास्त्रियों ने अपने अलंकार-ग्रन्थों में उपनिबद्ध किए हैं। इसमें अलंकारों की व्यापकता तथा सर्वजनप्रियता प्रकट होती है। अलंकारों के प्रयोग का महत्त्व प्रकट करते हुए ठीक ही कहा गया है—

बिनोत्कर्षापहर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित् ।

तदर्थमेव ऋषयोऽलंकारान् पर्युपासते ॥<sup>२</sup>

### ०२४ गुण

भरत मुनि ने प्रारम्भ कर पण्डितराज जगन्नाथ पर्यन्त साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने गुणों की चर्चा की है और काव्य में उनके महत्त्व को स्वीकार किया है। परन्तु काव्यस्थानीय गुणों का कौन आश्रय है, इनका क्या विषय है, इनका स्वरूप क्या है, इनकी मध्या कितनी है, इस विषय को लेकर उनमें मतभेद है।

सर्वप्रथम भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में दस गुणों का उल्लेख किया—

स्तेषु प्रसाद सनता समाधिर्माधुर्यमोत्र पवसोऽनुप्रायम् ।

अर्थस्य ध्वनितरुदारता च वान्तिश्च वाक्यार्थगुणा वरीते ॥<sup>३</sup>

१. मम्मट, काव्यप्रकाश, पृ. ६०

२. उद्धृत महिममट्ट, व्यक्ति विवेक, पृ. २१८, चौखम्बा, बनारस, १९३६

३. भरत, नाट्यशास्त्र, १६. ६७

भामहाचार्य ने तीन गुण माने—

माधुर्यमभिवाञ्छन्त प्रसाद च सुमेधसः ।  
समासवन्ति भ्रूयासि न पदानि प्रयुजते ॥  
केचिदोजोऽभिधित्सन्त समस्यन्ति बह्व्यपि ।<sup>१</sup>

दण्डी ने दस गुण स्वीकार किए—

श्लेष प्रसाद समता माधुर्यं सुकुमारता ।  
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्तिसमाधय ॥  
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणा स्मृता ।<sup>२</sup>

वामन ने दोम गुण स्वीकार किए—दम शब्दगुण तथा दम अर्थगुण । उमने शब्दगुण तथा अर्थगुण दोनों के समान नाम रखे—

ओज प्रसाद श्लेष-समता-समाधि माधुर्यं सौकुमार्य-उदारता-अर्थव्यक्ति-  
कान्तयो बन्धगुणा । त एवार्थगुणा ।<sup>३</sup>

रुद्रट न अपने काव्यालंकार में वाक्य की पदगुणना के सौन्दर्य को लेकर गुणा का विवेचन किया है—

रचनाचारुत्वे ष्णु शब्दगुणा सनिवेशचारुत्वम् ।  
सर्वाल्युबेवै तदपविनरसकटंघ मुने ॥<sup>४</sup>

परन्तु रुद्रट ने गुणों की भरपूर के विषय में कोई स्पष्ट मत नहीं दिया है ।

रुद्रट के टीकानार नमिमाधु ने पाच शब्दगुणों और चार अर्थ-गुणों का उल्लेख किया है—

शब्दाय हि वश्रोक्त्यादय पञ्च गुणा । अर्थस्य पुनर्गुणा. वास्तवादपरस्यत्वार. ।<sup>५</sup>

१. भामह, काव्यालंकार, २. १-२

२. दण्डी, काव्यादर्श १. ४१-४२

३. वामन, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३. २. १

४. रुद्रट, काव्यालंकार, २. १०

५. नमिमाधुटिप्पण—काव्यालंकार, ११. ३६ (काव्यमाला-२)

नमिसाधु के ये गुण द्रष्ट द्वारा विवेचित जब्दालकारों के पाच वर्ग तथा अर्थलिकारों के चार वर्ग हैं। इससे प्रतीत होता है कि नमिसाधु अलकारों का अन्तर्भाव गुणों में करना चाहते हैं।

भोजराज ने अलग-अलग, शब्द और अर्थ गुणों की मध्या दम में बढ़ाकर चौबीस कर दी। उन्होंने गुणों के तीन वर्ग बनाए—  
(१) बाह्य—शब्दगुण (२) आभ्यन्तर—अर्थगुण (३) वैशेषिक—  
दोषों की गुणस्थिति। इनमें प्रत्येक की मध्या २४ है—

त्रिविधाराच गुणाः काव्ये भवन्ति ऋषिसम्भवा ।  
बाह्याभ्यन्तराश्चैव ये च वैशेषिका इति ॥  
बाह्या शब्दगुणास्तेषु चान्तरास्त्वर्थसंभवा ।  
वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणा ॥  
ते तावदभिधीयन्ते नामलक्षणयोगतः ।  
श्लेष प्रसाद समता माधुर्यं सुकुमारता ॥  
अर्धव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता ।  
ओजस्त्वथान्यदौचित्यं प्रेयानथ मुशान्वता ॥  
तद्वत्समाधि सौख्यं च गाम्भीर्यमपि विस्तरः ।  
संक्षेप समितत्व च भाविकत्व गतिस्तथा ॥  
रोतिरक्तिस्तथा प्रौढिरर्थथा लक्ष्यलक्षणे ॥<sup>१</sup>

भोज के गुण-विवेचन से स्पष्ट है कि उनके बाह्य, आभ्यन्तर गुणों के नाम वही पुराने हैं, परन्तु उन्होंने उनकी परिभाषा भिन्न दी है। उनके वैशेषिक वर्ग के अन्तर्गत गुणों के नाम भिन्न ह।

भोजराज से पूर्व आचार्य कृन्तक ने बन्धोक्तिजीवित में तीन मार्ग और दम गुणों का विवेचन किया है। उनके तीन मार्ग हैं—  
सुकुमार, वैचित्र्य और मध्यम, और उनके गुण दम ह। उन्होंने प्रसाद, माधुर्य, स्तव्य, अतिमजात्य, अज्ञान्य, गुणों, ओ, अज्ञान्य, के

१. भोजराज, सरस्वतीकण्ठाभरण १. ६०-६५

२. असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम् ।

माधुर्यं ... ..

स्वभावमसृग्च्छापमाभिजात्य प्रचक्षते ।

सुकुमार तथा विचित्र मार्गों में अलग-अलग माना है। इस प्रकार इनके नाम यद्यपि समान हैं, परन्तु इनका स्वरूप सुकुमार तथा विचित्र मार्ग में भिन्न-भिन्न होने में इनकी सख्या आठ हो जाती है, चार सुकुमार मार्गों के गुण तथा चार विचित्र मार्गों के। इनके अतिरिक्त औचित्य और सौभाग्य दो और गुण हैं। इस प्रकार इनकी सख्या १० हो जाती है।

अग्निपुराणकार ने १९ गुण स्वीकार किए। पहिले उन्होंने सामान्य तथा वैशेषिक के नाम में गुणों को दो भागों में विभक्त किया। तदनन्तर उन्होंने सात शब्दों के गुण, छ अर्थों के तथा छ शब्दों तथा अर्थों दोनों के गुण प्रतिपादित किए—

सम्भवत्येष सामान्यो वैशेषिक इति द्विधा ।  
 सर्वसाधारणीभूत सामान्य इति मन्यते ।  
 शब्दमर्थभूभौ प्राप्त्त सामान्यो भवति त्रिधा ।  
 शब्दमाश्रयते काव्य शरीर य स तदगुण ।  
 श्लेषो लालित्यगाम्भीर्यतीकुमार्यमुदारता ।  
 सत्येव योगिकी चेति गुणा शब्दस्य सप्तधा ।  
 माधुर्यं सविधानं च कोमलत्वमुदारता ।  
 प्रीति सामयिकत्य च तद्भेदा पदं चकाशति ।  
 शब्दार्थावुपकुर्वाणो नाम्नोमपगुण स्मृत ॥  
 तस्य प्रसाद सौभाग्य यथासत्य प्रशस्तता ।  
 पाकी राग इति प्राज्ञं पट्प्रपञ्चविचिता ॥'

आनन्दवर्धन में प्रारम्भ कर मम्मट, विश्वनाथ आदि ध्वनि-मार्गानुयायी नव्य आचार्यों ने माधुर्य, प्रीति, प्रसाद तीन ही गुण स्वीकार किए—

गुणा माधुर्यप्रीतिप्रसाद इति ते त्रिधा ² ।

वाद में चलकर ये तीन ही गुण स्वीकृत हुए।

गुणों के इस इतिहास-प्रदर्शन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि गुणों के विषय में आचार्यों की दृष्टि धारणा निश्चित है। दण्डी,

१ अग्निपुराण, ३४६. ३-२०

२. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ८. १

वामन आदि प्राच्य आचार्य गुणो को शब्दार्थ का धर्म मानते हैं तथा आनन्दवर्धन प्रभृति ध्वनिवादी आचार्य गुणो को रस का धर्म स्थिर करते हैं। जैसे दण्डी गुणो के विषय में कहते हैं—

कारिचन्मार्गविभागायमुक्ता प्राग्व्यतन्विया १

यहां उन्होंने गुणो को अलंकाररूप कहा है। उपमा, रूपकादि काव्य के सामान्य अलंकार हैं तथा माधुर्य, अोज आदि विशिष्ट अलंकार हैं। जैसे अलंकार काव्य की शोभा करते हैं वैसे ही गुण भी। परन्तु गुण काव्य की मौलिक शोभा हैं, और अलंकार उस शोभा की वृद्धि करते हैं। वामनाचार्य भी गुणो के विषय में कहते हैं—

काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा ।

तदतिराप्रहेतवस्त्वलंकारा १

अग्निपुराणकार भी गुण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

य काव्ये महतीं द्यावामनुगुह्यात्यसौ गुण १

माद्याचार्य भरत गुण के स्वरूप को तो विशद नहीं करते, परन्तु वे गुण को दोष का विपर्यय मानते हैं—

एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिताः ।

गुणा विपर्ययादेया माधुर्योदायंतक्षणा ॥

क्योंकि भरत मुनि ने वागभिनय के प्रसंग में गुणो का विवेचन किया है, इससे अनुमान होता है कि उनकी दृष्टि में गुण शब्द-अर्थ के धर्म हैं। उन्होंने गुणो के जो लक्षण दिए हैं, उनसे भी गुणो की शब्दार्थ-परता स्पष्ट होती है। यथा—

सुखप्रयोर्यर्थेणद्वन्द्वयुक्त सुखित्तत्तन्निधिभिः ।

सुकुमारार्थसमुक्त सौकुमार्यं तदुच्यते ॥

१. दण्डी, काव्यादर्श, २. ३

२. वामन, काव्यालंकारसूत्र, ३.१ १-२

३. अग्निपुराण, ३४६ ३

४. भरत, नाट्यशास्त्र, १६ १५

५. वही, १६. १०५





## 0.२ x. रीति

काव्यमौन्दर्य के अन्वेषण में रीति-सिद्धान्त अलकार-सिद्धान्त से एक षग आगे बढ़ा है। इसमें काव्य के वाङ्मय में आम्पन्तर की ओर प्रवेश करने का प्रयास है। अलकार-सिद्धान्त में काव्य की आत्मा का विचार नहीं आया था, परन्तु रीतिसिद्धान्त में वह विचार उभरा और र्मसिद्धान्त में जाकर परिपुष्ट हुआ। अलकारसिद्धान्त में जो स्थान अलकारों को प्राप्त था, वह अब गुणों ने ले लिया। गुण काव्य की शोभा के उपादान कारण तथा अलकार निमित्त बन गए। गुण काव्य के नित्य धर्म तथा अलकार अनित्य हुए।

काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणाः ।

तदतिशयहेतवस्त्यलकाराः ।

पूर्वे नित्या ।<sup>१</sup>

वामन ने रीतिसिद्धान्त में अलकारों की पुनर्व्यवस्था की। वे अब काव्य के आवश्यक या अपरिहार्य तत्त्व न रहे। काव्य में माधुर्य, श्रोज, प्रमाद आदि गुणों की स्थिति आवश्यक है। अलकार न भी हों तो भी गुणों के मदभाव में काव्यत्व रहेगा। अलकार तो केवल गुण-विशिष्ट काव्य की शोभा का अतिशय करते हैं। काव्य की मौलिक शोभा तो गुण है।<sup>२</sup> यहाँ यह अवधेय है कि वामन ने एक बार अलकारों को जो गौण स्थान दे दिया, वह आगे भी गौण ही बना रहा। उस और ध्वनिसिद्धान्त में भी अलकारों का स्थान हीन ही रहा। अलकारों का निरमन तो नहीं हुआ, परन्तु वे काव्य में प्रधान नहीं रहे। जो अलकार भामहू के समय में काव्य के स्वरूपाधारक थे, वे अब केवल उत्कर्षाधारक ही रह गए।

वामन जिन गुणों को इतना महत्त्व दे रहे थे उनका विवेचन पूर्वाचार्य कर चुके थे। भरत ने १० गुणों का निर्देश किया था तथा

१ वामन, वाव्यालकारसूत्र, ३. १. १-३

२. युक्तेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदत्ते शुद्धगुण तदप्यतीत ।

विहितप्रणयं निरन्तरामि सदलकारविकल्पकल्पनामि ॥

यदि भवति बचरक्ष्युनं गुणेभ्यो वपुर्विव यौवनवक्ष्यमंगनाया ।

अपि जनदयितानि नुभंगत्वं नियतभक्तकरणाणि संभयन्ते ॥

(वामन, वाव्यालकारसूत्रवृत्ति, पृ० ६६, कलकत्ता, १६२२)

भामह ने तीन गुण स्वीकार किए थे। वामन के पूर्ववर्ती दण्डी ने १० गुणों का विवेचन करके उन्हें मार्ग का प्राण कहा था। दण्डी ने दो मार्ग वंदर्भ तथा गौड स्वीकार किए और गुणों को उनका निष्पादक तत्त्व माना। इसी विचार परम्परा को वामन ने ग्रहण किया। उन्होंने गुणों का परिपोष किया और उनके आधार पर रीतिसिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया।

रीति शब्द की व्युत्पत्ति रीषते गम्यते ष्येति रीति है। रीति मार्ग है, पद्धति है जिसके द्वारा कवि गमन करते हैं। रीति के लिए मार्ग, वृत्तं, पन्था आदि शब्द प्रचलित हैं। दण्डी ने वंदर्भ और गौड मार्ग का प्रयोग किया तो भोजराज ने पन्था का। अतः रीति का अभिप्राय है— काव्यमरणि, काव्यमार्ग, काव्यपद्धति, काव्यपन्था। वामन रीति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

विशिष्टपदरचना रीति<sup>१</sup>।

रीति विशिष्ट पदरचना है। पदरचना में विशेषता गुणों के कारण आती है—विशेषो गुणात्प्रा<sup>२</sup>। ये गुण ही मिल कर रीति का स्वरूप निर्धारित करते हैं।

जब विशिष्ट पदरचना रीति है, तो प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट पदरचना हो सकती है। इस प्रकार रीतिया अनन्त हो सकती हैं। परन्तु स्थल रूप में विशिष्ट पदरचना रीति को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। कुछ कवि असमस्त, कोमलध्वनियुक्त पदों का प्रयोग करते हैं। उनकी पदयोजना में सरलता तथा ममृणता रहती है। कुछ कवि दीर्घ एवं ममस्त पदों एवं बठोर ध्वनियों का प्रयोग करते हैं। उनकी वाक्य रचना में तीक्ष्णता, दीप्ति तथा गाढत्व आ जाता है। कुछ कवियों की पदयोजना में इन दोनों तत्त्वों का समिश्रण पाया जाता है। अतः वामन ने पदों की गुणमूलक इस विशिष्ट रचना के आधार पर रीति के तीन भेद किए हैं—वंदर्भों, गौडी, पाचाली।

१ वामन, काव्यालंकारसूत्र, १. २. ७

२. वही, १. २. ८

काव्यभाषा में ध्वनियों, पदों और वाक्यों की योजना का एक प्रकार होता है। कोमल ध्वनियों तथा असमस्त पदों के प्रयोग से प्रसाद गुण आता है, जिसमें कवि की शैली बँदभी हो जाती है। समस्त पदों एवं बँदों की योजना से अोज गुण आता है, जिसमें कवि की पद्धति गौड़ी बन जाती है। इन गुणों तथा वाक्यों व पदों की योजना के मिश्रण में कवि की सरणि पाचाली बन जाती है।

इस प्रकार रीतिसिद्धान्त में कवि की ध्वनि-संयोजना, नाद-मोन्दयं, वाक्यगठन की कला प्रमुख रहती है। आचार्य रामानुज ने विभिन्न रीतियों के घटक इन तत्त्वों का गुणों के रूप में प्रतिपादन किया और उनके उच्चावच प्रयोग के आधार पर काव्य में त्रिविध रीतियों की स्थापना की। उनकी दृष्टि में रीति शब्दार्थ के वैशिष्ट्य का आधायक तत्व है और यह रीति ही काव्य की आत्मा है। कुछ भी हो, कवि की शैली की दृष्टि से काव्य के मूल्यांकन का मार्ग रीतिसिद्धान्त ने प्रशस्त किया। काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए रीतिसिद्धान्त का भी संस्कृत के काव्यशास्त्र में अपना ही स्थान है।

यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि बाद में परिनिष्ठित बँदभी, पाचाली आदि रीतियों के मार्गदर्शक वैदिक ऋषियों के मंत्र ही रहें होंगे, जिनमें विषय तथा भाव के अनुरूप पदयोजना उपलब्ध होती है।

### ०२.६ शय्या तथा पाक

शय्या तथा पाक काव्य के ऐसे तत्व हैं, जिनका बहुत कम प्रचलन हुआ है। संस्कृत के आचार्यों में बहुत कम ने इनका उल्लेख किया है।

शय्या—

वाण ने कादम्बरी के प्रारम्भिक पद्यों में शय्या का उल्लेख किया है। शय्या का अर्थ है—गठना या योजना। काव्य के क्षेत्र में शय्या का अर्थ होता है—शब्दों की योजना, शब्दों का विन्यास। इन रूप में 'शय्या' का विचार 'रीति' से बहुत कुछ मिलता है। जिस प्रकार शय्या पर हम विश्राम करते हैं, उसी प्रकार काव्य में भी पदों की शय्या

होती है, जिस पर काव्य अवस्थित होता है। परन्तु सस्कृत के काव्य-शास्त्र में शब्दा के सिद्धान्त की कोई परम्परा नहीं है और न ही इसका स्वरूप विशद है। भोजराज ने शब्दालंकारों के अन्तर्गत शब्दा का विवेचन किया है। परन्तु वह शब्दा प्रस्तुत में विचारणीय शब्दा में भिन्न है।

विद्यानाथ तथा विश्वेश्वर प्रभृति आचार्यों के सम्मुख शब्दा का विचार काव्यशास्त्र के एक मत के रूप में उभरा और उन्होंने इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया। इस विषय में विद्यानाथ के विचार विशेष रूप से मननीय हैं क्योंकि विश्वेश्वर तथा विद्याधर आदि आचार्यों ने शब्दा के सम्बन्ध में उनका ही अनुसरण किया है।

विद्यानाथ ने शब्दा की परम्परा मन्त्री का शब्दा कहा है—

या पदानां पराग्वोपमन्त्री गद्येति कथ्यते ।

अत्र हि पदविनिमयासहिष्णुत्वाद् बन्धस्य पदानुगुण्यरूपा शब्दा ।

—प्र० ६० पृ० ४५

जब पदा का विनिमय नहीं है तब जिस रूप तथा क्रम में वह है उसी में रहें तब उनकी परम्परा मन्त्री से शब्दा का सान्द्रय उभरता है। शब्दा पदा का एक विशेष विन्यास है। जैसे कथा का एक विशेषरूप से किया गया विन्यास रमणी का सौन्दर्य बढ़ाता है, वैसे ही पदा की विशेष गठना काव्य के सान्द्रय का वृद्धि करता है। शब्दा का अर्थ है—पदा का अनुगुणता प्रवाह। उनका विशेषरूप में विन्यास। शब्दा में पदा में समानता आवश्यक है और उनका कभी भी असमान क्रम नहीं होना चाहिए। इसीलिए विद्यानाथ ने कहा है कि शब्दा में पद विनिमय के लिए अवकाश नहीं। पदा तथा वाक्या की जिस रूप में गठना कर दी गई है वही रमणीय होती है। उसमें तनिक सा भी व्यतिराम किया या अर्थान्तर प्रदान किया, तो शब्दा का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। शब्दा का विचार फूला की माना में मिलता जुलता है। फूल भी विनय क्रम में तथा परम्परा अनुकूलता में पिरोया जान पर ही माना की भाँसा बढ़ता है। उनमें थोड़ा सा भी विनिमय करने पर माला की सुन्दरता का हान हो जाता है। उमा प्रसार काव्य में शब्दा की स्थिति प्रतीत होता है। शब्दा में पदघटना जिस रूप में है, उसी रूप में ही

समुचित है। जो प्रतिभावान् कवि होते हैं, उनके काव्य में पद अपने आप सुगठित हुए उभरते हैं। प्रयास के बिना ही उनकी रचना में पदों की शय्या बन जाती है। अत एव कालिदास आदि के काव्य में हम पदों के क्रम को बदल नहीं सकते। परन्तु प्रतिभाहीन कवि के काव्य में पदों का उद्घाटन तथा आवाप होता रहता है। अत एव उसके काव्य में शय्या का सौन्दर्य प्रकट नहीं हो पाता।

विद्यानाथ ने शय्या का जो स्वरूप निर्धारित किया, उसे पाक के सिद्धान्त से पृथक् करना कठिन प्रतीत होता है। शय्या तथा पाक दोनों एक दूसरे की सीमा में अतिक्रमण करते दिखाई देते हैं।

पाक—

सर्वप्रथम वामन ने काव्यशास्त्र के तत्त्व के रूप में पाक पर विचार किया (का० सू० वृ० १ ३)। कवि अपनी भाषा को शब्दों के गठन से कलात्मक बनाता है। वह जोहरी के समान भाषारूपी काचन में रत्न के समान पदों को जड़ता है। वह उचित तथा अनुकूल पदों को तो स्थापित करता है तथा अननुकूल पदों को निकाल देता है। इस प्रकार वह अपनी भाषा को सजाता है। पदों के गठन की इस प्रक्रिया में यदि कवि ने उन्हें अपनी भाषा में ऐसा सुश्लिष्ट कर दिया कि उन्हें वहाँ से हटाया न जा सके, तो वह अपनी कला की पूर्णता पर पहुँच जाता है। कला की इस प्रौढता को ही शब्दपाक कहा जाएगा। यह ऐसी स्थिति है, जहाँ पदयोजना अपने सौन्दर्य में परिपूर्ण हो जाती है। तब कवि की सरस्वती सिद्ध मानी जाती है।

पदस्य स्थापिते स्वयं हन्ति सिद्धा सरस्वती ।<sup>१</sup>

शब्दपाक का यह रूप शय्या से बहुत मेल खाता है, क्योंकि पदों की स्थिरता, जिसे हम विनिमय की असहिष्णुता कह सकते हैं, दोनों में समान है। फिर वामन ने शब्द तथा अर्थ गुणों पर विचार करने के बाद कहा है कि समग्र गुणों की उपस्थिति हो जाने पर काव्य में जो

१. वामन, का० सू० वृ० १ ३

प्रौढता आती है वह काव्यपाक है—गुणस्फुटवसाकल्प काव्यपाक प्रब्रजते।<sup>१</sup> इससे पूर्व बंदर्भी रीति के विवेचन में वामन ने पाक को अत्यधिक महत्त्व दिया था।<sup>२</sup>

वामन के बाद पाक की ओर ध्यान देने वाले आचार्य राजशेखर हैं। उन्होंने वामन के पाक के विचार को आगे बढ़ाया और पाक के कई भेद किए, जैसे द्राक्षापाक, नारिकेलपाक इत्यादि। उन्होंने काव्य की रचना में पूर्णता लाने के लिए किए गए अभ्यास के विभिन्न रूपों को पाक के रूप में वर्णित किया।

पाक का यह विचार वामन से प्रारम्भ हुआ और उसने गुणविवेचन के प्रसंग में पाक का सन्निवेश किया। अतः पाक का साम्य वामन के गुणों से होने लगता है और बहुधा उनके गुणों तथा पाक में भेद करना कठिन हो गया है। अतः एव, प्रौढि नामक शब्दगुण को बाद में भोजराज ने पाक से मिला दिया।

विद्याधर ने पाक तथा शय्या दोनों में अन्तर स्पष्ट करने का प्रयास किया, पर हम देख चुके हैं कि पाक, शय्या एव गुण में बहुत कुछ समानता देखने में आती है। विद्यानाथ ने शय्या को पदाश्रित तथा पाक को अर्थाश्रित कहकर दोनों को एक दूसरे में भिन्न किया। उन्होंने कहा कि अर्थगाम्भीर्यं पाक है। परन्तु उनका यह अर्थगाम्भीर्यं शय्या से तो पृथक् हो गया, परन्तु इसकी सीमा, जैसाकि उनके विवेचन से स्पष्ट होता है, रस के क्षेत्र में प्रवेश कर गई। विद्यानाथ ने पाक के दो भेद किए— (१) द्राक्षापाक—द्राक्षापाक स कथितो बहिरन्तर्ब्रजते<sup>३</sup>, (२) नारिकेलपाक—स नारिकेलपाक स्यात् अन्तर्गुडरसोवय<sup>४</sup>। इस प्रकार शय्या तथा पाक का विचार स्पष्ट न हो सका। कभी तो ये गुणों से मेल खाने लगे और कभी एक दूसरे से मिश्रित होने लगे। यही कारण है कि इनका साहित्यशास्त्र में प्रचलन नहीं हुआ।

१ वामन, वा० सू० सू० ३.२.१३

२ वही, १.२.२१

३ प्रतापरादीय, पृ० ४३

४ वही, पृ० ४६

## ०२७ वक्रोक्ति

भामह ने वक्रोक्ति के महत्त्व को प्रोद्घाटित करते हुए कहा है—

संपा सर्वे वक्रोक्ति जनयार्थो विभाव्यते ।

श्लो०३५० कविना कार्यं कोऽलकारोऽनया विना ॥<sup>१</sup>

भामह की दृष्टि से काव्य में सर्वत्र वक्रोक्ति ही श्रोतश्रोत है। लौकिक अर्थ के विभावीकरण अर्थात् विभाव में परिवर्तित होने का साधन वक्रोक्ति ही है। वक्रोक्ति के बिना काव्य में अलकार अर्थात् सौन्दर्य नहीं आता।

वक्रोक्ति का अर्थ है—वक्र कथन, टेढ़ी उक्ति। उक्ति की वक्रता क्या है? किसी बात को सामान्य रूप में न कहकर उसे असामान्य, विचित्र रूप में कहना। जैसे, 'आप कहा से आए हैं', न कहकर 'आपने किस प्रदेश को अपने विरह से व्याकुल किया है', कहना वक्रोक्ति है, जो साधारण कथनप्रकार में भिन्न है। अतएव भामह ने वक्रोक्ति को सोकातिक्रान्तगोचर मन्त्र कहा है, अर्थात् लोक को अतिक्रमण करने वाला वचन वक्रोक्ति है। साधारण जन अपने भावों को प्रकट करने के लिए जिन सोधे-साधे शब्दों का प्रयोग करते हैं, उनसे भिन्न शब्द तथा अर्थ का प्रयोग करना वक्रोक्ति है।

भामह के इस वक्रोक्ति-विचार को कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में सिद्धान्त रूप में स्थापित किया। वे वक्रोक्ति को काव्य की परमभूषा मानते हैं। उन्होंने वक्रोक्ति का लक्षण किया है—वक्रोक्तिरेव वंदगध्यमगो-षणितिरुच्यते।<sup>२</sup> वंदगध्य का अर्थ है—कविकर्म की कुशलता, भगी का अर्थ है—शोभा, विचित्रिणी और भणिति का अर्थ है—कथन। जब कवि अपने कौशल से कोई बात सुन्दर रूप में कहता है तो वह वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति के मूल में कवि-व्यापार, कवि-कौशल है। अतः कवि-कर्म की कुशलता से उत्पन्न होने वाले चमत्कार पर आश्रित होने वाला कथन प्रकार वक्रोक्ति है।

१. भामह, काव्यालकार, २. ५५.

२. कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, १ ।

कुन्तक ने वक्रोक्ति के ६ भेद स्वीकार किए हैं—

(१) वर्णविन्यासवक्रता (२) पदपूर्वाध्वनता (३) पदपराध्वनता (४) वाक्यवक्रता (५) प्रकरणवक्रता (६) प्रबन्धवक्रता ।

० २ ८ रस

भारतीय साहित्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्त काव्य का मर्म छुँदने वाले विभिन्न भाग हैं। उनमें सर्वाधिक प्रशस्त मार्ग रससिद्धान्त है। जब हम कहते हैं कि अमुक काव्य या नाटक प्रभावकारी है तो इस प्रभाव का विश्लेषण कैसे किया जाए? सुन्दर प्रभावकारी कहने में हमारा वास्तविक विवक्षित क्या होता है? इसका उत्तर है कि वास्तव में वही कृति सर्वाधिक सुन्दर या प्रभावकारी होती है, जिससे पाठक का पूर्ण हृदय-सवाद हो। जब कोई कृति हमारे हृदय को स्पर्श करती है, उससे हमें आह्लाद प्राप्त होता है, तो वह रचना सफल मानी जाती है। सहृदय को भावविभोर करने की क्षमता ही साहित्य की उत्तमता की कसौटी है और वही रस है। सहृदयचक्रवर्ती आनन्दवर्धन ने जब

काव्यस्यात्मा स एवायंस्तथा चाविक्रमे पुरा ।

श्रीचन्द्रविद्योगोत्थ शोक श्लोकस्यमागत ॥<sup>१</sup>

यह कहा, तो उन्होंने प्रमाणित कर दिया कि आदिकवि के काव्यत्व का मूल उसी हृदयस्पर्शिता तथा हृदयसवाद में निहित है, जिसकी रससिद्धान्त के रूप में व्याख्या की जाती है। रससिद्धान्त के आद्याचार्य भरत भी कहते हैं—

महि रसात् श्रुते कश्चिदयं प्रवर्तते ।<sup>२</sup>

वस्तुतः रससिद्धान्त ही काव्यशास्त्र का एकच्छत्र सम्राट् है, अन्य सिद्धान्त तो उसके सेवक हैं। प्रलकार, गुण, रीति, ध्वनि, श्रौनित्य की सार्यवता रस के परिपोष में ही है।

१ कविष्यापारख्यप्रकारा समवन्ति यद् ।

प्रायेक बहवो भेदास्तेषां विच्छिन्नसोमिन ॥

(प० जी० १. १८)

२. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, १.५

३. भरत, नाट्यशास्त्र, पृ० २७२, बड़ोदा



आनन्द का ही दूसरा नाम रस है। जीवन में आनन्द का स्थान सर्वोपरि स्वीकृत किया गया है। उपनिषदों में कहा गया है कि आनन्द ही ब्रह्मा है तथा आनन्द से ही अखिल भूता की उत्पत्ति होती है। उसी से उनका जीवन धारण होता है और अन्त में आनन्द में ही उनका पर्यवसान भी हो जाता है।<sup>१</sup> काव्यशास्त्र में इस आनन्द की व्याख्या रस रूप में की जाती है। काव्य का परम आनन्द रस है। काव्य का प्रयोजन उपदेश आदि चाहे कुछ भी हो, उसका असंघारण तत्त्व रस ही है इसमें कोई विस्वादा नहीं। काव्य के निरतिशय सुखास्वादरूप आनन्द की उपलब्धि का साधकतम तत्त्व रस ही माना गया है। प्रायः सभी आलंकारिकों ने विना किसी विप्रतिपत्ति के रस को काव्यात्मा का स्थान दिया है। इस प्रकार रस काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व ही नहीं, अपितु उसका सर्वस्व है।

इस रस की निष्पत्ति कैसे होती है, इसके सम्बन्ध में सर्वप्रथम भरतमुनि ने कहा—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः।<sup>२</sup> रति, शोक, क्रोध आदि स्थायिभाव सहृदयों के हृदय में सस्कार के रूप में सुप्त पड़े रहते हैं। विभावो, अनुभावो, व्यभिचारिभावो का समुचित संयोग जब काव्य-नाटकादि में संपन्न देखा जाता है, तो वे भाव उद्बुद्ध होते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत के रससूत्र का विश्लेषण करते हुए कहा है कि जिस प्रकार दीपक की रश्मियाँ अघकारस्थ पदार्थ को प्रकाशित करती हैं, उसी प्रकार विभाव आदि सहृदय के हृदयलीन भावविशेषों को उद्बुद्ध करके उन्हें रसदशा की ओर ले जाते हैं। काव्य या नाट्य में सहृदय के उद्बुद्ध, ये स्थायी भाव ही रस हैं।

सहृदय के हृदय में बासनारूप में स्थित स्थायी भाव जाग्रत होकर आनन्दरूप कैसे हो जाते हैं, इस रहस्य का उद्घाटन किया भट्टनायक ने। इस प्रक्रिया का नाम उन्होंने भावकत्व व्यापार रखा जिसे साधारणोक्ति कहते हैं। लोकव्यवहार में राम, सीता

१. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजायत। आनन्दादि पल्लवमानि भूतानि जायन्ते।  
आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्द प्रयत्न्यमिविशन्ति।

(सं० भृगुवल्ली, दृष्ट अनुवाक)

२. नाट्यशास्त्र, काव्यमाता, पृ० ६३, १६५३

आदि की रति आदि चित्तवृत्ति नित्य व्यक्तिसम्बद्ध होती है। अतः एव उसमें नित्य स्वकीयत्व या परकीयत्व की सीमाएँ रहती हैं। लोक में जब हम प्रेम करते हैं या शोक का अनुभव करते हैं, तो वह रति या शोक देश, काल और व्यक्ति की सीमा से बंधा लौकिक ही होता है। इस रति का सुख या शोक का दुःख लौकिक ही होता है। किन्तु वही चित्तवृत्ति जब नाट्य या काव्य में विभावानुभावादि की सामग्री से चोतित होती है, तब वह लौकिक व्यक्ति-बन्धन से मुक्त हो जाती है। व्यक्तिबन्धन से मुक्त होने से ही वह चित्तवृत्ति साधारणीभूत होती है। रस की आनन्दमयता का रहस्य चित्तवृत्ति की इस साधारणीभूतता में निहित है। जिस प्रकार यागी समाधि की दशा में स्वगत, परगत, तटस्थगत भावनाओं से ऊपर उठकर, आत्मलीन होकर परमानन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार सहृदय भी जब स्व-पर भाव से ऊपर उठकर साधारणीकृत मनोवृत्ति में स्थित होता है, तब उसे रस की अनुभूति होती है। स्वकीय-परकीय का भाव हृदय की ग्रन्थि है, जो आत्मा के आनन्दस्वरूप को आच्छादित किए रहती है। योपी यमनियमादि उपायों से इस ग्रन्थि को ताड़कर आत्मा की इस मुक्तावस्था में पहुँच कर आनन्द में विश्रान्ति प्राप्त करता है और सहृदय काव्य तथा नाटक में विभावानुभावादि के माध्यम से मन की धीतविघ्न स्थिति में पहुँच कर आनन्दलाभ प्राप्त करता है।

इस प्रकार भट्टनायक ने एक महत्त्वपूर्ण बात बताई है कि रसास्वाद के लिए सहृदय की चित्तवृत्ति तथा विभावादि का साधारणीकरण होना चाहिए। विभावादि जब तक अग्न्य व्यक्ति से सम्बद्ध है, तब तक सहृदय उनका भोग नहीं कर सकता। किन्तु जब इन्हीं का साधारणीकरण होता है, उस समय ये व्यक्तिनिरपेक्ष तथा देश, काल और भवस्या से रहित होकर उपस्थित होते हैं। तब रसिक इनका आस्वाद लेता है। साधारणीकृत चित्तवृत्ति एवं विभावादि का स्वाद ही रस है।

भट्टनायक और उनके समकालिक अभिनवगुप्त ने काव्य तथा नाट्य से प्राप्त आनन्द का विश्लेषण करते हुए उस पर दर्शनशास्त्र की गहरी परत चढ़ा दी। उन्होंने रस को लौकिक भूमि से उठाकर अलौकिक अह्यानन्द के धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया। इससे उन्होंने न केवल रस की आनन्दमयता की समस्या का समाधान किया, अपितु

रस को ही काव्य का परम सर्वस्व स्थिर किया। रस की आनन्दमयता का रहस्य उस अनुभूति में छिपा है, जहाँ योगी के समान सहृदय भूमा की पराकाष्ठा पर पहुँचता है। उपनिषद् कहती हैं—**यो च भूमा तत्सुख मास्ये सुखमस्ति।**<sup>१</sup> जब तक रति आदि चित्तवृत्ति का अनुभव लोक की सीमा में होता है तब तक वह अल्पता या क्षुद्रता की ही स्थिति है। परन्तु, काव्य की भूमि में गुणालकारोपस्कृत व्यञ्जक शक्ति से सुसज्जित भाषा के प्रयोग से तथा नाट्य में विचित्र आलोच्य, गीत, नृत्य, अभिनय-कौशल तथा रगमच की साजसज्जा से सहृदय का चित्त लौकिक सीमा से ऊपर उठने लगता है। वह स्व पर भाव को विस्मृत करने लगता है। धीरे धीरे वह उस दशा में पहुँच जाता है जहाँ उसके मन में स्वकीय-परकीय का भाव ही नहीं रहता। वह सबको अपने में देखने लगता है। उसके क्षुद्र व्यक्तित्व का विलोप हो जाता है और वह उपनिषद् की भूमा की स्थिति में पहुँचता है। उस स्थिति में उसे आनन्द की अनुभूति होती है। यह आनन्द योगी की समाधि के आनन्द का समकक्ष हो जाता है। जैसा कहा गया है—

पाठपावप श्रुतगानात् तत सम्भूरिते रते ।  
 तदास्वावभरंकाग्र हृष्यत्यन्तर्मुख क्षणम् ।  
 ततो निर्विषयस्यास्य स्वरूपावस्थितो निर ।  
 व्यत्यये द्वादनिष्पन्दो येन तृप्यन्ति योगिन ॥<sup>२</sup>

इस प्रकार देश, काल और व्यक्ति की सीमा के विगलन से शुद्ध चैतन्य अवभासित होने लगता है। सहृदय के अनुभूयमान रत्यादि भाव स्व चैतन्य से सबलित होकर आनन्दमय बन जाते हैं। इस विचार से भारतीय साहित्यशास्त्र में रस का स्वरूप प्रकाशमय, आनन्दमय तथा अखण्ड सिद्ध हुआ है।

आनन्दार्थ विषयनाथ ने अभिनवशुक्त द्वारा स्थापित रस के स्वरूप को सुन्दर रूप से समाहृत किया—

१ छा०, ७. २३ १

२ उद्धृत महिममट्ट, व्यक्तिविवेक, पृ० ६४, बीजम्भासंस्करण, बनारस, १९३९

सत्त्वोद्देहावप्यस्वप्रकाशान्तरचिन्मय ।

वेद्यान्तरस्पर्शांशून्यो ब्रह्मास्वादिमहोदरः ॥<sup>१</sup>

यद्यपि ब्रह्मानन्दस्वरूप होने के कारण रस एक ही होना चाहिए, फिर भी उपाधिभेद में रस को नौ प्रकार का माना गया है। रति से मवन्ति चिदानन्द शृङ्गार, शोक में सवन्ति करुण, भय से मवन्ति भयानक। इस प्रकार आनन्द एक होने पर भी अनेक नामों से अभिहित हुआ।

रस को ब्रह्मानन्दमहोदर कहकर सस्त्रुत के आचार्यों ने करुण, वीभत्स, भयानक रसों की समस्या को भी सुलझा दिया। क्योंकि, रस क्वचित्निर्वृतिरूप है अतः यह स्वात्मविश्रान्ति जिस किसी भी उपाय से हाँ उममें आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार करुण में भी जब हम स्व-पर भाव में ऊपर उठकर शोक का माधारणीकृत रूप अनुभव करते हैं, तब वह शोक लौकिक न होकर अलौकिक होता है और उसकी अनुभूति आनन्दमय ही होती है, दुःखमय नहीं।

कवि से लेकर महदय तक एक ही विश्व है तथा यह इन दोनों में व्याप्त है और यह रस ही विश्व है। भट्टतीन कहते हैं—कवि तथा धोता दोनों का समान अनुभव होता है।<sup>२</sup> अभिनवगुप्त भी कहते हैं—सरस्वात्यास्तरु क्विसहृदयाख्य विजयने।<sup>३</sup> यह तत्त्व जो कवि तथा सहृदय को एक मूल में बाधता है, रसतत्त्व ही है। रससिद्धान्त की इसमें बढकर और क्या प्रतिष्ठा हो सकती है ?

रस के अन्तर्गत शृङ्गार, वीर, करुण आदि रसों के अतिरिक्त रसाभाम, भाव, भावाभाम, भावोदय, भावशान्ति, भावमन्धि और भावशबलता का भी ग्रहण होता है। भावादिक को भी आस्वादन-रूप रसनधर्म होने के कारण रस कहा जाता है। जैसे विश्वनाथ कहते हैं—

१. सा० प० १२

२. भाष्यस्य क्वे धीतु समानोऽनुभवस्तत

(उद्घृत : प्ययासोरसोचन, पृ० १७०, कृ० स्वा० रि० ६०, १९४४)

३. प्ययासोरसोचन, पृष्ठ ३, कृ० स्वा० रि० ६०, १९४४

रसभावो तदाभातो भावस्य प्रथमोदयो ।

सन्धि शबलता चेति सर्वोऽपि रसनाद् रसा ॥<sup>१</sup>

### ० २.६ ध्वनि

कवि के हृदय में जो कुछ स्थापित रहता है, उसे अशेषरूप में प्रकाशित करने का उपकरण है भाषा। उसमें स्वयं एक प्रकार की कलात्मकता वर्तमान रहती है। लोकव्यवहार की भाषा में प्रत्येक शब्द का सकेतित अर्थ ही पर्याप्त है। परन्तु सकेतित अर्थ के अतिरिक्त शब्द का ध्वन्यमान अर्थ भी होता है जो काव्य को रमणीय एवं हृद्य बनाता है। शब्द की ध्वन्यमानता भाषा को कलात्मक बनाती है और उसे लोकप्रचलित भाषा से भिन्न करती है। ध्वनिसिद्धान्त का मूल भाषा के इस कलात्मक प्रयोग में निहित है। जब तक भाषा में ध्वननशक्ति अथवा परमरमणीय प्रतीयमान अर्थ के अभिव्यजन का कौशल नहीं आता, तब तक वह काव्य के चरमशिखर पर आरोह नहीं हो सकती।

भाषा के सामान्य एवं कलात्मक प्रयोग को स्पष्ट करते हुए ध्वनिसिद्धान्त के सस्थापक आनन्दवर्धन ने कहा है कि महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान अर्थ वाच्य से सर्वथा भिन्न होता है। यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य का लावण्य है। यही सहृदयो को ज्ञात होता है। यह अर्थ काव्य के अन्य वाह्य उपकरणों से सर्वथा भिन्न रूप में प्रकाशित होता है। जैसे स्त्रियों में लावण्य जैसी चमत्कारी वस्तु शरीर के वाह्य अवयवों या अलंकारों में सर्वथा भिन्नरूप में प्रकाशित होती है, ऐसे ही काव्य में व्यंग्य की प्रतीति होती है। रमणियों में विद्यमान यह लावण्य सहृदयो को चमत्कृत करता है, इसी प्रकार व्यंग्य भी रसिकों को आनन्दित करता है।<sup>१</sup>

१. सा० २० ३ २५६

२. प्रतीयमान पुनरन्यदेव यस्तस्मिन् वाणीषु महाकवीनाम् ।

मत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिद्विभागनाम् ॥

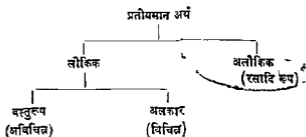
(ध्वन्यालोक १.४)

इस प्रकार ध्वनिसिद्धान्त का परमतत्त्व यह है कि भाषा में साधारण वाच्यार्थ से अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ को व्यजित करने की शक्ति होनी चाहिए। क्योंकि प्रतीयमान अर्थ ही सहृदयहृदयानुरजक होता है, अतः यदि कवि की भाषा में उसे व्यक्त करने की सामर्थ्य न आई तो वह अपने उद्देश्य में विफल हो जाता है। समग्र रूप से प्रतीयमान जो अर्थ है वही कवि द्वारा निवेदनीय अर्थ की पराकाष्ठा है। पर यह अभिव्यजित हो, ध्वनिसिद्धान्त की वस यही एक शर्त है। प्रतीयमान अर्थ का कदापि अभिधान नहीं होना चाहिए, उसका शब्दों में प्रतिस्फुरण ही होना चाहिए। इस प्रकार यदि कवि प्रतीयमान अर्थ के अभिव्यजन की दृष्टि में शब्दयोजना करेगा, तो उसे कविमण्डली में उच्च स्थान प्राप्त होगा। सहृदयहृदयहारी काव्य का ऐसा कोई रूप नहीं है, जहाँ प्रतीयमान अर्थ के सस्पर्श से रमणीयता न आ जाए। अतः आनन्दवर्धन ने इसे परम काव्यरहस्य कहा है। प्रतीयमान अर्थ तथा उसके अभिव्यजक शब्द तथा शब्दसमूह की विशिष्टता होना महाकवित्व का गमक है। कवि को महाकवित्व की पदप्राप्ति वाच्य और वाचक के वैचित्य से नहीं होती, अपितु व्यंग्य और व्यजक के उचित प्रयोग से ही होती है। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान की महिमा से ध्वनिसिद्धान्त का महत्त्व स्थापित किया। इस प्रतीयमान अर्थ पर ही ध्वनिसिद्धान्त का प्रासाद प्रतिष्ठित हुआ।

अभिनवगुप्त ने प्रतीयमान के दो रूपों की ओर निर्देश किया है—लौकिक तथा अलौकिक।<sup>१</sup> व्यंग्यार्थ का वह रूप जिसे हम चाहे तो वाच्यार्थ के रूप में भी प्रकाशित कर सकें, उसका लौकिक रूप है। जो व्यंग्य हम सूर्य अस्त हो गया से प्रवृत्त करना चाहते हैं उसे अभिधा से ही वह द कि अब काम समाप्त करो, प्रतीयमान का लौकिक रूप है। परन्तु प्रतीयमान का एक और भी रूप है जो इससे विलक्षण है। वह कभी शब्दों द्वारा वाच्य नहीं हो सकता। रसरूप प्रतीयमान कभी स्वशब्द से अभिहित नहीं किया जा सकता, वह तो आस्वादन

१. तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदो—लौकिक काव्यव्यापाररूपोचर-  
श्चेति। लौकिकोय स्वशब्दवाच्यतां शब्दाच्चिदधिरोते, तच्च विधिनियेधाद्यनेरु-  
प्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते। (ध्वन्यालोक १.४, कारिका पर 'लोचन')

का ही विषय है, अतः वह अलौकिक प्रतीयमान है। इस प्रकार प्रतीयमान के ये रूप उभरते हैं—



यह प्रतीयमान अर्थ जब काव्य में प्रधान रूप से अवस्थित होता है, तब उस प्रधान व्यंग्य को ध्वनि कहते हैं। प्रतीयमान के प्रधान न रहने पर उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं। इस प्रकार लौकिक प्रतीयमान की प्रधानता होने पर वस्तुध्वनि, अलकारध्वनि तथा रसादिरूप अलौकिक प्रतीयमान की प्रधानता में रसादिध्वनि होती है।

ध्वनिसिद्धान्त में प्रतीयमान की सत्ता ही पर्याप्त नहीं है, उसका वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान होना भी अपेक्षित है, क्योंकि प्रधान रूप में अवस्थित प्रतीयमान जितना शोभावर्धक होता है, उतना गौण रूप में नहीं। इसीलिए ध्वनि का लक्षण करते हुए विश्वनाथ ने कहा है—

वाच्यातिशापिनि व्यग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ।

—सा० द० ४ १

भाव का आविर्भाव भाषा के माध्यम से होता है, इसलिए आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान की अभिव्यक्ति की दो सरणियाँ मानी हैं, अभिधा के माध्यम से तथा लक्षणा के माध्यम से। और, इनके आधार पर ध्वनि के दो प्रमुख भेद किए हैं—अभिधामूलक (दिवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि), लक्षणामूलक (अविवक्षितवाच्य ध्वनि)। इन दोनों वृत्तियों को स्वीकार करते हुए आनन्दवर्धन ने तीसरी वृत्ति व्यजना की भी कल्पना की। अल्प से अधिक की प्रतीति कराने की सामर्थ्य व्यजना में ही है, अभिधा-लक्षणा में नहीं। इसी व्यंजना से भाषा में कलात्मकता आती है। व्यजना की ही यह विशेषता है कि इससे प्राप्त अर्थ न कोश में होते हैं न

व्याकरण में । इससे गृहीत अर्थ सहृदयो के हृदय में अवस्थित रहते हैं । अत एव आनन्दवर्धन कहते हैं—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।

वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥

—ध्वन्यालोक १ ७

कई बार व्यंग्य की प्रतीति क्रमपूर्वक धीरे धीरे होती है और कई बार क्रम हाने हुए भी उत्पलशतपत्रव्यतिभेदनाय से तुरन्त हा जाती है । क्रम होने पर भी सहृदय को वह बहुधा अवभासित नहीं होता । इस दृष्टि से अभिधामूलध्वनि के सलक्ष्यक्रम व्यंग्य तथा असलक्ष्यक्रम व्यंग्य का भेद किए गए हैं । रसादिरूप व्यंग्य असलक्ष्य-क्रम तथा वस्तु और अलकाररूप व्यंग्य सलक्ष्यक्रम है ।

जिस प्रकार व्यंग्यमुख से ध्वनि के तीन भेद होते हैं— (१) वस्तु ध्वनि (२) अलकार ध्वनि (३) रसादि ध्वनि, उसी प्रकार व्यञ्जकमुख से भी ध्वनि के भेद प्रभेद होते हैं । शब्दार्थ ध्वन्यर्थ के व्यञ्जक हाते हैं । व्यंग्यार्थ शब्दार्थों के द्वारा अनेक प्रकारों से ध्वनित हो सकता है । कभी पदार्थ से ध्वन्यर्थ व्यक्त होता है और कभी वह सम्पूर्ण वाक्य से भी सूचित होता है । केवल वाक्य या पद की क्या बात, ध्वन्यर्थ की प्रतीति तो प्रकृति, प्रत्यय आदि भाषा के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंगों से भी होती है । जैसे—

न्यबहारो ह्यपमेव मे यदरय ... १

मे व्यञ्जकता की विविधता चरम सीमा पर है ।

ध्वनि का उपयोग काव्य की सृष्टि में बहुत ही अधिक है । ध्वनि का आश्रय लेकर कवियों की प्रतिभा अनन्त रूप में विकसित होती है । काव्य में कथनप्रकार का ही विशेष महत्त्व होता है । वर्णनीय वस्तु की एकता होने पर भी यदि उसके वर्णनप्रकार में विभिन्नता तथा नवीनता है, तब वह हमारे लिए नवीन तथा चमत्कार-युक्त प्रतीत होती है । ध्वनि में युक्त काव्य की भी यही दशा है ।



अर्थ की प्राचीनता होने पर भी ध्वनि का सयोग उसमें नवजीवन का संचार कर देता है। यही कारण है कि अलंकार, गुण, रीति सिद्धान्तों के रहते भी ध्वनिसिद्धान्त काव्य का परम निकपोपल वन गया।

### ०२१० शौचित्य

काव्यकला से सम्बद्ध ऐसा कोई तत्त्व नहीं जो रस ध्वनि से सम्पृक्त न हो जाता हो। रसध्वनि सब सिद्धान्तों की अग्रणी है। परन्तु रसध्वनि का भी यदि कोई प्राण हो सकता है तो शौचित्य। अत एव रसवादी कहते हैं—यदि रसभंग का परिहार करना है, तो अनौचित्य का परिहार करो। सम्भवतः यही कारण है कि भरत के समय से शौचित्य का विचार प्रारम्भ होता है। आनन्दवर्धन तथा महिमभट्ट जैसे आचार्यों ने शौचित्य को सैद्धान्तिक पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास और आगे बढ़ाया और शौचित्य का अभिप्रेक क्षेमेन्द्र ने शौचित्यविचारचर्चा में किया।

कविकल्पना वास्तविकता से अतिशयिता की ओर, यथार्थ से स्वच्छन्दता की ओर, जहाँ तक चाहे उड़ सकती है, परन्तु वह होनी शौचित्य की परिधि में ही चाहिए। क्या अलंकार, क्या गुण, क्या रीति, सबका नियामक तत्त्व यदि कोई हो सकता है तो शौचित्य ही। शौचित्य का सबन्ध हमारी नैतिकता, सामाजिक मान्यता तथा आस्था एव विश्वास के साथ है। कवि को निरकुश होने की छूट दी गई है, परन्तु वह चाहे कितना भी उड़ ले, उसे शौचित्य के धागे से बंधे ही रहना चाहिए। भाव यह है कि पृथ्वी से आकाश तक उड़ने पर भी कवि की कल्पना मानवीय सस्कृति के अनुपयुक्त एव विरुद्ध नहीं होनी चाहिए। कलाकार द्वारा निर्मित वातावरण में जब सहृदय निमग्न होता है, तो ऐसी कोई बात नहीं आनी चाहिए जो उसके आनन्द में बाधक हो।

शौचित्य शब्द उचित से निष्पन्न है। उचित से तात्पर्य है—किसी वस्तु का दूसरी वस्तु के अनुरूप होना। इस शौचित्य की कल्पना कोई नवीन नहीं है। यह ठीक है कि इसको साहित्य में एक श्रेष्ठ स्थान प्रदान कराने वाले आचार्य क्षेमेन्द्र हैं, पर इसकी परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। भरत के नाट्यशास्त्र

में औचित्य का आधार लोक की रुचि, प्रवृत्ति एवं उसके रूप को मानते हुए लिखा गया है—जो लोकसिद्ध है वह सब अर्थों में सिद्ध है और नाट्य का जन्म लोकस्वभाव से हुआ है, अतः नाट्यप्रयोग में लोक ही प्रमाण है।<sup>१</sup> आगे चलकर उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि उसकी भाषा, भाव तथा कार्य पात्रानुरूप होने चाहिए।<sup>२</sup> उन्हीं के शब्दों में—

वयोऽनुरूप प्रथमस्तु वेप,  
वेदानुसंहरच गतिप्रचार ।  
गतिप्रचारानुगत च पाठ्य  
पाठयानुरूपोऽभिनयश्च कार्यं ॥

—नाट्यशास्त्र १४ ६८

इसके बाद दण्डी ने औचित्य का सकेत उपमा के प्रसंग में किया। वस्तुतः भामह, दण्डी, वामन और रुद्रट आदि आचार्यों का दोष विवेचन एक प्रकार से औचित्य के अभाव या अनौचित्य की ही व्याख्या है।

औचित्य की सर्वप्रथम स्पष्ट व्याख्या करने वालों में आनन्दवर्धन का नाम लिया जा सकता है। उन्होंने औचित्य का बड़े विस्तार से विवेचन किया, पर लक्षण करने की ओर उनकी कोई विशेष प्रवृत्ति न रही। लक्षण की दृष्टि से कुन्तक भी हमारे सामने आते हैं। उन्होंने औचित्य का लक्षण करते हुए लिखा है—जिसके द्वारा स्वभाव का महत्त्व पुष्ट होता हो अथवा जहाँ घबराता या धोता के अति स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण वाक्य वस्तु आच्छादित हो जाती हो, उसे औचित्य कहते हैं।<sup>३</sup>

१ लोकसिद्ध भवेत्सिद्ध नाट्य लोकस्वभावजम् ।

तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते ॥

नानाशीला प्रकृतयः शीलं नाट्ये प्रतिष्ठितम् ।

तस्मान्लोकं प्रमाणं हि वर्तन्त्य नाट्ययोऽनुरूपम् ॥

(ना० पा० २६. ११२-११)

२ आङ्गसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते ।

प्रजापतेः तद्गोविन्दमुञ्चिताऽप्यनङ्गीकृतम् ॥

यत्र वस्तु प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना ।

आच्छादते स्वभावेन तदप्योचितमप्युच्यते ॥

(व० जी० १. २३-२४)

आचार्य क्षेमेन्द्र शौचित्य का लक्षण निर्धारित करते हुए कहते हैं—जो जिसके योग्य है, आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं, उसका भाव शौचित्य है ।<sup>१</sup>

यहां आचार्य का भाव है कि काव्य का सर्वातिशायी गुण सौन्दर्य होता है। वह कोई अनपेक्ष, असंपृक्त, पूर्वसिद्ध वस्तु नहीं है। किसी वस्तु को उसी ने सीमित रखकर सीमित या असीमित नहीं कहा जा सकता। अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त ने जब शकुन्तला का चित्र बनाया तो उसके आसपास का वातावरण भी चित्रित किया, इसका एकमात्र उद्देश्य सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा करना था।

शौचित्य केवल काव्य की ही वस्तु नहीं, लोक में इसकी पदे-पदे रक्षा होती है। अनुचित कार्य किसके हृदय को विक्षुब्ध करने वाला नहीं होता? इसी बात को ध्यान में रखते हुए क्षेमेन्द्र कहते हैं कि यदि लोक में भी अनुचित स्थान में अलंकार पहन लिया जाए तो वह एकदम हास्यरस को पैदा करने वाला होगा ।<sup>२</sup>

सही बात तो यह है कि शौचित्य के बिना न तो लोक की ही रक्षा है, न साहित्य की। उसके बिना न कोई अलंकार है, न कोई सौन्दर्य। शौचित्य के बिना न केवल काव्य, अपितु व्यक्ति की भी पूजा नहीं हो सकती। निर्मर्याद पुण्य या कामिनी को कौन क्षमा कर सकता है। अतः स्पष्ट है कि शौचित्य के बिना, गुण, अलंकार और रस से युक्त होने पर भी काव्य निर्जीव ही है। अतः ठीक ही कहा गया है—

उचितस्थानविन्यासादलङ्घितरलङ्घति ।

शौचित्यादच्युता नित्य भवन्त्येव गुणा गुणा ॥

—श्री० वि० च० ६

शौचित्य पर विचार केवल भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी हुआ है। लांगिनस ने अपने उदात्ततत्त्व-सम्बन्धी ग्रन्थ

१. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं क्विप सत्यं यत् ।

उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥

(श्री० वि० च० ७)

२. वही, ६

*On the Sublime* में औचित्य को मान्यता दी है। अठारहवीं सदी के महाकवि पोप ने औचित्य पर पूर्ण बल दिया है। उन्होंने लिखा है—

It is not enough no harshness gives offence  
The sound must seem an echo of sense  
Soft is the strain where Zephyr gently blows,  
And the smooth stream in smoother number flows  
But when loud surges lash the sounding shore  
The hoarse rough verse should like a torrent roar,

—*Essay of Criticism*

अर्थात् “कविता में केवल उद्देगकारी कर्ण कटुता का अभाव ही पर्याप्त नहीं माना जा सकता, प्रत्युत शब्द, भाव की प्रतिध्वनि के रूप में होना चाहिए। भलयानिल के बहने के अवसर पर प्रयुक्त शब्दों में सुकुमारता तथा कोमलता होनी चाहिए। मद-मद-प्रवाही निरंतर और भी सुकोमल पदों में प्रवाहित होता है, किन्तु जब प्रचण्ड झझावात के थपेड़े खाकर भीषण ऊमिया किनारों से टकराती है, तब ओजस्वी पद भी तुमुल प्रवाह की भाँति घोर गम्भीर गर्जन करते हैं।” कहना न होगा कि पोप का इस प्रकार का सकेत भारतीय आचार्यों के पदोचित्य तथा गुणोचित्य का ही उपलक्षण मात्र है।

आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण आधुनिक युग की धारणाओं के अनुकूल है। इतना अवश्य है कि जहाँ आज का साहित्यकार अपने साहित्य को नियमों से सर्वथा मुक्त रखने की चेष्टा कर रहा है, वहाँ क्षेमेन्द्र आवश्यक नियमों के पालन की ओर ध्यान दिनाते हुए यथार्थ चित्रण में ही स्वाभाविकता मानते हैं। इसका तात्पर्य है कि औचित्य वह तत्त्व है जिसने कवियों की लेखनीरूपी तूँजिका से बने हुए कविता-कामिनी के मुखचन्द्र में निखार तो किया ही, साथ ही ज्योत्स्ना का नवीन वैभव भी उसको प्रदान किया।

### ०२.११ औचित्य के भेद

औचित्य की व्याख्या करते हुए भेदों की मध्या गिनाने वालों में आचार्य आनन्दवर्धन का उल्लेख सर्वप्रथम किया जाए, तो बुद्ध

अनुचित नहीं। उन्होंने छ प्रकार के औचित्य माने हैं—(१) रसौचित्य, (२) अलंकारौचित्य, (३) गुणौचित्य, (४) सघटनौचित्य, (५) प्रवन्धौचित्य, (६) रीति औचित्य।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के २८ भेद माने हैं—

पदे वाक्ये प्रवन्धार्थे गुणोऽलंकरणे रते  
त्रिपाया कारके लिंगे वचने च विशेषणे ।  
उपसर्गे निपाते च काले देशे कृते व्रते  
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसपहे ॥  
प्रतिभायामवस्थाया विधारे नाम्न्यथासिपि  
काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्य व्यापि जीवितम् ॥

—श्री० वि० च० १०

आधुनिक काव्यशास्त्री महामहोपाध्याय कृष्णस्वामी शास्त्री ने भी क्षेमेन्द्र का अनुकरण करते हुए काव्यांगों में औचित्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है—

औचित्यमनुपाबन्ति सर्वे ष्वनिरस्तोन्नया ।  
गुणात्कृतिरीतीना मयारचान्मुदाङ्मया ॥

—*Highways and Byways of Literary Criticism*, p 27

## 0.३. वैदिक साहित्य में काव्यतत्त्वों का मूल

सामान्य धारणा यह है कि वेद धर्म का मूल है। परन्तु, धर्म ही क्या समस्त भारतीय चिन्तन, दर्शन व कला का मूल भी वेद ही है। भारतीय चिन्तन की ऐसी कोई धारा नहीं है जिसका उत्स वेद में न हो। क्या विज्ञान, क्या आयुर्वेद, क्या संगीत, क्या राजनीति, भाव यह है कि सब विद्या का मूल वेद है। इसी प्रकार काव्य का मूल भी वेद है।

वेदा तथा उपनिषदों के मन्त्र उत्कृष्ट काव्य के उदाहरण हैं। उनमें परवर्ती साहित्यशास्त्र में प्रतिपादित अलंकार, गुण, रीति, रस, ध्वनि आदि काव्यतत्त्वों के पूर्वस्वरूप तथा उनके निदर्शन प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य के अनुशीलन में स्पष्ट होता है कि महाभारत और रामायण से प्रारम्भ होकर कालिदास, भारवि आदि के युग में जो काव्यपरम्परा प्रवाहित होती रही, उसका मूल वेदों और उपनिषदों में भी विद्यमान है। वैदिक ऋषि व्यास, वाल्मीकि के प्रेरक हैं। उन्होंने काव्य की परम्परा चलाई, काव्य प्रस्थान का निर्माण किया, जिस पर परवर्ती कवि चले और उनके पीछे पीछे कालिदास, भारवि, भवभूति आए। डॉ० राघवन न ठीक ही कहा है कि सौविक संस्कृतकाव्य जो आगे चलकर विकसित हुआ, यह उसी काव्य की परिणति है जिसकी मृष्टि ऋग्वेद के कविषा ने की थी।<sup>१</sup>

आज अलंकार, गुण, रीति आदि काव्य के जिन तत्त्वों से हम परिचित हैं उनके साथ ही यदि हम वैदिक साहित्य की विच्छिन्नता का ढालने का प्रयत्न करें और इस चरण का लगाकर ही हम वेद के काव्यमौन्द्य का ढूँढें तो हमारा दर्शन एकांगी होगा। वैदिक साहित्य की काव्यसुपमा का परखन के लिए तो हम अपने दृष्टिकोण को व्यापक करना होगा। अलंकार, गुण आदि की प्रवाहित धारा को उसके मूल

१ Classical Sanskrit poetry which blossomed forth later was the outcome of the poetry which the early authors of the Rigveda cultivated

(Dr V Raghvan, *Sanskrit Literature*, p 11, 1961)

रूप में हूँना होगा। प्रयाग और बनारस में प्रवहमान भागीरथी को गंगोत्री में खोजना होगा। हम सोचें कि काव्यशास्त्रियों के मन में अलंकार, गुण, रीति आदि सिद्धान्तों का विचार क्यों आविर्भूत हुआ। इसलिए कि इन्होंने वेदों, उपनिषदों तथा वाल्मीकि, कालिदास की कृतियों में काव्य के ऐसे हृदयावर्जक तत्त्व देखे जिन्हें परिभाषित एवं व्यवस्थित करने के लिए इन्होंने उन्हें अलंकार आदि परिभाषाओं तथा सिद्धान्तों में वर्गीकृत किया। अब जो वर्यं तथा कठघरे इन्होंने बना दिए, उनमें ही हम काव्य के आदिरूप, वैदिक विच्छित्ति को ढूँँ दें, उसके अनुरूप ही उसे देखें तो यह हमारी अल्पदृष्टि होगी। वैदिक साहित्य के काव्यसौन्दर्य में से तो हम ये कुछ तत्त्व निकाल पाए हैं और उन्हें अलंकार, रीति आदि अभिधानों से परिभाषित करते हैं। परन्तु, वैदिक काव्यसौन्दर्य तो अपरिमेय है। उसकी सुपमा का उद्घाटन तो होता ही रहेगा और उसके कई रूप बनते रहेगे। किं च क्षण क्षणे पन्नवतामुपति तदेव रूप रमणीयताया। वैदिक काव्यसौन्दर्य भी क्षण क्षण में नवीन है। वैदिक उपसूक्त को पढ़िए, पुन पढ़िए, उसमें से सौन्दर्य की नवीन रश्मियाँ फूटेंगी। उन्हें उपमा अलंकार, छेत्तानुप्रास, वैदर्भी रीति के नाम से हम व्याख्यात करते हैं। जिसे भामहूँ रूपक अलंकार कहते हैं, जिसे वामन वैदर्भी रीति कहते हैं, जिसे ध्वनिकार ध्वनि तथा भरत रस कहते हैं, वे सब काव्य तत्त्व वेदों और उपनिषदों से ही निकले हैं। वैदिक ऋषि अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए कभी सरल सुखद वाक्य-योजना करता है, कभी उद्धत प्रचण्ड पदावली का प्रयोग करता है। क्या वैदिक ऋषि की इसी वाक्य-सघटना ने रीतियों को जन्म नहीं दिया? इसी प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर ऋषि के मुख से अनायास उपमानों की धारा प्रवाहित होती है। क्या यह सादृश्य या समता उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों का मूल नहीं है? भरतमुनि तो स्पष्ट कहते हैं कि चारों वेदों से मूलतत्त्व लेकर उन्होंने नाट्यवेद का निर्माण किया। गद्य-पद्य की अनेक विधाएँ भी वेदों-उपनिषदों से आईं। काव्य का सौन्दर्य उपा के समान वैदिक साहित्य में फूटा। अतः वेद और उपनिषद् न केवल धर्म का मूल हैं, वे काव्य का भी मूल हैं—वेदोद्गणित काव्यमूलम्। जो शब्द और अर्थ की विच्छित्ति अलंकारशास्त्र में अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, औचित्य आदि के रूप में व्याख्यात हुई, इन सब के मूल में वैदिक ऋषियों के शब्दार्थ की विच्छित्ति है।

प्रतीत होता है कि अलंकार, गुण, रीति आदि काव्य के तत्त्व ऋग्वेद से विकसित होते होते उपनिषद् काल तक आए और फिर महाभारत और रामायण में से आगे बढ़ते हुए कालिदास, भारवि, माघ आदि के समय तक पूर्ण रूप से पल्लवित तथा पुष्पित हो गए। इनका पूर्ण परिपाक हो जाने पर ही लक्षणग्रन्थों में आचार्यों ने इनका प्रौढ विवेचन किया।

वेदों में प्राप्त उपर्युक्त काव्यतत्त्वों के कतिपय उदाहरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं।

### ०३१ वेदों में अलंकार

अनुप्रास—

मादयध्व मरुतो मध्वो मग्धस ।

—ऋ० १ ८५ ६

मे म वग की आवृत्ति से जा नादसौन्दर्य उत्पन्न हुआ वह वाद में वृत्त्यनुप्रास बना। अथर्ववेद के ऋषि ने भी इस प्रकार के नादसौन्दर्य से अपनी ऋचाओं को विभूषित किया, जैसे—

अससालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा । नीलागलसाला०

—अथर्व० ६ १६ ४

इसमें भी ऋग्वेद की परम्परा का अनुसरण करते हुए ल, स आदि ध्वनियों की आवृत्ति की गई है, जिससे गद्गा अनुप्रास के कारण शब्द-सौन्दर्य उभरा है।

उपमा—

कन्धेव तन्वा३ शाशदानां एषि देवि देवमियशमाणम् ।

सप्तमयमाना युवति प्रस्तादाविर्वशासि कृणुषे विमानो ॥

—ऋ० १. १२३. १०

मे उपा की रमणी के माथ तुलना करके उमरे सौन्दर्य को अभिव्यक्त किया गया है। उपा कन्या को भाति अपने शरीर को स्पष्ट प्रकाशित करती है। वह एक प्रगल्भ युवति को भाति मुसकराती हुई सूर्य के गामन अपने वक्ष स्थल को खोलती है।



जिस प्रकार रमणी अपने सौन्दर्य को विवृत करके रसिक को आकृष्ट करती है, उसी प्रकार उपा भी अपने सौन्दर्य को प्रोद्घाटित करके दर्शक को मुग्ध करती है। उपमा के इस अनायास प्रयोग से ऋषि ने उपा के दिव्य सौन्दर्य को व्यजित किया है। इसी परम्परा के अनुसरण में अथर्ववेद का ऋषि भी सुन्दर उपमानों की योजना से अपने काव्य को अलंकृत करता है, यथा—

अग्नि ह्या परिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।

—अथर्व० ३ ११ ८

यहा गौ तथा रस्सी की उपमा से सुन्दर रूप से भावाभिव्यक्ति हुई है।

उपमा की यह परम्परा उपनिषदों में भी प्रवाहित हुई है और वहा भी अनेक सुन्दर तथा उपयुक्त उपमानों का प्रयोग हुआ है। यह परम्परा नदी की धारा के समान निरन्तर बहती गई। रामायण और महाभारत में यह सहस्रधा हो गई।

अतिशयोक्ति—

चत्वारि शृङ्गा वयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आ विवेश ॥

—ऋ० ४ ५८. ३

यहा ऋषि ने उपमेयभूत यज्ञ अथवा शब्दब्रह्म का निगरण करके उपमानभूत वृषभ का प्रतिपादन किया है। ऋषि के वर्णन की यह छटा काव्यशास्त्र में रूपकातिशयोक्ति अलकार बनी। इसी का विकास अथर्ववेद में भी उपलब्ध है, यथा—

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्राद्बुदाचरत् ।

तेना सहस्रेऽना वय नि जनान्स्वापयामसि ॥

—अथर्व० ४ ५ १

यहा भी सूर्य को उपमानभूत वृषभ ने अन्त निगोर्ण कर लिया है। कवि का सूर्यवर्णन लोकातिक्रान्त है। अतः अतिशयोक्ति के नाम से इस सौन्दर्य की व्याख्या हुई।

समासोक्ति—

स इं वृषाजनमन् तासु गर्भं स इं शिशुर्घंयति त रिहन्ति ।

—ऋ० २. ३५. १३

यहा अग्नि पर वृष के व्यवहार का आरोप होने से उत्पन्न काव्यसौन्दर्य समासोक्ति है। अथर्ववेद मे भी हम समासोक्ति की सुपमा के दर्शन करते हैं, यथा—

वृक्ष यद्गाव परिष्वजाना अनुस्फुर शरमर्धन्तृषुम् ।  
शरमस्मद्यावप दिष्टमिन्द्र ॥

—अथर्व० १. २ ३

इस मन्त्र मे धनुषकोटि पर प्रत्यचा चढाना प्रस्तुत वर्ण्यविषय है। परन्तु परिष्वजाना इस विघेषण से अप्रस्तुत स्त्रीपुरुष के आलिंगन का व्यवहार आरोपित प्रतीत होता है।

रूपक—

दिध्य सुपर्णाञ्च वसि सोम ।

—ऋ० ९ ९७. ३३

एष वृषा कनिक्दशमि ।

—ऋ० ९ २८ ४

प्राह मृगाणां मातरमरभ्यानिमशसिषम् ।

—ऋ० १०. १४६ ६

मे सूर्य पर सुपर्ण, सोम पर वृषभ तथा अरण्यानी पर माता का आरोप होने से रूपक अलंकार का सौन्दर्य उभरता है।

अथर्ववेद मे भी रूपक की इस विच्छित्ति की क्षाकी देखी जाती है जो ऋग्वेद से उद्भूत हुई, यथा—

तस्योबनाय वृहस्पति शिरो ब्रह्म मुषम् ।

द्यावापृथिवी द्योत्रे सूर्यावग्रमसावसिणी सप्तऋषय प्राजापाना ।

—अथर्व० ११. ३ १-२

ब्रह्माय शीषं वृहस्य पृष्ठ वामदेव्यमुदरमोदनस्य ।

द्युर्वासि पशो मुषमभ्य सत्य विष्टारो जातस्तपतोऽपि यत् ॥

—अथर्व० ४. ३४. १

इन मन्त्रो मे ऋषि ने ओदन के सिर को बृहस्पति, मुख को ब्रह्म, छायापृथिवी को श्रोत्र, सूर्य-चन्द्र को नेत्र तथा सप्तर्षियो को प्राणापान कहकर सागरूपक का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

रूपक के ऐसे प्रयोग से स्पष्ट है कि अथर्ववेद के समय तक ऋषि की अभिव्यक्ति मे आलंकारिकता की वृद्धि हो रही थी और वैदिक भाषा साहित्यिक विकास की ओर अग्रसर थी । ऋषि अपने मनोभावो को अलङ्कृत शैली मे व्यक्त करने लगे थे ।

उत्प्रेक्षा—

ऋग्वेद मे उषावर्णन मे जहा उपमा के सुन्दर उदाहरण हैं, वहा उत्प्रेक्षा की भी विच्छिन्ति दर्शनीय है, जैसे—

एषा व्येनी भवति द्विर्वा .. ... ।

ऋतस्य पन्पानमन्वेति ताषु प्रजानतीव ... . ॥

—ऋ० ५ ८०. ४

मे उषापर व्येनी=शुभ्रवर्णा योषित् की सम्भावना की गई है । इसी प्रकार अथर्ववेद मे भी ऋषि ने उत्प्रेक्षा के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति को प्राजल रूप प्रदान किया है, जैसे—

दिव्य सुपर्णं स धीरो व्यह्यददिते पुत्रो भुवनानि विश्वा ।

—अथर्व० १३ २९

श्येनो नृचक्षुः दिव्य सुपर्णः सहस्रपाङ्कतयोनिष्वयोषाः ।

—अथर्व० ७ ४१ २

यहा अरुणवर्णं उज्ज्वल सूर्य पर पक्षी की कल्पना की गई है ।

आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं बोध्वन्तु सुवानथ उत्ता अजगरा उत ।

मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु ॥

—अथर्व० ४ १५ ९

यहा उत्प्रेक्षा की सुन्दर छटा है, क्योंकि वर्षा की स्थूल धाराओ की अजगर के रूप मे उत्कृष्ट कल्पना की गई है ।

## ० ३.२ वेदों में गुण

माधुर्य—

उद् वय तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम् ।

देव देवता सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

—ऋ० १ ५०. १०

सुमङ्गलीरिय धधूरिमा सनेत परयत ।

सौभाग्यमस्यं दत्वायाऽथास्त वि परेतन ॥

—ऋ० १० ८५ ३३

स्वादो स्वादीय स्वादुना सृजा समद. सु मधु मधुनाभि योधी ।

—अथर्व० ५ २ ३

तत तन्तुमन्वेके तरन्ति० ।

—अथर्व० ६ १२२. २

मधोरस्मि मधुतरो मधुघान्मधुमत्तर ।

मामित् किल त्व धना शाखा मधुमतीमिव ॥

—अथर्व० १ ३४ ४

मरुद्भि प्रच्युता मेघा धपन्तु पृथिवीमनु ।

आशामारा वि द्योतता वाता वान्तु विशो विश ॥

—अथर्व० ४ १५ ७८

ऊपर उद्धृत मन्त्रों में श्रुतिमुच्छ्रित तथा समास-रहित कोमल पदों का प्रयोग होने के कारण माधुर्य गुण है। इस गुण से इन मन्त्रों में नादमौन्दर्य तथा सुस्वरता में वृद्धि हुई है।

ग्रीज—

स हि शार्धो न मारुत तुविष्वग्निरप्नस्वतीपूर्वराष्ट्रिष्वष्टनिरार्तनास्त्रिष्वष्टनि ।  
आबद्ध्यान्पाददिव्यंतस्य केतुरर्हणा ।

अथ स्मास्य ह्यंतो ह्यीयतो विरवे जुयन्त पन्था नर शुभे न पन्थाम् ।

—ऋ० १. १२७. ६

एत शृषिपद्मसुरन्तरिषामष्टोता वेदियदतिपिदुरोणसत् ।

मृपद्मरसदुत्तसद् व्योमसदग्जा गोजा ऋतजा अग्निजा ऋतम् ॥

—ऋ० ४ ४० ५

हिरण्यभृङ्ग ऋषभ शातवारो अय मणि ।

दुर्णाम्नि सर्वास्तृद्भवाव रसात्पद्ममीत् ॥

—अथर्व० १९ ३६ ५

उतारव्यान्त्स्पृणुहि जातयेव उतारेभाणां ऋष्टिभिर्यातुघानान ।

—अथर्व० ८ ३ ७

इन मन्त्रो मे विकट पद-योजना, कठोर वर्णों तथा जटिल पदसघटना के कारण ओज गुण है ।

प्रसाद—

न नूनमस्ति नो इव कस्तद्वेद पद्वभुतम ।

अन्याय दित्तमभि सचरेष्यमुताधीत वि नश्यति ॥

—ऋ० १ १७० १

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परामुव ।

यद भद्र तन्न धासुथ ॥

—ऋ० ५ ८२ ५

स न पिता जनिता स उत बघुर्घामानि घेद भुवनानि विश्वा ।

यो देवाना नामध एक एव त सप्रश्न भुवना यन्ति सर्वा ॥

—अथर्व० २ १ ३

षत्तिष्ठति चरति पश्य चञ्चति पो निनाप चरति प प्रलङ्घुम ।

द्वौ सनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद वेद वरुणस्तृतीय ॥

—अथर्व० ४ १६ २

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्ता पावमानो द्विजानाम ।

आयु प्राण प्रजा पशु कीर्ति द्रविण ग्रह्यवर्चसम ।

मह्य दत्त्वा यजत ब्रह्मलोकम ॥

—अथर्व० १९ ७१ १

उपर्युक्त मन्त्रो मे सरल पद योजना है जिससे अर्थ की अनायास प्रतीति होती है, अत यहा प्रसाद गुण है ।

## ० ३ ३ वेदों से रीति

वैदर्भी—

षत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।  
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवोति महो वेनो मर्त्यो आ विवेश ॥

—ऋ० ४ ५८ ३

स गच्छेद्य स घदध्य सं वो मनासि जानताम् ।  
देवा भाग यथा पूर्वं सजानाना उपासते ॥  
समानो मन्त्र समिति समानो समान मनः सह चित्तभेषाम् ।  
समान मन्त्रमभि मन्त्रये ध समानेन वो हविषा जुहोमि ॥  
समानो व आकूति समाना हृदयानि व ।  
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति ॥

—ऋ० १०. १९१ २-४

अनुव्रत पितु पुत्रो मात्रा भवतु समना ।  
जाया पत्ये मधुमती वाच वदतु शन्तिवाम् ।  
मा भ्राता भ्रातर द्विक्षिन्मा स्वसारमुत स्वसा ।  
सम्भ्यञ्च सप्रता भूत्वा वाच वदत भद्रया ॥

—अथर्व० ३ ३० २-३

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापति ।  
प्रजापतिवि राजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी ॥  
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।  
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥  
ब्रह्मचर्येण बन्धा युवाव विन्दते पतिम् ।  
धनद्वान् ब्रह्मचर्येणारत्रो धास जिगीषंति ।  
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा भूयुमपाचनत ।  
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्य स्वराभरत् ॥

—अथर्व० ११ ५ १६-१९

गौडी—

द्व्यहा चिदस्मा धनु कुर्षया विवे तेजिष्ठान्नि-  
रणिमिर्वाष्टघवसेऽनये द्वाष्टघवसे ।  
प्र यं पुदणि गाहते तक्षद् वनेव शोचिषा ।  
स्विरा चिद्वन्ना नि रिणात्पोजसा नि स्विराणि द्विरोजसा ॥

—ऋ० १ १२७ ४

बंद विकृत्यमाना पीत्राद्य विमाज्यमाना  
 देवहेतिर्हियमाणा व्युद्धिहंता  
 पाप्माप्रिधीयमाना पाह्यमवधीयमाना  
 विष प्रयस्यन्तो तवमा प्रयस्ता  
 अद्य पच्यमाना दु प्वप्य पववा  
 मूलबर्हणी पर्याक्रियमाणा सिति पर्याकृता  
 अस्तता शन्धेन शुशुवाप्रियमाणासोविष उद्धृता  
 अभूतिरुपरिह्यमाणा पराभूतिरुपहृता  
 शर्वं क्रुद्ध पिश्यमाना शिमिदा पिसिता  
 अर्वातिररथमाना निरुहंतिरसिता  
 अशिता लोकाच्छिनसि ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चामुष्माच्च ॥

—अथर्व० १२५ (४) २८-३८

पाचाली—

इव श्रेष्ठ ज्योतिषा ज्योतिरागाच्चित्र प्रकेतो अजनिष्ट विम्बा ।  
 यथा प्रसूता सवितु सवार्य एवा राव्युपस्ये योनिमारंरु ॥

—ऋ० १. ११३ १

अग्ने नय सुपया रापे अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।  
 युयोध्यस्मज्जुहुराणमेतो भूयिष्ठां ते नम उर्वित विधेम ॥

—ऋ० १ १८९. १

सुत्रामाण पृथिवीं धामनेहस सुशर्मणमर्दितं सुप्रणीतिम् ।  
 र्वीं नाव स्वरित्रायनापसमस्रवन्तीमा हहेमा स्वस्तये ॥

—ऋ० १०. ६३ १०

सत्येनोत्तम्भिता भूमि सूर्येणोत्तम्भिता द्यौ ।  
 ऋतेनाद्विग्नान्स्निच्छन्ति दिवि सोमो अग्नि अत्रि ॥  
 सोमेनादित्या बलिन सोमेन पृथिवी सहो ।  
 अथो नक्षत्राणामेयामुपस्थे सोम आहित ॥

—अथर्व० १४ १ १-२

तस्माद् यत्तात् सर्वहृत ऋच सामानि जतिरे ।  
 दन्वो ह जतिरे तस्माद् यद्गुस्तस्मादजायत ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहृत समृत पृथदाज्यम् ।  
 पशुस्ताश्चक्रे वामय्यानारण्या प्राभ्याश्च ये ॥  
 सप्तास्यासन् परिघयस्त्रि सप्त समिध कृता ।  
 देवा यद्यज्ञ तन्वाना अबध्नन् पुरय पशुम् ॥  
 मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अशव सप्त सप्ताती ।  
 राज सोमस्याजायन्त जातस्य पुरयादधि ॥

—ऋग्वे० १९ ६ १३-१६

### ० ३ ४ वेदों में ध्वनि

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्, देवो देवान्धतुना पर्यमूयत् ।  
 यस्य शुष्माद्रोरमी अभ्यसेता नृम्णस्य मङ्गा स जनास इन्द्र ॥

—ऋ० २.१२ (इन्द्रसूक्त) १

यहा बात एव में पदगन ध्वनि है। इन्द्र ने उत्पन्न होते ही वह सामर्थ्य प्राप्त किया कि वह सभी देवताओं का राजा बन गया। बाद में ता कोई भी अपनी शूरता-वीरता में राज्य प्राप्त कर सकता है। पर इन्द्र ता उत्पन्न हात ही देवताओं का प्रधान बन गया। इस प्रकार एव शब्द ने इन्द्र के सामर्थ्य को अन्य की सामर्थ्य से पृथक् करके उसके माहात्म्य को चोतित किया है।

### इसी प्रकार—

परा हि मे विमन्यव पतन्ति वस्य इष्टये ।

वयो न वमनोरथ ॥ —ऋ० १ २५ (वरुणसूक्त).४

इस मन्त्र में शुन शेष द्वारा वरुण की स्तुति की जा रही है। उपमालकार द्वारा ऋषि ने यहा बताया है कि जिस प्रकार मायकाल में पक्षिगण जीवनकल्याण की भावना में स्वत ही घोंमलों की ओर दौड़ते हैं, इसी प्रकार वरुण की भक्ति होने पर सुखमय जीवन मेरी ओर स्वत दौड़ा आता है। इससे तात्पर्य निकला कि वरुण की भक्ति सुखमय जीवन प्रदान करने वाली है। अत वरुण ही मेव्य है।

### इसी प्रकार—

पुरय एवेद सर्वं यद्भूत यच्च भव्यम

उतामृतत्वस्परानो यदन्नेनानिरोहति ।

—ऋ० १०.९० (पुरयसूक्त).२



इस मन्त्र में भाविक अलंकार वाच्य तथा उससे 'सम्पूर्ण विश्व परमात्मरूप ही है। दृश्यमान जगत् तो एकमात्र जीवों के फलभोग के लिए परमात्मा द्वारा स्वशक्तिविरचित है', यह व्यंग्य है।

### ०३५ वेदों में औचित्य

इन्द्रो मातोऽवति तस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहु ।

तेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान् न नेमि परि ता बभूव ॥

—ऋ० १.३२ (इन्द्रसूक्त) १५

यहां वज्रबाहु विशेषण इन्द्र के लिए है। कितना ही बलवान् भी रिक्त-हस्त भला शत्रुओं का प्रतिरोध कैसे करे, और कौन उससे डरे, पर साधारण व्यक्ति भी यदि चमकीले शस्त्र को धारण कर मंदान में आ जाय तो उसके सामने कौन डटे। यहां भी ऋषि इसी हेतु इन्द्र के हाथ में वज्र देना चाहता है जिससे पर्वत भी उससे काप उठे। अतः उचित स्थान पर प्रयुक्त यह विशेषण इन्द्र की विशेषता तो बता ही रहा है, साथ ही अर्थ में भी एक नूतन चमत्कृति प्रदान कर रहा है। अतः यहां विशेषणौचित्य है।

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीम कुचरो गिरिष्ठा ।

पस्योर्यु त्रियु विक्रमणोऽवधिलियन्ति भूवनानि विश्वा ॥

—ऋ० १.१५४ (विष्णुसूक्त).२

यहां विष्णु के पराक्रम का वर्णन करते हुए ऋषि ने उसकी उपमा के लिए मृग (सिंह) को रखा है। वह भी साधारण नहीं अपितु पूरे बल के साथ, और उसकी सहायता को भीम, कुचर, गिरिष्ठा ने। भयंकर जंगल तथा ऊंची पहाड़ियों पर अपने पौरुष से एकछत्र राज्य करने वाले शेर के प्रताप को कौन नहीं मानता? इसी प्रकार अपने शत्रुओं की छाती पर मृग दलने वाले विष्णु के पराक्रम को कौन नहीं जानता? इसको बलपूर्वक प्रद्योतित करने के लिए उचित स्थान पर प्रयुक्त यह उपमेय-उपमानभाव अर्थत्फुटता के साथ चमत्कृति भी पैदा कर रहा है, अतः यहां अलंकारौचित्य है।

## १.१. वस्तुनिर्देश

अलंकार कवि की उक्ति को सुन्दर बनाता है। इसके प्रयोग से शब्द-अर्थ इस प्रकार सौन्दर्य से खिल उठते हैं जिस प्रकार वसन्त ऋतु के स्पर्श से शुष्क वृक्ष। ऋग्वेद से प्रारम्भ कर अद्यावधि सम्पूर्ण साहित्य में अलंकारों का प्रयोग हुआ है। अलंकार कवि के भाव को सुन्दर बनाने के साथ उसे सहृदय के हृदय में प्रतिबिम्बित भी करते हैं। 'मनुष्य आयु की वृद्धि के साथ बूढ़ा होकर मर जाता है', यह कथन न तो कला की दृष्टि से सुन्दर है और न ही इस कथन में बिम्बप्राहकता है। परन्तु उपमा अलंकार के प्रयोग में उपनिषद् का ऋषि इसी भाव को न केवल रमणीय रूप में उपस्थित करता है, अपितु उपयुक्त तुलना से इस भाव को पाठक के हृदय में भी उतार देता है—'सस्यमिव मत्स्यं पच्यते' जैसे सस्य पक जाता है वैसे ही मनुष्य भी। मनुष्य को सस्य से तुलना फिन्तनी उपयुक्त है। प्रतिदिन हम सस्य को पकते तथा नष्ट होते देखते हैं। इसी प्रकार हमारे सामने मेंकड़ो, हजारों व्यक्ति सस्य के समान पक कर जीर्ण हो जाते हैं, मर जाते हैं। इसी प्रकार महद्गुरुं वचमुद्यतम्<sup>१</sup> में ब्रह्म को वज्र से तुलना करके ब्रह्म की शक्तिमत्ता तथा प्रभावशालिता के अर्थ का ध्वनिनाद के साथ प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार भाषा को अलंकृत करने तथा भाव के बिम्ब को उतारने के लिए अलंकारों का महत्त्व है। इसी कारण जब से काव्य की मृष्टि हुई, तभी से उसमें सहज रूप में ही अलंकार का उन्मेष हुआ।

काव्य की महत्त्वपूर्ण सम्पदा, इन अलंकारों को परवर्ती साहित्य-शास्त्रियों ने तीन वर्गों में विभाजित किया— (१) शब्दालंकार, (२) अर्थालंकार, तथा (३) उभयालंकार। और, अलंकार का लक्षण किया—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये घर्भाः शोभातिशायिनः ।

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽद्गदरदिवत् ॥

—सा० द० १० १

१. कठ० १. ६

२. वही, ६. २

## १.२. शब्दालंकार

विश्वनाथ के अनुसार शब्दालंकार वे हैं, जो शब्दपरिवृत्तसह होते हैं अर्थात् किन्हीं विशेष शब्दों के रहने पर ही जो अलंकार रहते हैं, और उन विशेष शब्दों को बदल कर यदि उनके स्थान पर उनके पर्यायवाचक अन्य शब्द रख दिए जाए तो उन अलंकारों की स्थिति नहीं रहती। वे अलंकार उन विशेष शब्दों के ही आश्रित होने से शब्दालंकार कहलाते हैं, जैसे—अनुप्रास, धमक, श्लेष आदि। इन शब्दालंकारों में शब्दविशेष के उसी रूप में बने रहने पर ही अलंकार रहता है, शब्द परिवर्तन करने या उसका समानार्थक अन्य शब्द उसके स्थान पर प्रयोग करने से अलंकार नहीं रहता। जैसे—त वेद्या विद्ये नूनम् ' में वकार तथा धकार वर्णों की समानता से अनुप्रास अलंकार है। यहाँ वेद्या शब्द का समानार्थक प्रजापति शब्द उसके स्थान पर प्रयोग करने से वर्णसाम्य न रहने के कारण अनुप्रास अलंकार नहीं होगा। अतः वेद्या विद्ये इन शब्दों का इसी रूप में प्रयोग होने से ही अनुप्रास अलंकार है। इस प्रकार शब्द परिवृत्ति सहन न कर सकने के कारण अनुप्रास शब्दालंकार है।

### १२१ अनुप्रास

अनुप्रास अलंकार से काव्य में नाद-सौन्दर्य उत्पन्न होता है। ऋग्वेद में लेकर आधुनिक साहित्य तक में अनुप्रास का प्रचुर प्रयोग देखने में आता है। समान वर्णों की आवृत्ति से विलक्षण ध्वनि सौन्दर्य उत्पन्न होता है जिसे अर्थ का ज्ञान न होने पर भी श्रोता समान वर्णों के उच्चारण में प्रभावित हो जाता है। अनुप्रास की व्युत्पत्ति है—अनु—रमानुगत, प्र—प्रवृष्ट, न्यास—अनुप्रास अर्थात् रमादि के अनुबल वर्णों का प्रवृष्ट सन्निवेश अनुप्रास अलंकार है। अनुप्रास में स्वरों का भेद होने पर भी केवल व्यंजनो की समानता ही अभिप्रेत है।

विश्वनाथ ने अनुप्रास का लक्षण करते हुए लिखा है—

अनुप्रासः शब्दसाम्यं येषाम्बेर्जपि स्वरस्य पत् ।

—सा० द० १० ३

अनुप्रास के पांच भेद किए गए हैं—

छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास ।

उपनिषदों में अनुप्रास के अनेकानेक उदाहरण उपलब्ध हैं । कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

छेकानुप्रास—

स्येको व्यजनसथस्य सद्दृत्साम्यमनेकथा ।

—सा० द० १०. ३

निम्नलिखित मन्त्रों में व्यजनसथ की एक या अनेक बार प्रावृत्ति के कारण छेकानुप्रास अलंकार है—

स पर्यगाच्छुक्नकायमन्नमन्नाविर शुद्धमपापविद्धम् ।

ऋविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्ग्रायानभ्यतोऽर्जान् व्यदधाच्छाश्वतोभ्यः समाम्य ॥

—ईश० १ ८

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्यच्छति नो मन ।

न विज्ञो न विजानीमो पर्येनदनुरिष्यान् ॥

—केन० १. ३

अनुपश्य यथा पूर्वं प्रतिपश्य तयाऽपरे ।

सन्प्रमिव मर्त्यं पच्यते सन्प्रमिवाऽऽजायते पुन ॥

—कठ० १ ६

त्रिशाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धि त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।

ब्रह्मजज्ञ देवमीदृय त्रिदित्वा निचास्येना शान्तिमत्यन्मेति ॥

—कठ० १. १७

यत्र सुप्तो न वञ्चन कानं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुपुणम् ।  
सुपुणस्यान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवातन्द्रमयो ह्यानन्दमुक् चेतोमुख प्राज्ञस्तृतीयः  
पादः ॥

—मा० ५

द्वे वाव ग्रहणो रूपे मूर्ते चंचामूर्ते च भर्त्यं चामूर्तं च स्थितं चयच्च सच्च  
त्यच्च ॥

—वृ० २. ३. १

याज्ञवल्क्य किञ्चोत्तिरेय पुरुष इति । आदित्यज्योतिः सन्नाडिति होषाच्च ।  
आदित्येनेक्षाय ज्योतिषाऽस्ते पत्ययते कर्म कुशते विपश्येतीति । एवमेवंतदुपासवत्स्य ॥

—वृ० ४ ३ २'

वृत्त्यनुप्रास—

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद् वाच्यनेकधा ।

एकस्य सकृदप्येव वृत्त्यनुप्रास उच्यते ।

—सा० ६० १० ४

निम्नलिखित मन्त्रों में एक व्यजन की एक वार या अनेक  
वार अथवा अनेक व्यजनों की एक वार या वार-वार आवृत्ति होने  
से वृत्त्यनुप्रास अलंकार है ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैर्ब्रामुद् विजानतः ।

तत्र को भोह क शोक एतत्त्वमनुपश्यत ॥

—ईश० ७

अथ तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रता ॥

—ईश० १२

केनेपि पतति प्रेषित मन केन प्राण प्रथम प्रीति युक्त ।

केनेपिता वाचमिमो वदन्ति चक्षु धोत्र क उ देवो युनक्ति ॥

—केन० १ १

इमा रामा सरया सतूर्पा न हीदृशा सम्मनीया मनुष्यैः ।

आभिमंतप्रत्तामि परिवारयस्व नचिकेतो मरण माऽनुप्राक्षी ॥

—वठ० १ २५

मादित्यो ह र्यं प्राणो रविरेव चन्द्रमा ।

रविर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च । तस्मान्मूर्तिरेव रवि ॥

—प्रश्न० १ ५

ग्रन्थानि द्रष्टव्य —मु० १-२, छा० २ १ २, वृ० १.३.८, १ ३.१७,  
१ १ १३, १ ३ १५, १.३ १५, १ ३ १६, ४.३ ३, ४.३ ६, स्वे० २.१३

कामान् य कामयते मन्यमान स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।

पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥

—मु० ३ २. २

एष सर्वेश्वर । एष सर्वज्ञ । एषोऽन्तर्यामी । एष योनि सर्वस्य ।  
प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥

—मा० ६

भूगुर्वे वारुणि । वरुण वितरमुपसत्तार । ... । त होषाव—यतो वा  
इमानि भूतानि जायन्ते येन जानानि जीवन्ति । यत्प्रयन्यमित्त-  
विशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति । स तपोऽप्यत स  
तपस्तपसा ॥

—ते० ३ १. १

सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस सर्वमिदमभ्यातोऽवाक्यनादर --  
शाण्डिल्य ॥

—छा० ३. १४. ४

किं कारणं ब्रह्म कुत स्म जाता जीवाम केन वद सप्रतिष्ठा ।

अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥

—श्वे० १. १

छन्दासि यज्ञाः ऋतवो ऋतानि भूत भन्य यच्च वेदा वदन्ति ।

अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिन्चाप्यो मायया सनिष्ठ ॥

—श्वे० ४ ९'

लाटानुप्रास—

शब्दार्थयो पीनक्षत्प भेदे तात्पर्यमाव्रत ।

लाटानुप्रास इत्युक्त ... ॥ —सा० द० १०. ७

शब्द और अर्थ की पुनरुक्ति होने पर अन्वयमात्र से तात्पर्य में  
भेद हो जाने के कारण निम्नलिखित मन्त्रों में लाटानुप्रास अलकार है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।

यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥

—केन० २ २

१. अन्वय द्रष्टव्य — ईश० १.९; केन० १.१, १.५, १.६; केन० २.३,  
कठ० १.१५, १.१७, १. २०, १ २१, १.२४, १.२६-२९, २.८, २. १३, २.१९,  
२ २०; मु० १.२.४, ३.१-१; मा० ५. ११, श्वे० १. ५, १.६, १.९, १.१६,  
२.२, २.४, २ १०, ३ २, ४.१०. ४.१२, ५.६, ६.१०, ६.१४ ।

यहा तदवेद-तदवेद तथा वेद-वेद समानार्थक पदों की पुनरावृत्ति है, किन्तु एक वेद का न के साथ अन्वय कर देने से तात्पर्य में भेद हो जाता है। यथा, तद् न वेद, तदवेद य च वेदेति न वेद अर्थात् 'जो उसे नहीं जानता वही जानता है और (जो कहता है) मैं उसे जानता हूँ वह नहीं जानता।' तात्पर्य यह है कि जो ईश्वरविषयक ज्ञान का अभिमान करता है, वह वस्तुतः उसे नहीं जानता, और जो ऐसे अभिमान से अलिप्त है वह उसे जानता है।

अन्त्यानुप्रास—

व्यञ्जन चेद्यथावस्य सहाद्येन स्वरेण तु ।

आवत्यंतेऽत्ययोग्यत्वादन्यानुप्रास एव तत् ॥

—सा० द० १० ६

पहले स्वर के साथ ही यदि यथावस्य व्यञ्जन की आवृत्ति हो, तो वह अन्त्यानुप्रास कहाता है। यथा—

यथादर्शो तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।

यथाप्सु परीव ददुसे तथा गन्धर्वलोके ध्यामानपयोरिव ब्रह्मलोके ॥

—कठ० ६ २

एवम्,

इन्द्रियेभ्य पर मनो मनस सत्वमुत्तमम् ।

सत्त्वावधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥

—कठ० ६. ७

यहा प्रथम मन्त्र के अन्त में लोके, लोके तथा द्वितीय मन्त्र के अन्त में उत्तमम्, उत्तमम् पदों की समानता से अन्त्यानुप्रास है।

श्रुत्यनुप्रास—

उच्चार्यंवापदेव स्वाने तानुरवादिषे ।

सादृश्य व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ॥

—सा० द० १०. ५

तालु, कण्ठ, मूर्धा, दन्त आदि किसी एक स्थान में उच्चरित होने वाले व्यञ्जनो की (स्वरो की नहीं) समता को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं। यथा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक  
नेमा विद्युतो भाति कुतोऽप्यमग्नि ।  
तमेव भान्तमनुभानि सर्वं  
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—कठ० ५ १५

इस मन्त्र में तालव्य त और स तथा ओष्ठ्य म, ओं म वणा की आवृत्ति होने के कारण श्रुत्यनुप्रास अलकार है।

१२२. यमक

अनुप्रास में व्यञ्जनो की आवृत्ति होती है तो यमक में स्वर-व्यञ्जन-समुदाय की आवृत्ति होती है। परन्तु, यह आवृत्ति उसी क्रम से होनी चाहिए। उसी क्रम की आवृत्ति न होने पर यमक नहीं होगा। आवृत्त वर्ण-समुदाय का एक अक्ष या सर्वाक्ष या तो निरर्थक होना चाहिए और यदि वह सार्थक है तो उसका भिन्न अर्थ होना चाहिए। इस प्रकार दमो मोद में आवृत्ति होने पर भी क्रमभेद के कारण यमक नहीं है, तथा सर सर में यदि दोना स्थलो पर तालव्य यह एक ही अर्थ है तो क्रम से सर की आवृत्ति होने पर भी भिन्नार्थ न होने से यमक नहीं है।

विश्वनाथ ने यमक का लक्षण दिया है—

सत्यर्थे पृथगर्थाणां स्वरव्यञ्जनसहते ।  
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥

—सा० द० १० ८

यथा—

विद्या चाविद्या च यस्तद्वैदोभय सह ।  
अविद्याया मृत्युं तोर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते ॥

—ईश० ११

इस मन्त्र में विद्याम्, विद्याम् दो पदो की आवृत्ति है, किन्तु प्रथम विद्याम् पद सार्थक तथा द्वितीय विद्याम् पद अकार के बिना निरर्थक



होने से सार्थक और निरर्थक पदों का यमक है। इसी प्रकार द्वितीय पाद में विद्यया, विद्यया की आवृत्ति में प्रथम पद निरर्थक तथा द्वितीय सार्थक होने के कारण यमकालकार है।

यस्यामत तस्य मत मत यस्य न वेद म ।

अविज्ञात विज्ञानता विज्ञातमविज्ञानताम् ॥

—केन० २ ३

यहां अविज्ञातम्, विज्ञातम् में विज्ञातम्, विज्ञातम् तथा विज्ञानताम्, अविज्ञानताम् में विज्ञानताम्, विज्ञानताम् पदों की आवृत्ति होने से यमकालकार है।

विशेष—अमतम् मतम् में मतम्-मतम् की ही, निरर्थक और सार्थक वर्णों की आवृत्ति के कारण यमकालकार प्रतीत हो रहा है, परन्तु तृतीय मतम् को यमक में परिगणित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह द्वितीय मतम् में भिन्नार्थक नहीं। अतः प्रथम पक्ति में विरोधाभास अलंकार मानना उचित होगा। केवल द्वितीय पक्ति में ही सार्थक और निरर्थक स्वर-व्यंजन-समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति के कारण यमकालकार है।

तदेतदिति मग्नन्ते निर्देश्यं परम सुखम् ।

कथं नु तद्विजानीया किमु भाति विभाति वा ॥

—कठ० २. १४

यहां भाति भाति में सार्थक और निरर्थक वर्णों की आवृत्ति होने से यमकालकार है।

पदेतद् हृदय मनश्चंततः । सज्जानमाज्ञान विज्ञान प्रज्ञान मेधा वृद्धि-  
धृतिर्मतिर्मनीषा जूति स्मृति ... नामधेयानि भवन्ति ॥

—ऐत० ३ १. २

यहां तीन बार ज्ञान की आवृत्ति हुई है, जो कि स्वर और व्यंजन की समानता रखते हुए भी, तीनों बार निरर्थक होने के कारण यमकालकार है।

एषां मतानां पृषिवो रस, पृषिव्या आपो रस,

अपाभोषयो रस, ओषधीनां पुरयो रसः,

पुरयस्य धारसो, वाच श्रुषस, श्रुचं साम रस,

साम्ना उद्गीषो रस ॥

—छा० १. १. २

यहा रस पद की सार्थक रूप से अनेक वार आवृत्ति होने पर भी प्रत्येक वार आश्रय, कारण, सार, कान्ति आदि भिन्नार्थ करने पर यमकालंकार है ।

स्रर प्रधानममृताक्षर हर क्षरात्मानावीशते देव एक ।

तस्याभिध्यानाद्योजनात्त्वभावाद् मूयरावन्ते विश्वमापानिवृत्ति ॥

—श्वे० १ १०

यहा क्षरम्, क्षरम् मे सार्थक और निरर्थक वर्णों की आवृत्ति के कारण यमकालंकार है ।

य एको जालवानोरात ईशनीभि सर्वात्लोकान्तीशत ईशनीभि ।

य एवंक उद्गवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

—श्वे० ३. १

इस मन्त्र के प्रथम भाग मे ईशनीभि पद की आवृत्ति है, जो कि सार्थक होने पर भी शांकरभाष्य के अनुसार ईशनीभिः (स्वशक्तिभि), ईशनीभि. (परमशक्तिभि)—भिन्नार्थक है । अतः भिन्नार्थक रूप से ईशनीभि की आवृत्ति मानने से यहा यमकालंकार होगा । मन्त्र के द्वितीय भाग मे उद्गवे सम्भवे मे भवे भवे शब्दों मे निरर्थक वर्णों की आवृत्ति मानने से यमकालंकार है ।

### १ २ ३ वक्रोक्ति

वक्र—कूटिल तथा विचित्र, उक्ति कथन वक्रोक्ति है । यद्यपि वक्र वचन सभी अलंकारों का मूल है, जैसा कि भागह ने कहा है—

संपा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाष्यते ।

यतोऽस्या कविना कार्यं कोऽलंकारोऽनया विना ॥

—का० अ० २. ८५

फिर भी खट्ट के समय से वक्रोक्ति को पृथक् अलंकार का स्थान मिला है । भामह की वक्रोक्ति, जिसके आधार पर कुन्तक ने स्वतन्त्र वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना की, परवर्ती अलंकारयुग मे सीमित होकर अनुप्रास, यमक आदि के समान साधारण अलंकार मात्र रह गई ।

वक्रोक्ति में श्रोता द्वारा वक्रता के अन्यायक वाक्य को श्लेष या काकु के द्वारा किनी अन्य अर्थ में गृहण कर लिया जाता है। इसी वक्रता में वक्रोक्ति का सौन्दर्य है। इसकी गणना शब्दालंकारों में की जाती है, क्योंकि इसमें शब्द परिवृत्तसह होते हैं।

विश्वनाथ ने वक्रोक्ति का लक्षण किया है—

अन्यस्यान्यार्थक वाक्यमन्यया योजयेद्यदि ।

अन्य श्लेषेण वाच्यं वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥

—सा० २० १० ९

वक्रोक्ति के मूल में श्लेष या काकु होता है, अतः वक्रोक्ति दो प्रकार की हो जाती है—(१) श्लेष-वक्रोक्ति और (२) काकु-वक्रोक्ति।

काकु-वक्रोक्ति—

शब्द से तात्पर्य भिन्न कण्ठ-स्वनि से है। जहाँ गले की आवाज से अर्थ में परिवर्तन किया जाए, वहाँ काकु-वक्रोक्ति अलंकार होता है। यथा—

स ईक्षत कथं त्विदं भद्रं तेषां इति स ईषत कनरेण प्रपञ्चा इति । स ईक्षत यदि वाचाऽभिप्रेत्याह तदि प्राणोनामिप्राणिन यदि घण्टया दृष्टं यदि धोत्रेण घृतं यदि त्वजा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानिन यदि शिरसेन विमृष्टमप कोऽहमिति ।

—ऐत० १ ३. ११

इस मन्त्र के कोऽहमिति (मैं कौन हूँ?) भाग में कण्ठस्वनि से रूप नहीं अर्थ की प्रतीति हाने में काकुवक्रोक्ति अलंकार है। इसी प्रकार,

न त्विदं तेषु उच्छिद्यते इति । न वा अजीविद्यमिमानाश्चादन्विनि होषाष ।

—छा० १ १० ४

यहाँ न त्विदं एते अपि उच्छिद्यते वा मोक्षा अर्थ में (कुन्माप) उच्छिद्य नहीं है इन प्रकार है, किन्तु कण्ठ स्वनि के परिवर्तन में क्या वे कुन्माप उच्छिद्य नहीं हैं? अर्थात् हैं इस अर्थ-परिवर्तन के कारण काकु-वक्रोक्ति है।

## १.२.४. श्लेष

प्रायः सभी भाषाओं में एक वैचित्र्य है कि उनमें विभिन्न अर्थों के द्योतक कुछ न कुछ शब्द पाए जाते हैं। जो शब्द पहिले किसी विशेष अर्थ का बोधक होता था, वही कालान्तर में किसी अन्य अर्थ का बोधक हो जाता है। इस प्रकार एक ही शब्द अनेकार्थक बन जाता है। अलंकारशास्त्र में शब्द की इस अनेकार्थबोधक विच्छिन्नता को श्लेष अलंकार माना जाता है। इस अलंकार की शोभा इस बात में है कि एक ही कथन में अनेक अर्थों की प्रतीति हो। एक शब्द से अनेक अर्थों का बोध इस अलंकार में वैचित्र्य लाता है। इस प्रकार यह अलंकार मौलिक रूप में अन्य अलंकारों में भिन्न है।

श्लेष की व्युत्पत्ति है—द्विष्येते अर्थावस्मिन्निति श्लेषः। श्लिप् का अर्थ है—चिपकना, मिनना, जुड़ना। इस अलंकार में एक शब्द में अनेक अर्थ चिपके रहते हैं। ये कभी जतुकाष्ठन्याय में तथा कभी एकवृन्तगत-फलद्वयन्याय से जुड़ते हैं। अतः श्लेषण (चिपकने) के कारण इन अलंकार को श्लेष कहा जाता है।

मामह ने अप्रत्यक्ष रूप में श्लिष्ट नाम में श्लेष को स्वीकार किया है। तदनन्तर, दण्डी ने श्लेष का काव्यगुण तथा अलंकार के रूप में प्रतिपादन किया। उद्भट ने भी इसे श्लिष्ट नाम से स्वीकार किया। सर्वप्रथम वामन ने श्लेष नाम का प्रयोग किया है। तत्पश्चात् रद्रट, रघ्यक, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इसे मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

श्लेष अलंकार का महत्त्व इस बात में है कि यह रूपक, समासोक्ति आदि अनेक अलंकारों के मूल में विद्यमान रहता है। यह उपमा के समान स्वतन्त्र होने पर भी सकल अलंकारों का अनुग्राहक होने के कारण कवि के कथन में नवीन शोभा का आधान करता है। दण्डी ने श्लेष के महत्त्व को प्रकट करते हुए कहा है—

श्लेषः सर्वाणि पुष्पाति प्रायः बभ्रोस्त्रिषु द्विषम् ।

—काव्यादर्श २. ३६३

विश्वनाथ ने श्लेष का लक्षण निम्न प्रकार से किया है—

द्विसष्टं पदंरनेकार्पाभिधाने श्लेष इत्यते ।

—सा० द० १०. ११

श्लेष के प्रथम दो भेद हैं—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष । शब्द-श्लेष के भेद हैं—सभगश्लेष, अभगश्लेष, उभयश्लेष । प्रकृति, प्रत्यय आदि के भेद से परवर्ती आचार्यों ने शब्दश्लेष के अनेक भेदोपभेदों का विवेचन किया है । कुछ उदाहरण देखें—

स तस्मिन्नेवाकाशे स्थियमाजगाम बहुरोभमानामुमां हैमवतीं तां  
होवाच किमेतद् यक्षमिति ॥

—केन० ३. १२

इस मन्त्र में हैमवती शब्द में एकवृन्तगतफलद्वयन्याय से (१) हिमालयकी पुरी तथा (२) स्वर्णमयी, इन दो अर्थों की प्रतीति होने में शब्दश्लेष अलङ्कार है ।

अजामेका लोहितशुक्लवृष्णा बह्वी प्रजा सृजमाना सत्पा ।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगामजोऽन्य ॥

—श्वे० ४. ५

इस मन्त्र में अजा शब्द में प्रकृति तथा वकरी एवं अज शब्द में जीव तथा वकरा अर्थ होने में शब्द के परिवृत्त्यमहत्व के कारण शब्द-श्लेषालङ्कार है ।

## १-३. अर्थालंकार

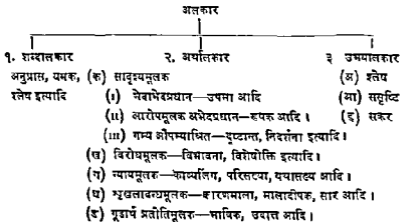
अर्थालंकार शब्दपरिवृत्तिसह होते हैं अर्थात् यदि उनमें शब्दों का परिवर्तन करके उनके समानार्थक दूसरे शब्द प्रयुक्त कर दिए जाएं तो भी वहां अलंकार की कोई हानि नहीं होती। ये अलंकार शब्द के आश्रित न होकर अर्थ के आश्रित होते हैं अतः अर्थालंकार कहलाते हैं। जैसे—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि। यथा—

तस्येन्द्रियान्यवशानि दुष्टाश्वा इव सारथे ।

—कठ० ३ ५

इस मन्त्र में अवश इन्द्रियो की तुलना दुष्ट अश्वों से की गई है। अतः यहाँ उपमा अलंकार है। यह अर्थालंकार है क्योंकि दुष्टाश्वा के स्थान पर दुष्टहया, दुष्टतुरगा आदि उसके किसी पर्यायवाची शब्द का प्रयोग करने पर भी उपमा अलंकार बना रहता है तथा उससे अर्थ के सौन्दर्य में ह्रास नहीं होता। अतः शब्द-परिवर्तन सहन करने के कारण एव समानार्थक अन्य शब्द का प्रयोग करने पर भी अलंकार का सौन्दर्य यथावत् बने रहने से यहाँ उपमा अर्थालंकार है। इसी प्रकार रूपक, उत्प्रेक्षा आदि भी अर्थालंकार हैं।

इन अलंकारों को पुनः अनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, जैसे—सादृश्यमूलक, विरोधमूलक, तर्कन्यायमूलक इत्यादि।



## १.४. सादृश्यमूलक अर्थालंकार

वे अलंकार, जिनका आधार तुलना या समानता है सादृश्यमूलक अलंकार कहे जाते हैं, जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, भ्रान्तिमान् इत्यादि। मुख चन्द्र के समान है (उपमा), मुख चन्द्र है (रूपक), मुख मानो चन्द्र है (उत्प्रेक्षा), मुख है या चन्द्र (सन्देह), मुख नहीं, चन्द्र है (अपहनुति)—इन सब अर्थालंकारों में सादृश्य का भाव विद्यमान है। इन अलंकारों का बीज सादृश्य है। अतः सादृश्य के आधार पर अवस्थित होने के कारण इनको सादृश्यमूलक अलंकार कहते हैं।

इन सादृश्यमूलक अलंकारों में भी कुछ अलंकार, जैसे उपमा आदि, ऐसे हैं जिनमें सादृश्य होने पर उपमेय-उपमान में भेद बना रहता है। अतः इन्हें भेदाभेदप्रधान सादृश्यमूलक अलंकार कहते हैं। जैसे, मुख चन्द्र के समान सुन्दर है—इस उपमा में मुख और चन्द्र में भेद भी है और हृद्यत्व, रमणीयत्व आदि साधारण धर्मों के कारण अभेद भी। अतः उपमा भेदाभेदप्रधान सादृश्यमूलक अर्थालंकार है।

वे अलंकार, जिनमें सादृश्य होने पर उपमान उपमेय में आरोप मूलक अभेदप्रतीति होती है अभेदप्रधान सादृश्यमूलक अलंकार कहलाते हैं। जैसे 'मुख चन्द्र है' यहाँ रूपक में, 'मुख नहीं, चन्द्र है' यहाँ अपहनुति में, मुख (उपमेय) तथा चन्द्र (उपमान) की अभेदप्रतीति होती है। अतः ये अभेदप्रधान सादृश्यमूलक अलंकार हैं।

वे अलंकार, जिनमें तुलना का अर्थ साक्षात् तुलनायुक्त शब्दों में वाच्य न हाकर अनुक्त अर्थात् व्यत्यय होता है, गम्य धीपम्याश्रित सादृश्यमूलक अलंकार कहलाते हैं। जैसे—दुष्टान्त, दीपक आदि।

### १.४.१. उपमा

मह्युत-साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने सादृश्य, विरोध, लोभन्याय आदि के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण किया है। इनमें सादृश्य-मूलक अलंकारों का प्राण उपमा मानी गई है। अतः एक सादृश्यमूलक

अलंकारो मे सर्वप्रथम उपमा का ही विवेचन किया जाता है। काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने मुक्तकण्ठ से उपमा की महिमा गाई है—

अलंकारशिरोरत्न सर्वस्य काव्यसम्पदाम् ।

उपमा कविशस्य भातवेति मतिर्नम ॥

—राजशेखर, अलंकार-शेखर के पृ० ३२ पर

मुख चन्द्र है (रूपक), मुख और चन्द्र शोभा देते हैं (दीपक), मुख है या चन्द्र है (सन्देह), मुख नहीं, किन्तु चन्द्रमा है (अपह्नुति) इत्यादि वाक्यों में उपमा ही रूपक आदि सादृश्यमूलक अलंकारों का बीज है।

उपमा सबसे प्राचीन अलंकार है। वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों तक में तुलना के लिए उपमा का प्रचुर प्रयोग हुआ है। मैत्र्युपनिषद में तो उपमा का अलंकार के रूप में उल्लेख है और इसके विभिन्न भेदों का भी विवेचन है। याम्क, भरत, अग्निपुराण-कार, भामह, उदभट, दण्डी आदि आचार्यों ने उपमा को अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।

उपमा के लोकप्रिय होने का प्रमुख कारण यह है कि इस अलंकार में वक्ता एक पदार्थ की अन्य पदार्थ से तुलना करके अपने भावों का सफलता तथा प्रभाव के साथ सम्प्रेषण करने में समर्थ होता है। अत एव न केवल ऋग्वेद तथा अथर्ववेद, जिनमें उच्चकोटि के काव्यत्व का दर्शन होता है, अपितु दार्शनिक विचारधारा से ओतप्रोत उपनिषदों में भी ऋषियों ने अपनी अभिव्यक्ति को सुन्दर रूप देने के लिए उपमा का खुल कर प्रयोग किया है।

उपमा में दो परस्पर भिन्न पदार्थों की तुलना होती है और इस तुलना का आधार होते हैं ऐसे धर्म जो दोनों पदार्थों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं। जैसे मुख और चन्द्र दोनों विभिन्न पदार्थ हैं। मुख भूमि पर विद्यमान है, परन्तु चन्द्र आकाश में। किन्तु आकृति, स्थान आदि के भेद से, एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी, दोनों में समानता के सूचक हृद्यत्व, रमणीयत्व आदि कुछ साधारण धर्म होते हैं जिनके कारण मुख की चन्द्रमा से तुलना की जाती है। जैसे चन्द्रमा का दर्शन हृदय को आह्लादित करता है वैसे ही मुख भी। जैसे चन्द्रमा रमणीय



है वैसे मुख भी । गुणों की इस समानता के आधार पर ही मुख की चन्द्र से तुलना की जाती है । यही कारण है कि वैदिक ऋषियों ने जब कभी प्राकृतिक, बाह्य जगत् तथा आध्यात्मिक जगत् में परस्पर साम्य का अनुभव किया उनकी वाणी उपमा से सुसज्जित हो गई । उपा का भव्य सौन्दर्य हो या दैत्याकार मेघों की विकट गर्जना, शान्त स्निग्ध समीर हो या प्रचण्ड प्रकम्पन, बाह्य जगत् का वर्णन हो या आध्यात्मिक चिन्तन, सर्वत्र सरल में सरल एव सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों का प्रतिपादन करते हुए ऋषियों की अभिव्यक्ति उपमा के प्रयोग से न केवल स्पष्ट, सहज अपितु सुन्दर तथा प्रभावशाली भी बन पड़ी है । क्योंकि उपमा उल्लस तथा गम्भीर विचारों को भी स्पष्ट तथा सुन्दर बना देती है, इसी लिये यह सर्वप्रिय है । ऋग्वेद के काल से आज तक, यहाँ तक कि जनसाधारण के वार्तालाप तक में इस का खुलकर प्रयोग होता है । अन्य श्लेष, वक्रोक्ति आदि अलंकारों की अपेक्षा उपमा वाणी का स्वाभाविक अत्यन्तसिद्ध अलंकार है, इस कारण से भी इस अलंकार का अत्यधिक महत्त्व है ।

उपमा शब्द की व्युत्पत्ति है—उप+मा, उप (उपमानस्य) समीपे मीयते तुल्यतया परिच्छिद्यते उपमानेन कर्त्ता उपमेय कर्म अस्याम्, इस व्युत्पत्ति से उपमा का यह स्वरूप स्पष्ट होता है कि इस अलंकार में दो विभिन्न पदार्थों की परस्पर सादृश्य के आधार पर समानता प्रदर्शित की जाती है । इस समानता का उद्देश्य होता है उपमेय का उत्कर्ष या अपकर्ष प्रदर्शित करना । विश्वनाथ ने उपमा का लक्षण दिया है—

साम्य वाच्यमबंधम्यं वाच्यं कवे उपमा द्वयो ।

—सा० ६० १० १४

प्राचार्यों ने उपमा के अनेक भेदप्रभेदों का विवेचन किया है । दण्डी ने उपमा के अनेक रूपा का विवेचन किया । उसके उपमा-भेदवाद में स्वतन्त्र अलंकार बन गए । मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने उपमा के २५ भेद स्वीकार किए हैं । परन्तु इन भेदों का सौन्दर्य को दष्टि में विनियम महत्त्व नहीं है, क्योंकि इन भेदों का आधार व्याकरण के कुछ नियम हैं, जैसे सादृश्यसाधक क्यद्, क्यच् आदि प्रत्ययों का प्रयोग । पर, पूर्णोपमा और नुप्तोपमा ये दो भेद सर्वमान्य रहे हैं ।

## १.४ २. पूर्वोपमा

सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाची च ।

उपमेय चोपमान भवेद्वाच्यम् इय पुन ॥

—सा० २० १० ११

जहा उपमेय, उपमान, वाचक शब्द तथा साधारण धर्म सभी वाच्य हो, वहा पूर्वोपमा अलंकार होता है। यथा—

पस्तु विज्ञानवान भवति युवतेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाणि बभूवन्ति सदसवा इव सारथे ॥

—कठ० ३ ६

इस मन्त्र में ऋषि ने विज्ञानवान् व्यक्ति की सयत इन्द्रियो की तुलना सारथि के बशीकृत घोडो से की है। यहा इन्द्रियाणि उपमेय सदसवा उपमान, इव वाचक शब्द तथा बभूवन्ति साधारण धर्म है। उपमा के चारो घटको का स्पष्ट उल्लेख होने से यहा पूर्वोपमा है।

यहा उपमा का प्रयोग किसी आलंकारिक कवि के समान ध्रमसाध्य न होकर अत्यन्त सहज रूप से हुआ है। दैनन्दिन जीवन से सम्बद्ध सारथि के बशवर्ती घोडो का उदाहरण देकर ऋषि को अपने भावसम्प्रेषण में उपमालंकार के इस अचिन्तित प्रयोग से अनायास ही अभीष्ट सफलता मिली है।

उल्लेखनीय है कि औपनिषदिक कवियो में रथ, घोडे, लगाम, सारथि आदि, जीवन में प्रतिदिन दृष्टिगोचर होने वाले एव प्राय अनुभूत तथा प्रयुक्त भौतिक पदार्थों के माध्यम से आध्यात्मिक विषयो को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति अनेकत्र पाई जाती है। उपमान योजना के लिए उपनिषत्कार कल्पनालोक, दिव्यलोक अथवा महत्त्वपूर्ण पदार्थों का आश्रय न लेकर सामान्य जीवन में प्राय उपलब्ध उपमानों का प्रयोग करते हैं। इनके गुन्दर उदाहरण निम्नलिखित मन्त्रों में देखे जा सकते हैं।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुवतेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाण्यवर्यानि हुत्सारावा इव सारथे ॥

—कठ० ३. ५

इस मन्त्र मे ऋषि ने अविज्ञानवान् व्यक्ति की इन्द्रियो की तुलना दुष्ट घोडो से की है। उपमेय, उपमान, वाचक शब्द तथा साधारण धर्म का प्रयोग होने से यहा पूर्णोपमा अलकार है।

अनुपश्य यथा पूर्वं प्रतिपश्य तथाऽपरे।

सस्यमिव सस्य पच्यते सस्यमिवाऽऽजापते पुन ॥

—कठ० १ ६

इस मन्त्र मे कृपक जीवन मे सामान्यत उपलब्ध उपमान के द्वारा कर्मवश जन्म और मृत्यु के नियम को कवि ने स्पष्ट किया है। यहा मत्स्य उपमेय, सस्य उपमान, इव उपमावाचक पद तथा पच्यते, आजापते (नाश और उत्पत्ति) साधारण धर्म है।

इसी प्रकार—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भं इव सुभृतो गर्भिणीभिः।

दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः। एतद्वं तत् ॥

—कठ० ४ ८

मे भी जातवेदा उपमेय, गर्भं उपमान, इव उपमावाचक शब्द, निहित साधारणधर्म होने मे पूर्णोपमा स्पष्ट है। जिस प्रकार गर्भिणियो द्वारा गर्भं सुरक्षित रखा जाता है, इसी प्रकार अरणि के अन्दर धग्नि सुरक्षित रहती है। यहाँ गृहस्थियो को समझाने के लिए गर्भं को उपमान बनाया गया है।

कठोपनिषद् मे पूर्णोपमा के निम्न उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं—

अविद्यायामन्तरे धर्तमाना स्वयं घोरा पण्डितमन्यमाना।

ददम्यमाणा परित्यात भूदा अधेनेव क्षीयमाना पयससा ॥

—कठ० २ ५

अगुप्टमात्रं पुरवोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।

तस्याब्दरीरात्प्रबृहेन्मुक्तादिवेदीनां धर्मैण।

न विद्याच्छत्रममृतं तं विद्याच्छत्रममृतमिति ॥

—कठ० ६. १७

इस मन्त्र में ऋषियो के व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध उपमान मुंजाद् इव इषीकाम् मे स्थानीयरजन (local colouring) का रूप भी दर्शनीय है ।

इनके अतिरिक्त अन्य उपनिषदों में भी पूर्णोपमा के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं । यथा—

अरा इव रचनामौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

ऋचो यजूषि सामानि यज्ञ क्षत्र ब्रह्म च ॥

—प्रश्न० २ ६

—जैसे रथ की नाभि में अरें लगी हैं, वैसे ही प्राण में ऋक्, यजुस, साम, यज्ञ, क्षत्र, ब्रह्म प्रतिष्ठित हैं ।

यहाँ ऋक् आदि उपमेय, अरा उपमान, इव वाचक शब्द तथा प्रतिष्ठितत्व साधारण धर्म हैं । इस मन्त्र में उपमा के आश्रय से प्रतिदिन प्रयोग में आने वाले रथ के पहिए द्वारा समस्त दृश्यादृश्य पदार्थ प्राण में प्रतिष्ठित हैं, जैसे गहन विषय को सुबोध बनाया गया है ।

इसी उपमान का प्रयोग मुण्डकोपनिषद् के ऋषि ने भी किया है । देखिए—

अरा इव रचनामौ संहता यत्र नाड्य. स एयोऽन्तररते बभूषा जायमान ।

—मु० २ २ ६

यहाँ नाड्या उपमेय, अरें उपमान, इव वाचक शब्द तथा संहता (विद्यमानता) साधारण धर्म हैं ।

प्राणस्वेद वशे सर्वं त्रिविधे यत्प्रतिष्ठितम् ।

मातेव पुत्रान् रक्षस्व शीघ्रं प्रजा च विधेहि न इति ॥

—प्रश्न० २ १३

यहाँ प्राण उपमेय, माता उपमान, इव वाचक शब्द तथा रक्षस्व साधारण धर्म हैं ।

और भी—

अरा इव रचनामौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिता ।

त वेद्य पुरुष वेद यथा मा वो भृष्ट् परिष्यथा इति ॥

—प्रश्न० ६ ६

—रथ की धुरा में अरो की भांति, जिस ईश्वर में सब बलाए ठहरी हुई हैं, उस जानने योग्य पुरुष को तुम जानो, जिससे तुम्हें मृत्यु न पीड़ित करे।

यहा कला उपमेय, अरा उपमान, इव वाचक शब्द तथा माधारण धर्म प्रतिक्रिस्त रहना है, अतः पूर्णोपमा है।

स य एष अन्तर्हृदय आकाश तस्मिन्नय पुरुषो मनोमय । अमृतो हिरण्मय । अन्तरेण तालुके । य एष स्तन इवालम्बते ॥

—तै० १. ६

इस मन्त्र में पुरुष उपमेय, स्तन उपमान, इव वाचक शब्द तथा आलम्बते माधारण धर्म है।

इसी उपनिषद् में पूर्णोपमा के उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र दर्शनीय है—

यथाप प्रवता यन्ति यथा माता अहर्जरम् ।

एष मा ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वत ॥

—तै० १ ४

अह ऊर्ध्वपवित्रो याजिनीव त्वमृतम् ।

—तै० १ १०

में भी अहम् (पुरुष) उपमेय, याजिनी उपमान, इव वाचक शब्द तथा पवित्र साधारण धर्म होने से पूर्णोपमा अलकार है।

पूर्णोपमा की दृष्टि में ऐतरेयोपनिषद् में भी इसके अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। यथा—

गर्भं नु सन्नन्वेपामवेदमह देवानां जनिमानि विश्वा ।

शत मा पुर आयत्तीररक्षन्नघ श्येनो जषसा निरदीपम् ॥

—ऐत० २. १ ५

छान्दोग्य उपनिषद् में उपलब्ध निम्न मन्त्र पूर्णोपमा का सुन्दर उदाहरण होने के साथ श्रेष्ठ मन्त्र के कवियों की उपमा की समपक्षता रखता है—

तस्य यथा क्व्यास पुण्डरीकमेवमक्षिणी' ।

—छा० १ ६ ७

इस मन्त्र में अक्षिणी उपमेय, पुण्डरीकम् उपमान, यथा वाचक शब्द तथा साधारण धर्म कृपासन् (कपिल रग) है। यहा पुन तत्कालीन एवं तद्देशीय जीवन के परिवेश में से ही उपमान चुना गया है।

इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के कवि ने भी आत्मसत्ता के स्फुरण की आश्रयभूत हिता नाम नाडियो की सूक्ष्मता का प्रदर्शन करने के लिए उपमा का आश्रय लिया है और उपमान बनाया है सहस्रधा काटे हुए केश को। यथा—

ता वा अस्पंता हिता नाम नाड्यो यथा केश सहस्रधा मिनस्ताव-  
साङ्गिभ्ना तिष्ठन्ति ... ।

—दृ० ४ ३. २०

श्वेताश्वतर उपनिषद् में पूर्णोपमा के एक से एक सुन्दर उदाहरण देखने को मिलते हैं। यथा—

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवापितम् ।

—श्वे० १ १६

—जिस प्रकार दूध में घी सर्वत्र व्यापक है, उसी प्रकार आत्मा सर्वव्यापक है।

यहाँ उपमेय आत्मा, उपमान सर्पि, वाचक शब्द इव, साधारण धर्म सर्वव्यापकत्व है।

प्राणान् प्रपीड्येह स पुरतवेष्ट क्षीणे प्राणे नातिक्रमोच्छ्वसति ।

दुष्टाश्वपुशतमिव बाहमेन विद्वान्मतो धारयेताप्रमत्त ॥

—श्वे० २. ९

इस मन्त्र में मन उपमेय, बाहम् उपमान, इव वाचक शब्द तथा धारयेत साधारणधर्म निर्दिष्ट है। यहा पर विद्वान् पद कर्तृत्व का बोधक है, अत इस पर सारथित्व का आरोप किया जा सकता था, किन्तु रूपक की अपेक्षा उपमा का रूप अधिक स्पष्ट होने से इसे पूर्णोपमा ही कहा जाएगा।

यस्मात्पर नापरमस्ति किञ्चित्स्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् ।

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सयम् ॥

—श्वे० ३. ९

इस मन्त्र में पुरुष (ब्रह्म) उपमेय, वृक्ष उपमान, इष वाचक पद तथा स्तब्ध तिष्ठति साधारण धर्म होने के कारण पूर्णोपमा अलंकार है ।

द्रष्टव्य है कि यहाँ भी ऋषि ने अपना मन्त्रव्य स्पष्ट करने के लिए वन्य जीवन में सदा के साथी, वृक्ष को ही उपमान बना कर सफलता प्राप्त की है । ऐसे उपमान द्रुतगति से तथा स्थायी रूप से हृदयगम हो जाते हैं ।

घृतात्पर मण्डमिधातिसूक्ष्म ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् ।

विश्वस्यैक परिवेष्टितार ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशैः ॥

—श्वे० ४. १६

—जित प्रकार घी के ऊपर का मण्ड अतिसूक्ष्म होता है, उसी प्रकार सभी प्राणियों में शिव छिपा हुआ है ।

यहाँ शिव उपमेय, मण्ड उपमान, इष उपमावाचक शब्द तथा अतिसूक्ष्मत्व साधारण धर्म है ।

निम्न मन्त्र भी पूर्णोपमा अलंकार के उदाहरण के रूप में उल्लेखनीय है—

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्गन्धवान् ।

एव स देवो भगवान् धरेभ्यो योनिस्वभावावधि तिष्ठत्येकः ॥

—श्वे० ५. ४

परतन्तुनाम इष तन्तुभि प्रधानज्ञं स्वभावतः ।

देव एक स्वभावणोत् स नो दद्याद्ब्रह्माप्ययम् ॥

—श्वे० ६. १०

इस मन्त्र में उपमा के द्वारा परमेश्वर की प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि जो परमेश्वर मकड़ी की भाँति प्रकृति से उत्पन्न हुए तन्तुओं से अपने आपको आच्छादित कर लेता है, जो प्रकृति में विद्यमान है, और जो स्वभाव से एक, अघण्ड ईश्वर है, वह हमें ब्रह्म में लीनता प्रदान करे, वह हमें स्वरूप में स्थिति देवे ।

यहाँ देव उपमेय, तन्तुनाम उपमान, इष वाचक शब्द आणुणोत् साधारण धर्म होने में पूर्णोपमा लंकार है ।

१.४.३ लुप्तोपमा

उपमा के चार तत्त्व हैं—(१) उपमेय (२) उपमान (३) साधारण धर्म और (४) वाचक शब्द । इनमें से उपमान, धर्म आदि का उल्लेख न होने से लुप्तोपमा होती है । लुप्तोपमा पूर्णोपमा में विपरीत है । पूर्णोपमा में उपमा के चारों तत्त्वों का उल्लेख रहता है, परन्तु लुप्तोपमा में इनमें से किसी एक का, दो का या तीन का लोप कर दिया जाता है । इस प्रकार धर्म का लोप करने पर धर्मलुप्ता, वाचक का लोप करने पर वाचकलुप्ता, इन दोनों का लोप करने पर द्विलुप्ता आदि लुप्तोपमा के भेद होते हैं । मम्मट तथा विश्वनाथ एव अन्य परवर्ती आचार्यों ने लुप्तोपमा के अनेक प्रकारों का विवेचन किया है । विश्वनाथ ने लुप्तोपमा के २१ भेद बताए हैं । लुप्तोपमा के भेदप्रभेदों का आधार व्याकरण है । यह परम्परा आचार्य उद्भट के समय से प्रारम्भ हुई । अप्पयदीक्षित ने व्याकरण शास्त्र के आधार पर उपमा के विभाजन का संकेत देते हुए इसे उचित नहीं माना—

एवमग्रं पूर्णालुप्ताविभागो वाच्य-समाप्त-प्रत्ययविशेषगोचरतया शब्द-शास्त्रव्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनमात्रप्रयोजनो नातीवार्त्तकारशास्त्रे व्युत्पाद्यतामर्हति । न वा लुप्तानामय सामस्येन विभागः ।

—चित्रमीमांसा, पृ० १०८

लुप्तोपमा का विवेचन करते हुए विश्वनाथ ने कहा है—

लुप्ता सामान्यधर्मद्विकस्य यदि वा द्वयोः ।

ब्रमाणा बानुपाशने शौत्यार्यो सापि पूर्ववत् ॥

—सा० द० १० १७

उपनिषदों में पूर्णोपमा के समान लुप्तोपमा के भी अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं । यथा—

धर्मलुप्ता—

अंगुष्ठमात्रं पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।

ईशानो भूतमध्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद् तन् ॥

—कठ० ४. १२



अगुष्टमात्रं पुरूपो ज्योतिरिवाधूमकः ।

ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व ॥ एतद्वै तत् ॥

—कठ० ४ १३

इन दोनों मन्त्रों में साधारण धर्मों का उल्लेख न होने के कारण धमलुप्तोपमा अलंकार है।

गुणे वा ब्रह्म पूव्यं नमोभिर्वि श्लोका यन्ति पथेव सुरे ।

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्यु ॥

—श्वे० २ ५

इस मन्त्र में वि श्लोका उपमेय, सुरे पथ्या उपमान तथा इव वाचक शब्द तो हैं पर साधारण धर्म का उल्लेख न होने से यह भी धर्म लुप्तापमा का ही उदाहरण है।

अगुष्टमाश्रो रवितुल्यस्य सकल्पाहकारसमन्वितो यः ।

बुद्धेर्गुणेनाऽऽप्तमगुणेन श्वं आराप्रमात्रो ह्यवरोऽपि वृष्टः ॥

—श्वे० ५ ८

—परमात्मा से भिन्न दूसरा जो आत्मा है वह अगुष्टमात्र आकार धाला है सूर्य सदृश रूपवान है, सकल्प और अहंकार संपुष्ट है। बुद्धि के गुण से और आत्मा के गुण से ही यह सूर्य की नोक बराबर अत्यन्त सूक्ष्म देखा गया है।

इस मन्त्र में अगुष्टमात्र में आकार का तथा आराप्रमात्र में सूक्ष्मता आदि धर्मों का उल्लेख न हान से धर्मलुप्तोपमा है।

निष्कल निष्प्रिय शान्त निरवद्य निरजनम् ।

अमृतस्य परं सेतुं दग्धेऽधनमिवावतप्तम् ॥

—श्वे० ६ १९

यहां आत्मा उपमेय, अनल उपमान तथा इव वाचक पद हैं, किन्तु दग्धधन अनन क धम (तेजस्विता, दीप्तत्व आदि) का उल्लेख नहीं है। अतः यहां भी धर्मलुप्तोपमा स्पष्ट ही है।

वाचकलुप्ता—

अथ या एता हृदयस्य नाड्यरता विगलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येति । असौ वा आवित्यः विगल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहित ॥

—छा० ८ ६ १

यहाँ आवित्य, उपमेय, हृदयस्य नाड्य, उपमान तथा शुक्लत्व, नीलत्वादि धर्मों का उल्लेख किया गया है, पर वाचक पद का नहीं । अतः इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार है ।

धर्मवाचकलुप्ता—

श्रुत पिबन्ती मुहुतस्य लोके गुहा प्रविष्टौ परमे परार्थे ।

छायातपो ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चामयो ये च त्रिणाविकेताः ॥

—कठ० ३ १

छायातपो ब्रह्मविदो वदन्ति में दो तत्त्वों, आत्मा और परमात्मा को छाया और आतप के समान कहा गया है, किन्तु इस साम्य में न वाचक पद का प्रयोग किया गया है, न ही किसी साधारण धर्म का । उपर्युक्त साम्य के द्वारा कवि ने आत्मा और परमात्मा की स्वस्वरूपात्मक स्थिति को छाया एवं प्रकाश के मिलाप के समान कहकर यह भी व्यजित कर दिया है कि जैसे प्रकाश में छाया का अभाव हो जाता है, वैसे परमात्मज्ञान से युक्त होने पर आत्मा का अभाव नहीं होता ।

(क) यथा वृक्षो घनस्पतिस्तथैव पुरुषो मृगा ।

तस्य लोमानि पर्णानि त्वयस्पोत्पाटिका बहि ॥

—वृ० ३. ९ २८/१

(ख) त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्थन्ति त्वच ज्वपट् ।

तस्मात् तदा तृष्णात् प्रेति रतो वृक्षादिवाहतात् ॥

—वृ० ३ ९ २८/२

(ग) मासान्यस्य शकराणि कीनाट एताव तत् स्थिरम् ।

अस्थीन्यन्तरतो बाह्वणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥

—वृ० ३. ९.२८/३

—सत्य है कि जैसे वन का विशाल वृक्ष है, ऐसा ही मनुष्य शरीर है। इसके तन के रोम पत्तों के समान हैं, इसकी त्वचा बाहर के दिनोंकी की तरह है। इसकी त्वचा से ही रक्त बहता है जैसे कि वृक्ष की त्वचा से जल-रस निकलता है। हृन्तन किए वृक्ष की भांति ही इस हृन्तन किए हुए मनुष्य में वह रस-रक्त निकलता है। इस मनुष्य के मांस अर्थात् मांसपेशियां, वृक्ष की त्वचा के भीतर के भाग हैं, पुरुष का यह स्थिर जो नाड़ी-जाल है वह वृक्ष का कोनाट है लकड़ी से लगा हुआ कोमल भाग है। इसकी हृद्दिखा ही अन्दर की लकड़ियां हैं, इसकी भग्ना भग्ना के समान है।

प्रथम मन्त्र की प्रथम पक्ति में विशालता आदि धर्म के अभाव में धर्मलुप्तोपमा अलङ्कार है। तथा, द्वितीय पक्ति में उपमेय तोम एव उपमान धर्म, तथा उपमेय त्वग्, अरि उपमान ज्वालिना का उल्लेख तो है, किन्तु इनके साधारण धर्मों का उल्लेख न होने में, यह भाग भी धर्मलुप्तोपमा अलङ्कार के अन्तर्गत है।

यही स्थिति दूसरे मन्त्र की भी है।

तृतीय मन्त्र में भी मामानि उपमेय तथा शकटाणि (छाल का भीतरी जश) उपमान तो हैं, पर साधारण धर्म का निर्देश न होने में धर्मलुप्तोपमा ही है।

### १४.४ मालोपमा

उपमानों की माला मालोपमा है। जब एक उपमेय के अनेक उपमान हों, तब मालोपमा अलङ्कार होता है। उपमेय के लिए एक ही उपमान प्रयोग में लाया जाता है। परन्तु, मालोपमा में कवि उपमेय की शोभा के लिए अनेक उपमानों का प्रयोग करता है। इस प्रकार मालोपमा में उपमानों की एक लड़ी बन जाती है। मालोपमा उपमा की ही एक विचित्रता है।

विश्वनाथ ने मालोपमा का लक्षण दिया है—

मालोपमा धरेकस्योपमान बहु रूपते ।

—मा० द० १० २६

कनिषय उदाहरण देगिए—

सर्वं च धारेण । धरेनद्रिदुनो ध्यदुनहाश्चनोन्मोविषहाश्च इग्यधिर्वचनम् ॥

—वेन० ४.४

यहा पर विद्युतो ध्यद्युतश्च आ ३ (जो विजली के समान चमकता है), न्यनीमिषद् आ३ (पलक मारने के समान है), वाक्याशा मे एकाधिक उपमान होने के कारण मालोपमा अलङ्कार है। इस मन्त्र मे आ पद उपमावाचक है।

यथाऽऽदरां तथाऽऽमनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।

यथान्मु परीव दद्मो तथा यन्धर्वलोके द्वापातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥

—कठ० ६ ५

इस मन्त्र मे उपमेय आत्मा के आदरां, स्वप्न, पितृलोक, अप् आदि अनेक उपमान होने से यहा मालोपमा अलङ्कार है।

यथोर्णामि सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्याभोषधय सम्भवन्ति ।

यथा सल पुरषात् केशानोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥

—मु० १ १ ७

—जैसे मकड़ो मे जाले की सामग्री सूक्ष्म रूप मे होती है, उससे वह जाला रचती है और फिर उसे निपल भी लेती है, इसी प्रकार पुरुष मे प्रकृति कल्पनातीत प्रकार से रहती है। उसी से भगवान् सृष्टि का सजन तथा सहार करता है। जैसे भूमि मे वनस्पतिया अकुरित हो जाती हैं, ऐसे ही भगवान् की विद्यमानता मे लोक-लोकान्तर का विकास हो जाता है। जैसे जीवित मनुष्य की देह मे केश तथा लोम निकलते हैं, इसी प्रकार अदिनाशी प्रभु से इस ब्रह्माण्ड का उदय होता है। हरि की इच्छा प्रकृति ने प्रवेश करके उसमे क्रिया उत्पन्न करती है। उसी आदि के सकल्प से संचालित प्रकृति माना रूप रंग भाकार-प्रकार आदि को जन्म दे रही है। वास्तव मे, इसमे भगवान् की इच्छा बीज बनी हुई है।

यहा पर विषय को स्पष्ट करने के लिए एक ही उपमेय वाक्य अक्षरान् विन्ध सम्भवन्ति के ऊर्णामि, भोषधय तथा केशानोमानि, इन तीन उपमानों की योजना की गई है, अत यहा मालोपमा अलंकार है।

अहं वृक्षस्य रेरिवा कीर्ति पृष्ठ गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्री वाजिनोव स्वमृतम् अस्मि । श्रविणोऽस्यवर्चसम् ॥

—तै० १ १०

इस मन्त्र मे उपमेयभूत आत्मा के लिए गिरे, पृष्ठम् तथा वाजिनी इन दो उपमानों की योजना की गई है, अतः यहाँ मालोपमा अलङ्कार है ।

तद्यथा लवणेन सुवर्णं सदध्यात् । सुवर्णेन रजतं रजतेन त्रपुं त्रपुणा तीस सीसेन लोहं लोहेन दाहं दाहं चर्मणा ॥

एवमेवा लोकाणामासा देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया यीर्येण यज्ञस्य विरिष्यत्सदधाति । भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवदिद् ब्रह्मा भवति ॥

—छा० ४ १७ ७-८

इन मन्त्रों मे उपमेय यज्ञ के सुवर्ण, रजत, त्रपु, सीस, लोह, दाह, चर्म आदि अनेक व्यञ्जक उपमान दिए गए हैं ।

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् । यथा माहारजन वामो यथा पाण्ड्वाविक यथेन्द्रगोपो यथाऽग्न्यविविषया पुण्डरीक यथा सृष्टिद्युत्तम् । यथा सृष्टिद्युत्तेव ह वा अस्य धीर्भवति य एव वेद ॥

—बृ० २ ३ ६

—जैसे कुसुम्भे से रगा हुआ धातु हो, जैसे श्वेतमेघ के लोम हों, जैसे इन्द्रगोप का रंग हो, जैसे अग्निज्वाला हो, जैसे श्वेतकमल हो और जैसे एकदम विद्युत् प्रकाश हो, जो ध्यक्षित आत्मा के परिचायक घमटकारों को ऐसे जानता है उसकी लक्ष्मी व शोभा प्रबलता से एक बार चमकती हुई विद्युत् ज्योतिवत् ही हो जाती है ।

इस मन्त्र मे पुरुषस्य रूपम् मे रूपम् पद उपमेय है तथा उसके माहारजनम्, पाण्ड्वाविकम्, इन्द्रगोप, अग्न्यवि, पुण्डरीकम् और सृष्टिद्युत्तम् अनेक उपमान हैं ।

यहाँ द्रष्टव्य है कि ब्रह्म के रूप की चमत्कारिता दर्शाने के लिए ऋषि ने बहुरंगी उपमानों की योजना की है । ये सभी उपमान ऋषि के जीवनपरिवेश से निवृत्तरूप मे सम्बद्ध हैं और वैचित्र्यपूर्ण भी ।

स यत्रापमणिमान न्येति जरया बोधतपता वाऽग्निमान निगच्छति । तद्यथाऽऽन्नं बौधुम्बरं वा पिप्पलं वा मन्धनान् प्रमुच्यते । एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गैर्व्यं सप्रमुच्य पुनः प्रतिन्याय प्रतिपोन्यात्रवति प्राणायंय ॥

—बृ० ४ ३ ३६

—यह शरीर जिस अवस्था में बूढ़ापे से कृशता को प्राप्त होता है अथवा उपतप—ज्वररोग—से दुर्बलता को प्राप्त होता है उस समय वह, जैसे पका हुआ आम या गुलर अथवा पीपल डठल से गिरता है, ऐसे ही यह आत्मा इन शरीरावयवों से छूटकर फिर प्रधानियम जीवन के लिए ही जन्मान्तर को ढूँढता है, आद्युक्तमार्ग पर कर्मानुसार पुनर्जन्म धारण करता है ।

इस मन्त्र में भी उपमेयभूत शरीरावयवों से छूटने वाले आत्मा के लिए आम्र, उदुम्बर तथा पिप्पल, ये तीन उपमान दिए गए हैं, अतः यहाँ मालोपमा असंकार है । ये उपमान सार्थक होने के साथ व्यजक एवं आद्यम जीवन से निकट सम्बन्ध रखने वाले हैं ।

तिलेषु तैल दधिनीव सर्पिराप स्रोत स्वरणीषु चाग्नि ।

एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनेन तपसा योऽनुपश्यति ॥

—श्वे० १ १५

—जैसे तिलों में तेल है, दही में घृत है, स्रोतों में जल है और अरण्याँ में अग्नि है, ऐसे ही यह परमात्मा आत्मा में ग्रहण किया जाता है, और उस व्यक्ति द्वारा जाना जाता है जो इसको सत्य से—आस्तिक्य बुद्धि से—और ग्रह्यचर्यादि तप से देखता है ।

इस मन्त्र में परमात्मा में आत्मा के स्वरूप को बताने के लिए सर्पि, आम्र, अग्नि आदि अनेक उपमान दिए गए हैं ।

अगुण्डमात्रो रवितुल्यरूप सकृत्पाहकारसमन्वितो य ।

सुद्वेर्गुणेनाऽऽत्मगुणेन चैव आराप्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ॥

—श्वे० ५ ८

इस मन्त्र में उपमेय जीव के लिए तीन उपमान—अगुण्ड, रवि, आराप्र (सूई की नोक)—दिए गए हैं । इन तीनों में साधारण धर्म का निर्देश न होने से यह धर्मलुप्ता मालोपमा का सुन्दर उदाहरण है ।<sup>१</sup>

१. अगुण्ड द्रष्टव्यः—छा० ३. १४. ३, ३ १५. ३, वृ० १. ३. २२, ३. १. १६, ३. ३. २, ६. ४ २२

## १४५ वाक्यार्थोपमा

वाक्यार्थोपमा का उल्लेख दण्डी ने ही किया है। परवर्ती आचार्यों ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने इसे दृष्टान्त तथा इससे मिलते-जुलते अलंकारों में समाविष्ट किया है। उपनिषदों में ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जिन पर दण्डी की वाक्यार्थोपमा का लक्षण चरितार्थ होता है। अतः इसी दृष्टि से यहाँ उनका विवेचन किया जाता है। दण्डी की वाक्यार्थोपमा लक्षण है—

वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थं कोऽपि यद्युपमीयते ।

एकानेकेनैव शब्दवाक्ता वाक्यार्थोपमा द्विधा ॥

—काव्यादर्श २ ४३

कुछ एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

यथोदकं बुभुक्षुं दृष्टं पर्वतेषु विधावति ।

एव धर्मान् पृथक् पर्यस्तानेष्वनुविधावति ॥

—कठ० ४ १४

यहाँ वाक्यगत उपमा ही वहाँ वाक्यार्थोपमा होती है। इस मन्त्र में यथोदक ' ' विधावति उपमान वाक्य है और एव धर्मान् ' ' ' ' अनुविधावति उपमेय वाक्य, अतः यहाँ वाक्यार्थोपमा अलंकार है।

इसी प्रकार,

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृशेण भवति ।

एव मुनेर्विज्ञानत आत्मा भवति गीतम् ॥

—कठ० ४ १५

यहाँ प्रथम पक्ति उपमान वाक्य तथा द्वितीय पक्ति उपमेय-वाक्य होने में वाक्यार्थोपमा है। इसी प्रकार,

अग्निर्धर्मको भुवनं प्रविष्टो रूपरूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपरूपं प्रतिरूपो बहिष्थ ॥

—कठ० ५ ९

इस मन्त्र में एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा वाला वाक्य उपमेय है तथा अग्निर्धर्मको ब. न. वा. न. उ. न. न. अतः यहाँ वाक्यार्थोपमा है। यहाँ

दृष्टान्त अलंकार नहीं हो सकता क्योंकि विम्बप्रतिविम्बभाव नहीं बनता, किंच स्पष्ट शब्दों से कर्म कहा गया है।

स यथा सोम्य थयासि वासो वृक्ष संप्रतिष्ठन्ते ।

एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥

—प्रश्न० ४ ७

ऋषि आलंकारिक भाषा में कहता है, कि जैसे पक्षी इधर उधर उड़-फिर कर साय समय बसने के लिए वृक्ष का आश्रय लेते हैं और उरा पर चुपचाप बैठ जाते हैं, ठीक इसी प्रकार वे सब स्वप्न के खेल, सुषुप्ति में साक्षी आत्मा में लीन हो जाते हैं। देखने, सुनने आदि की वृत्तियाँ सिकुड़ कर साक्षी आत्मा में स्थिरता लाभ करती हैं। साक्षी उस समय अपने स्वरूप में स्थित होता है।

इस मन्त्र का पूर्व भाग उपमान वाक्य है और उत्तर भाग उपमेय वाक्य, अतः यहाँ भी वाक्यार्थोपमा अलंकार है।

... .. यथा पादोदरस्त्वच्चा विनिर्मुच्यते । एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिदानीयते ब्रह्मलोकम् । स एतस्माग्जीवयतात् परात्परं पुरिशय पुरयमीक्षते ।

—प्रश्न० ५.५

इस मन्त्र में यथा पादोदरस्त्वच्चा विनिर्मुच्यते उपमान वाक्य तथा एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः उपमेय वाक्य होने से वाक्यार्थोपमा अलंकार है।

एवं यथाश्मानमाखण्डत्वा विम्बसत एव हैय न विप्यसते य एवविधि पापं कामयते यश्चैतन्मभिदासति । स एवोऽप्रमाखणः ॥

—छा० १.२.८

—जिस प्रकार (मिट्टी का डेला) दुमँछ शिला को लपकर बिनट हो जाता है उसी प्रकार वह व्यक्ति मास को प्राप्त हो जाता है जो प्राणोपासना करने वाले पुण्य के प्रति पापाचरण की कामना करता है अथवा जो इसको कोसता या मारता है, क्योंकि यह प्राणोपासक अनेछ शिला ही है।

इस मन्त्र का पूर्वभाग उपमान वाक्य तथा उत्तरभाग उपमेय वाक्य होने से यहाँ वाक्यार्थोपमा अलंकार है।



इदमिति ह प्रतिज्ञते । लोकायाश्च क्लिप्तसौम्यत्वेऽवोचन् । अहं तु ते तद्द्रक्ष्यामि यथा पुष्करपलाशभाषो न श्लिष्यन्त एवमेवविधिपापकर्मं न श्लिष्यति इति । श्रुत्वो मे भगवानिति । तस्मिं होवाच ॥

—छा० ४ १४ ३

यहा एवमेवविधिपापकर्मं न श्लिष्यते उपमेयवाक्य है और यथा पुष्करपलाशभाषो श्लिष्यन्ते उपमानवाक्य है ।

तद्यथा महारथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीम चामु च । एवमेवंता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छतीम चामु च । अमुष्मादादित्यात्प्रसायन्ते० ॥

—छा० ८ ६ २

यहा भी पहला वाक्य उपमान तथा दूसरा वाक्य उपमेय होने से वाक्यार्थोपमालकार है ।

स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकाम परिवर्तंतं यमेवं एतत् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकाम परिवर्तते ॥

—वृ० २ १ १८

—जैसे कोई महाराजा अपने देश के मनुष्यों को साथ लेकर अपने देश में यथेच्छ फिरता है ऐसे ही यह आत्मा इन इन्द्रियशक्तियों को लेकर अपने शरीर में यथेच्छ घूमता है । स्वप्नावस्था में आत्मा अपने में ही सीता करता है ।

इस मन्त्र में एतत् प्राणान् गृहीत्वा ... यह पूरा वाक्य उपमेय तथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा ... उपमानवाक्य होने से वाक्यार्थोपमालकार है ।

स यथोर्ध्वनाभिस्तःशुभोच्चरेद्यपाग्ने शुद्धा विरफुत्तिगा ध्युच्चरन्त्येष-  
मेवात्मादात्मन सर्वे प्राणा सर्वे लोका सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति० ।

—वृ० २.१ २०

यहा यथोलं ... विरफुत्तिगा ध्युच्चरन्ति उपमानवाक्य तथा शेष उपमेय वाक्य है, अतः वाक्यार्थोपमालकार है ।

तद्यथा महामतस्य उभे कूले अनुत्तवरति पूर्वं चापरं धेवमेवाय पुत्रव  
एतावमावन्तावनुत्तवरति स्वप्नात् च शुद्धान्त च ॥

—वृ० ४. ३ १८

—जिस प्रकार महामच्छ नदी के पूर्व और ऊपर दोनों तीरों पर क्रमशः संचार करता है, उसी प्रकार यह आत्मा स्वप्नावस्था और जागरित अवस्था, इन दोनों अवस्थाओं को क्रमशः प्राप्त करता है ।

इस मन्त्र में अथ पुण्य ... यह सम्पूर्ण वाक्य उपमेय है तथा महामत्स्य ... उपमान वाक्य है, अतः यहाँ वाक्यार्थोपमा अलंकार है ।

तद्यथा वृषजलायुका वृषस्यान्त गत्वान्यमात्रममाक्रम्यात्मात्मानमुपसंहरत्येवमेवमेव शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यमाश्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति ॥

—वृ० ४.४.३

यहाँ आत्मेव शरीरं ... उपमेय वाक्य और वृषजलायुका ... उपमान वाक्य होने से वाक्यार्थोपमा अलंकार है ।

वद्वैर्यथा योनिगतस्य भूतिर्न दृश्यते नैव च त्रिगणात् ।

स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तदोभय वं प्रणवेन देहे ॥

—श्वे० १. १३

—जिस प्रकार काष्ठोदि उत्पत्ति-स्थानगत अग्नि की आकृति नहीं दीखती और न ही उसके लिए (सूक्ष्म स्वरूप) अर्थात् उसका ऊर्मा बिल्व नष्ट होता है; वह अग्नि चाहे तो फिर भी ईंधन रूप कारण से ग्रहण की जा सकती है, उसी प्रकार अग्नि-लिंग के समान इस देह में प्रणव द्वारा आत्मा का ग्रहण किया जा सकता है ।

इस मन्त्र में वद्वैर्यथा ... उपमान वाक्य है, तथा तदोभय वं प्रणवेन देहे ... उपमेय वाक्य है । यहाँ का शब्द (तद्वा उभयम्) इव (सादृश्य) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

### १.४.६. उपमेयोपमा

उपमा में उपमेय की उपमान के साथ तुलना की जाती है । प्रायः हम देखते हैं कि उपमान के साथ उपमा होती है, परन्तु उपमेयोपमा में उपमेय के साथ उपमा होती है । अतः उपमेयोपमा वह अलंकार है जहाँ दो वस्तुएँ वारी वारी से परस्पर उपमान और उपमेय रूप में कल्पित दिखाई दिया करती हैं । उपमेयोपमा का उद्देश्य

१. अन्यत्र द्रष्टव्य .—कठ० ५ १०-११, वृ० १.४ ३, १.४. १०, १.४. १६, २. १. १६, २. ५. १५, ५. ३. २१, ५. ५. ५

तृतीय सादृश्यव्यवच्छेद है। अत एव जहाँ उपमेय के द्वारा उपमा होने पर भी अन्य (तृतीय सादृश्य) उपमान का तिरस्कारक अभीष्ट नहीं होता, वहाँ उपमेयोपमा भी नहीं हुआ करती। इस प्रकार उपमेय के साथ उपमा होने के कारण इस अलङ्कार का उपमेयोपमा नाम अन्वर्थक है। विश्वनाथ ने उपमेयोपमा का लक्षण दिया है—

पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता । —भा० द० १० २७

यथा—

सोऽयमात्माऽद्यक्षरमोकार । अधिमात्र पादा मात्रा मात्राश्च पादा  
अकार उकारो मकार इति ॥

—भा० ८

इस मन्त्र के पादा मात्रा मात्राश्च पादा भाग में उपमेयोपमा अलङ्कार है।

अथ खलु ष उद्गीथ स प्रणवो ष प्रणव स उद्गीथ इति । अतौ वा  
आदित्य उद्गीथ एष प्रणव । ओमिति ह्येव स्वरन्नेति ॥

—छा० १ ५ १

इस मन्त्र के पूर्वभाग में उद्गीथ उपमेय और प्रणव उपमान है। उत्तरभाग में प्रणव उपमेय हो गया है तथा उद्गीथ उपमान। अतः यहाँ उपमेयोपमालङ्कार है।

स होवाच विजानाम्यह यत्राणो ब्रह्म । क ख तु छ च न विजानामीति ।  
से होषु । यत्राव क तदेव छम् । यदेव ख तदेव कमिति । प्राण च हासर्न  
तवाकाश घोषु ॥

—छा० ४ १० ५

इस मन्त्र में जो पूर्वपदस्थ कम् उपमेय तथा छम् उपमान है, वे उत्तरपद में क्रमशः उपमान और उपमेय हो गए हैं। अतः यहाँ भी उपमेयोपमा अलङ्कार ही है।

### १४७ रूपक

उपमा के समान रूपर भी प्राचीन अलङ्कार है। भरत ने जिन चार अलङ्कारों का उल्लेख किया है उनमें एक रूपक भी है। भरत के बाद भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि प्राचाचार्यों ने इस अलङ्कार का विवेचन किया है। दण्डी ने रूपक की सीमा का बहुत विस्तार किया है और अपह्नुति, घ्राक्षप, व्यतिरेक का इसमें

सम्मिलित किया है। इस अलंकार को रूपक इसलिए कहते हैं क्योंकि यहाँ उपमान उपमेय को अपना रूपवान् बनाता है। जैसे, नायिका का मुख चन्द्र के सदृश नहीं, अपितु चन्द्र है। इस प्रकार उपमेय और उपमान में भेद के तिरोहित हो जाने पर उपमा ही रूपक बन जाती है। यदि उपमेय और उपमान में साम्य होने पर उपमा है, तो दोनों में अतिसाम्य होने पर रूपक हो जाता है। इस प्रकार अधिक सादृश्य की दृष्टि से उपमेय और उपमान का अभेदारोप रूपक अलंकार है। अतएव रूपक की व्युत्पत्ति है—

रूपसत्येकता नयतीति रूपकम् ।

विश्वनाथ ने रूपक का लक्षण दिया है—

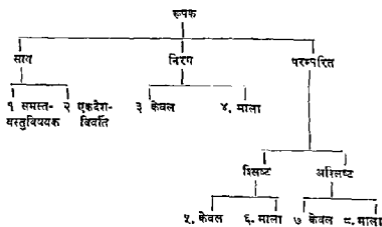
रूपक रूपितारोपो विषये निरपह्लवे ।

—सा० द० १० २८

रूपक वह अलंकार है जहाँ उपमेय का निषेध किए बिना ही उपमेय पर उपमान का अभेदारोप किया जाए।

मम्मट तथा विश्वनाथ, दोनों ने रूपक के आठ भेद किए हैं—

उपनिषदों में रूपक के प्रायः इन सभी भेदों, साग—(१) समस्त-वस्तुविषयक, (२) एकदेशविवर्ति, निरग—(१) केवल, (२) माला, परम्परित—(१) श्लिष्ट, (२) अश्लिष्ट, के उदाहरण मिल जाते हैं।



सागरूपव—

अग्नौ यदि सागस्य रूपेण सांगमेवतत् ।

समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ॥

—सा० द० १० ३०

बुद्ध उदाहरण द्रष्टव्य है । यथा—

समस्तवस्तुविषय रूपव—

आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेव तु ।

बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च ॥

—कठ० ३. ३

इन्द्रियाणि ह्यानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिण ॥

—कठ० ३ ४

उपर्युक्त मन्त्रों में आत्मा पर रथ के स्वामी का, शरीर पर रथ का, बुद्धि पर सारथि का, मन पर नगाम का, इन्द्रियो पर घोड़ों का तथा विषयो पर मार्ग का आरोप होने से सागरूपव अलंकार है ।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रमूर्ध्वी दिश भोत्रे वायिपृजादच वेदा ।

वायु प्राणो हृदय विद्वमस्य पदभ्यां पृथिवी ह्येव सर्वभूतान्तरात्मा ॥

—मु० २ १ ४

इम मन्त्र में चुलोत्र पर विराट् पुरुष के सिर का, चन्द्र व सूर्य पर नेत्रा का, दिशाग्रो पर श्रोत्र का, वेदो पर वाणी का, वायु पर प्राण का, विश्व पर हृदय का, भूमि पर पैरों का आरोप होने से सागरूपव अलंकार है ।

सप्त प्राणा प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चय समिध सप्त होमा ।

सप्त इमे सोऽप्येषु चरन्ति प्राणा शुहाशया निरृता सप्त सप्त ॥

—मु० २ १ ८

यहां प्राणां पर अग्नि का, प्रकाश पर ज्वालाग्रो का, विषयो पर गमिन् का और भोग पर होम का आरोप होने से सागरूपव है ।

धनुर्गृहोत्खोपनिषद् महारत्न शर ह्युपासा निशित सद्योत ।

आपम्य तद्भाष्यगतेन चेतना लक्ष्य तदेवाक्षर सोम्य विद्धि ॥

—मु० २ २ ३

यहा पर उपनिषद् द्वारा बणित ब्रह्मविद्या पर धनुष का, उपासना पर शरसन्धान का, परमात्मा में लीन मन पर ज्या आकर्षण का तथा अविनाशी ब्रह्म पर लक्ष्य का आराध है, अतः यहा भी साग रूपक अलंकार है ।

जागरितस्थानो बहि प्रज्ञ सप्ताग एकोनविंशतिमुख स्थूलभुवर्श्वानरः  
प्रथम पाद ।

—मा० ३

यहा ब्रह्मपुरुष पर विभिन्न शरीरागो का आरोप होने से सागरूपकालंकार है ।

जैसे देहधारी आत्मा की जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ होती हैं और उन अवस्थाओं में आत्मा स्थूल में, तथा स्थूल सूक्ष्म में और सूक्ष्मशरीर में काम करता है, उसकी चेतना का इनमें प्रकाश होता है, माण्डूक्य महात्मा ने वैसा ही अलंकार ब्रह्म में बाधा है ।

—जितका स्थान जागरित है, जिसकी अवस्था जागने की है, जो बाहर चेतना वाला है, सात अंगों वाला है, जो उन्नीस मुखों वाला और स्थूल का भोक्ता है, वह भेश्वानर पहला पाद है ।

जागरित अवस्था में व्यष्टि आत्मा की चेतना जैसे बाहर के विषयों में काम करती है ऐसे ही सगष्टि आत्मा का ज्ञान मृष्टि काल में मृष्टि में होता है । समष्टि के सात अंग हैं । द्युलोक उसका मूर्धा है, चन्द्र-सूर्य नेत्र हैं, अन्तरिक्ष उदर है, विष्णाएँ भुजाएँ हैं, मध्यलोक वक्ष स्थल है, पृथिवी पाद है और लोकातीत आकाश उसका विस्तार है । ब्रह्माण्ड के आत्मा के उन्नीस मुख ये हैं—पाच तन्मात्राएँ, दश दिशाएँ, तीन कान और मूल प्रकृति । उक्त उन्नीस मुखों से वह जगत् की रचना और जगत् का सहार करता है । वह स्थूल जगत् का भोक्ता, पालक तथा सब नरों का आश्रय नारायण है ।

... .. तस्येदमेव शिर । अथ दक्षिण पक्ष । अथमुत्तरः पक्ष ।  
अथमात्मा । इदं पुच्छ प्रतिष्ठा ॥ —तै० २. १

इत्यादि की भान्ति तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्गी के पहले पाच  
श्रुतुवाजो में श्रन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश  
तथा आनन्दमयकोश पर मानव तथा उसके शरीर के विभिन्न अंगों  
का आरोप किया गया है ।

छान्दोग्योपनिषद् के द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों के प्रायः  
सभी खण्डों में सागरूपक की योजना के द्वारा साम-उपासना के विभिन्न  
अंगों को स्पष्ट किया गया है । यथा—

वृष्टौ पचविध सामोपासीत । पुरोवातो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्ताव ।  
वर्षति स उदगीय । विद्योतते स्तनपति स प्रतिहार । उद्गुह्यति तग्निधनम् ॥  
वर्षति हास्मं वर्षति हृ य एतदेव विद्वान् वृष्टौ पचविध सामोपास्ते ॥

—छा० २ ३ १-२

इन मन्त्रों में वर्षा में पूर्व प्रवाहित होने वाली पवन पर हिंकार  
का, मेघ पर प्रस्ताव का, वर्षा पर उदगीय का, विजली की चमक और  
गरज पर प्रतिहार का तथा वर्षा-श्रवमान पर निधन का आरोप किया  
गया है अतः यहाँ सागरूपक अलंकार है ।

असौ वा आदित्यो देवमधु । तस्य क्षीरेव तिरश्चीनवशोऽन्तरिक्षमपूपो  
मरीचयः पुत्रा ॥ तस्य ये प्रांचो रश्मयस्ता एकास्य प्राच्यो मधुनाह्वय । ऋच एव  
मधुहृत । ऋग्वेद एव पुष्पम् । ता अमृता आपस्ता वा एता ऋच ॥ एतमृग्वेद-  
मभ्यपतन् । तस्यामितप्लस्य यगस्तेज इन्द्रिय क्षीरंमन्नाद्य रसोऽजायत ।  
तद्भक्षरत । तदाश्विनमभिनोऽध्वयम् । तद्वा एतच्छेदतदादित्यस्य रोहित रूपम् ॥

—छा० ३ १ १-४

इस खण्ड के सभी मन्त्रों में आदित्योपासना का वर्णन करते  
हुए ऋषि ने इमने विविध रूपों पर मधुमक्खियों से सम्बद्ध विविध  
तत्त्वों एवं चेट्याओं का आरोप किया है । यथा, मूयं पर मधु का,  
आदित्यत्रोत्र पर निग्धे वाम (मधु-श्रुते के म्यान) का, अन्तरिक्ष पर  
मधुकोश का, तिरणों पर मधुमक्खियों के बच्चों का, पूर्वदिशा की  
तिरणों पर पूर्वदिशा की मधुनाटियों का, ऋचाओं पर मधुमक्खियों का,  
ऋग्वेद पर पुष्प का तथा वेद के स्तोत्र पर अमृत प्रादि का आरोप  
किया गया है ।

इमावेव गीतमभरद्वाजो । अयमेव गीतमोऽयं भरद्वाज\* । इमावेव विश्वामित्रजमदग्नौ । अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्नि । इमावेव वसिष्ठकश्यपौ । अयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यप । वागेवाश्रिवाचा ह्यन्नमत्ततोऽतिर्ह वं नामेतद्यदत्रिरिति । सर्वस्यात्ता भवति । सर्वमस्थानं भवति य एव वेद ॥

—वृ० २ २ ४

इस मन्त्र में उपासक के कानों पर गीतम तथा भरद्वाज का, नेत्रों पर विश्वामित्र और जमदग्नि का, नासिका पुटों पर वसिष्ठ और कश्यप का तथा वाणी पर अत्रि का आरोप होने से सागरूपक अलंकार है। यहाँ पर उपासक की इन्द्रियों पर सप्तर्षियों का आरोप करके उपासना की महत्ता अभिव्यक्त की गई है।

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिरः, एक शिर, एकमेतद-  
सरम् । भुव इति बाहू, द्वी बाहू, द्वे एते अक्षरे । स्वरिति प्रतिष्ठा, द्वे प्रतिष्ठे,  
द्वे एते अक्षरे । तस्योपनिषदहरिति । हन्ति पाप्मानं ब्रह्मति च य एवं वेद ॥

—वृ० ५ ५. ३

इस मन्त्र में शू पर परमपुरुष के शिर का, भुव पर भुजाओं का तथा स्व. पर पैरों का आरोप किया गया है, अतः यहाँ सागरूपक अलंकार है।

वाच धेनुमुपासीत । तस्याश्चत्वार स्तनाः । स्वाहाकारो वषट्कारो  
हन्तकार. स्वधाकार । तस्य द्वी स्तनौ देवा उपवीवन्ति स्वाहाकार च वषट्कार  
च । हन्तकार मनुष्या । स्वधाकार पितरः । तस्या प्राण ऋषयो मनो वत्स ॥

—वृ० ५ ८. १

इस मन्त्र में वाणी पर धेनु का, स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार एवं स्वधाकार पर स्तनों का, प्राण पर ऋषयों का तथा मन पर वत्स का आरोप किया गया है, अतः सागरूपक अलंकार है।

पञ्चैन्धो वा अग्निगोतम । तस्य हवत्सर एव समिबध्नाणि धूमो विष्टुद-  
चिरदानिरगारा ह्यदुनयो विस्फुल्लिगा\* । तस्मिन्नेतस्मिन्नानी देवा सोम राजानं  
बुध्ति, तस्या भातृत्वं वृष्टिः सम्भवति ॥

—वृ० ६ २ १०



इस मन्त्र में पर्जन्य पर अग्नि का, सवत्सर पर समित् का, धूम पर अन्न का, ज्वाला पर विद्यत् का, अगारो पर वज्र का तथा स्फुलिगो पर मेघ गर्जन का आरोप किया गया है।

स वेधाऽऽत्मानं व्यकुर्वत् । आदित्यं तृतीयम् , वायुं तृतीयम् , स एष प्राणश्चेष्टया विहितः । तस्य प्राचीं दिक् शिरोऽसौ चासौ चेत्तौ । अधोऽस्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौ चामौ च सवध्यौ । दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे, द्यौ पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुर । स एवोऽस्य प्रतिष्ठितः । यत्र वयं चंति तदेव प्रतिष्ठितस्यैव विद्वान् ॥

—वृ० १ २ ३

इस प्रसंग में पूर्वदिशा पर मिर का, ईशान और आग्नेय कोण पर भुजाया का पश्चिमी दिशा पर पूंछ का, नाभि पर अधोभाग का, वायव्य और नैऋत्य कोण पर दो हड्डियों का, दक्षिण और उत्तर दिशाया पर दो पार्श्वों का, चुलोक पर पीठ, अन्तरिक्ष पर उदर तथा पृथ्वी पर वक्षस्थल का आरोप होने से सागरूपक है।

तमेकनेमि त्रिवृत षोडशान्तं शताक्षरं विराति प्रथ्वराभिः ।

अष्टकं षडभिविशदरूपैरुपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनमित्कर्मोहम् ॥

—श्वे० १ ४

—दहावाकियों ने उस ब्रह्मचक्र को देखा है जिसकी एक नेमि, एक प्रकृति ही परिधि—रम का घेरा है, जो तीन गुणों के युक्त जाता है, तीन गुण ही उसकी तीन पट्टियाँ हैं। सोलह इसके अन्त हैं—प्राण, थडा, आकाश, वायु, ज्योति, जल पृथिवी इन्द्रिय, मन अन्न, धीर्य, तप, मत्र, कर्म, लोभ और नाम, उस चक्र के पचास अंश हैं और बीस छोटे अंशों से जुड़ा हुआ है। छ अष्टकों से अखिल ब्रह्मण्ड है। त्रिमार्ग भेद वाला है और दो निमित्त, एक भोह वाला है।

पाच सूक्ष्म भूत और पाच सूक्ष्मभूत, आत्ममशय, परमात्म-मशय, प्रकृतिमशय, धर्ममशय और अधर्ममशय—ये पाच मशय, पाच केश, काम त्रास, तौम, माह, अहंकार, चार यानिया—श्वेदज, उद्भिज्ज, अष्टज जरायुज रद्द श्रुतुण चारह मास, तीन वरण—मन, वचन और वाया, य मत्र पचास अंश हैं। दम दन्द्रिया, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदान, विनरण, उत्सर्ग गौर आनन्द—ये बीस प्रत्यरं है। पटना प्रकृति-प्रकृत है, दूगग धानु प्रकृत है, तीसरा शिद्धि-प्रकृत है। तनमद, जनमद, धनमद, उन्नमद, ज्ञानमद, बुद्धिमद, बुद्धिमद और

जातिमद—यह चीथा मदाष्टक है। अशुभ सोचना, अशुभ सुनना, अशुभ देखना, अशुभ बोलना, अशुभ करना, अशुभ कराना, अशुभ का अनुमोदन और अशुभ का स्पर्श करना—यह पाचवा अशुभाष्टक है। नित्यधर्म, निमित्तधर्म, देशधर्म, कालधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म, आपद्धर्म, और अपवादधर्म, यह छठा धर्माष्टक है। धर्म, अर्थ और काम यह मार्गत्रय है। राग, द्वेष ये दो निमित्त हे। ममता, अहन्ता ही एक मोह है।

उपर्युक्त मन्त्र मे ब्रह्म पर रथचक्र का अगो सहित आरोप होने से सागरूपक अलंकार है।

पचलोतोन्व पचयोन्मुपवका पचप्राणोमि पंचशुद्ध्यादिमूलाम् ।

पंचावर्ता पचदु खीयवेणा पचाशद्भेदा पचपर्वामधीम ॥

—श्वे० १ ५

यहा ज्ञानेन्द्रियो पर जल का, पचमहाभूतो पर तरंगो का, पाच प्राणो पर उर्मियो का, मन पर मूल का, विषयो पर आवर्त का, दुःख-समूह पर वेग का और पचकलेसो पर पर्वो का आरोप करके ब्रह्म का नदी रूप मे वर्णन किया गया है, अत यहा भी सागरूपक अलंकार है।<sup>१</sup>

निरगरूपक—

निरग केवलम्यैव रूपणम् ।

—सा० द० १० ३२

पद्या—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।

तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर चंपस्पतीवकम् ॥

—कठ० १ ७

इस मन्त्र मे ब्राह्मण पर वैश्वानर अग्नि का आरोप होने से निरगरूपक अलंकार है।

१ अथवा इष्टव्य — कठ० ३. ६, मु० २ २. ४, मा ४, तै० २. २. १. २ ३. १, २. ४. १, २ ५. १, छा० २. २ १, २ ४ १, २. ४. २, २. ५. १, २ ६. १, २. ७. १, २. ११. १, २. १२. १, २. १३ १, २ १४ १, २. १५. १, २ १६ १, २ १७ १, २ १८. १, २. १९. १, २ २०. १, २. २१. १, २ १५. २, ३. २ १, ३. ३. १, ३. ४. १, ३ ५. १, ३. ५. २, ३. १३. ५, ३. १५ १; वृ० ५. ५. ४, ६ २ ६. ६. २. ११, ६ २. १२; श्वे० १. १४

आदित्यो ह वै प्राणो रपिरेव चन्द्रमा ।

रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तं धामूर्त्तं च तस्मान्मूर्त्तिरेव रयि ॥

—प्रश्न० १ ५

यहा आदित्य पर प्राण का तथा रयि पर चन्द्रमा का आरोप होने से निरग रूपवालाकार है ।

विश्वरूप हरिण जातवेदस परायण ज्योतिरेक तपन्तम् ।

सहस्र-रश्मि शतघा वतमान प्राण प्रजानामुदयत्येष सूर्य ॥

—प्रश्न० १ ८

यहा पर भी उपमेय सूर्य पर उपमान प्राण का आरोप है ।

पुरुष एवेद विश्व कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।

एतद्यो वेद निहित गुहायां सोऽविद्यार्षन्धि विकिरतोह सोम्य ॥

—मु० २ १ १०

इस मन्त्र में अविद्या पर अर्ण्य का आरोप होने से निरग रूपवालाकार है ।

अमाश्रचतुर्षोऽध्यवहार्यं प्रपञ्चोपशम शिवोऽद्वैत । एवभोकार आत्मैव ।  
सविशत्वात्मनोऽऽत्मान य एव वेद ॥

—मा० १२

यहा ओंकार पर आत्मा का आरोप होने से निरग रूपक स्पष्ट है ।

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाश तस्मिन्नय पुरुषो मनोमय अमृतो  
हिरण्य ॥

—तैत्ति० १ ६. १

यहा हृदय पर आकाश का आरोप किया गया है ।

ता एता देवता सृष्टा अस्मिन् महत्स्पर्णं प्रापतन् । तमशनापिपासा-  
भ्यामथवाजंत् । ता एनमद्बुधन् आपतन् न प्रशानोहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता  
अन्नमशामेति ॥

—ऐत० १ २ १

इस मन्त्र में मसार पर अर्णव (दु पमागर) का आरोप है ।

अन्तरिक्षमेवंक् । वायु साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्रुवै साम । तस्मा-  
दृच्यध्रुव साम गीयते । अन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम ॥

—छा० १ ६ २

यहा अन्तरिक्ष पर ऋक् का और वायु पर साम का आरोप होने से निरग रूपक अलंकार है ।

मृत्युर्व तमो ज्योतिरमृतम् ।

—वृ० १ ३ २८

यहा मृत्यु पर तम का तथा अमृत पर ज्योति का आरोप किया गया है ।

तद्येव वाक् सोऽपमग्निः । स होता । स मुक्ति । साऽतिमुक्तिः ॥

—वृ० ३ १ ३

यहा वाक् (स्तुतिपाठ) पर अग्नि (आव्यात्मिक) का आरोप किया गया है ।

स एव काले भूवनस्य गोप्ता विश्वाधिप सर्वभूतेषु गूढ ।

यस्मिन्मुक्ता ब्रह्मर्षयो देवतारव तमेव ज्ञात्वा मृत्युपाशाश्छिनत्ति ॥

—श्वे० ४ १५

इस मन्त्र मे मृत्युपातान् का मृत्यु के बन्धनों को ऐसा अर्थ न हो कर मृत्युरूप बन्धनों को ऐसा अर्थ है (तुलनीय शाकर भाष्य) । अत यहा मृत्यु पर पाश का आरोप होने से निरग रूपक अलंकार है ।

स्वभावमेके ऋषयो वदन्ति फाल तथाऽग्नये परिफुह्यमाना ।

देवस्यैव महिमा तु लोके येनैव आम्पते ब्रह्मचरम् ॥

—श्वे० ६ १

यहा ब्रह्म पर ऋक् का आरोप होने से रूपकालंकार है जो कि निरग है ।

१. वायव द्रष्टव्य —कठ० २ २५, ३. २, ३. ६, प्रस्त० १. १२, १. १३, ४. ४, मु० १. २. ७, २ १ २, ०. १. ८, २ २. ५; मा० ८, तै० १. ३, १. ४, १. ५, १. ८, ऐत० १. २. ४, २. १. ५, ३. १. ३, उप. १४

अश्लिष्टपरम्परितरूपक—

पचपादं पितरं द्वादशाहृतिं दिव आहृ परे अर्धं पुरोविणम् ।  
अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहृरपितमिति ॥

—प्रश्न० १ ११

इस मन्त्र में कालज्ञ पुरुष की पाच ऋतुओं पर उसके पाच चरणों का, उत्पादक शक्ति पर पितृत्व का, द्वादशमासों पर उसके अक्षयवों का, सात अश्वों पर सात चक्रों का तथा छ ऋतुओं पर छ ग्रहों का आरोप किया गया है, अतः अश्लिष्ट परम्परित रूपक अलंकार है ।

एकदेशविर्वतिरूपक—

नवद्वारे पुरे देही हंसो सेतायते बहि ।  
वशी सर्वस्य लोकस्य स्यावरस्य चरस्य च ॥

—श्वे० ३ १८

इस मन्त्र में शरीर पर पुर का आरोप करके इन्द्रियो पर नवद्वार का आरोप तो किया गया है, किन्तु पुर से सम्बद्ध अन्य किसी अंग का आरोप न होने से यहाँ एकदेशविर्वतिरूपक अलंकार है ।

मालारूपक—

अथ य एषोऽन्तरसिग्निं पुरुषो दृश्यते संबर्ह् । तामाम । तदुक्थम् ।  
तद्यजु । तद्ब्रह्म । तदर्थतस्य तदेव रूपं प्रदमुष्य रूपम् । यावमुष्य तेष्णो तौ  
तेष्णो । यन्नाम तन्नाम ॥

—छा० १ ७ ५

इस मन्त्र में नेत्रान्तरवर्ति दृश्यमान पुरुष पर ऋक्, साम, उक्थ (सामस्तोत्र) तथा यजु का आरोप होने से मालारूपक अलंकार है ।

अतिशयोक्तिमूलरूपक—

अहं वृक्षस्य रेरिवा कीर्ति पृथं विरेरिव ।

—तै० १. १०

इस मन्त्र में ससार तथा वृक्ष में भेद होने पर भी अभेद मान कर आरोप की योजना की गई है, अतः यहाँ अतिशयोक्तिमूलक रूपक चलाना है।

### १४८ परिणाम

परिणाम अलंकार भी सादृश्यमूलक है जो रूपक से मिलता-जुलता है। इस अलंकार में उपमेय से उपमान का अभेदारोप इस रूप में होता है, जिससे वह प्रकृतार्थ में उपयोगी बन जाता है। क्योंकि, इस अलंकार में उपमान उपमेय के साथ सर्वात्मना एकरूप होकर उसके कार्य में भी उपयुक्त हुआ करता है, अतः उपमान का उपमेय के उपयोग में परिणमन के कारण इसे परिणाम कहते हैं। रूपक में तो उपमान उपमेय का उपरजक ही हुआ करता है, किन्तु परिणाम में वह उपमेय से तादात्म्य स्थापित करके प्रस्तुत उपमेय के अर्थ में भी उपयोगी बन जाता है। परिणाम का लक्षण है—

दिवयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ।

परिणामो भवेत्स्वातुल्याधिकरणो द्विधा ॥

—सा० २० १० ३४

यथा—

एपोऽग्निस्तपत्पेप सूर्यं एष पञ्चन्यो मघधानेप षामु ।

एष पृथिवी रपिदेव सदसञ्चामृत च यत् ॥

—प्रश्न० २ ५

यहाँ प्राण पर आरोप्यमाण अग्नि तपनरूप प्रस्तुत कार्य में उपयोगी दिखाई गई है, अतः परिणाम अलंकार है।

द्वा मुपर्णा सपुत्रा सखाया समान वृश परिपस्वजाते ।

तपोरन्य दिप्पल स्वादृत्ति धनरननन्यो अभिचाकरोति ॥

—मु० ३ १ १

इस मन्त्र में प्रकृति पर वृक्ष तथा जीवात्मा और परमात्मा पर दो मुपर्णा पक्षियों का आरोप किया गया है। यहाँ आरोप्य पदार्थ आरोपित पदार्थानुरूप कार्य भी करने लग गए हैं, अतः परिणाम अलंकार है।

प्रकृति महावृक्ष है। इस पर जीवात्मा और परमात्मा दोनों आसृष्ट हैं। आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध स्वाभाविक और सनातन है, और सखापन का है। भेद उनमें इतना ही है कि जीवात्मा प्रकृति के अनुकूल फलों को भोगता है जिससे वह दुखी हो जाता है, और परमेश्वर केवल साक्षी बना रहता है।

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थं पादः । सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च ।  
भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एव वेद ॥

—छा० ३ १८ ३

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । त वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एव वेद ॥

—छा० ३. १८. ४

इन दोनों मन्त्रों में क्रमशः वाणी और प्राण पर अग्नि और वायु आरोपित होकर विषय (उपमेय) के स्वरूप—दीप्ति और उष्णता अर्थात् तेजस्विता—से ही कार्य कर रहे हैं, अतः यहाँ भी परिणाम अलंकार है।

विद्वान्तं स्थाय्यं समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य ।

ब्रह्मोद्भवेन प्रतरेत विद्वान् श्रोतासि सर्वाणि भयावहानि ॥

—श्वे० २ ८

इस मन्त्र में ब्रह्म पर उद्भुप—तरने के साधन—का आरोप कर के उससे समुद्ररूप भयावह ससारप्रवाह की तरणक्रिया दिखाने के कारण परिणाम अलंकार है।

द्वा सुपर्णा समुज्जा सखाया समानं वृक्षं परिपस्वजाते ।

तपोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्क्षपनरत्नन्वयो अमिचाकशोति ॥

—श्वे० ४ ६ (तुलनीय मु० ३ १ १)

एवम्,

समाने वृक्षे पुंसो निमग्नोऽजीशया शोचति मुह्यमानः ।

शुष्टं यदा पश्यत्यन्पमीशमस्य महिमानमिति बीतशोकः ॥

—श्वे० ४. ७

इस मन्त्र में आरौप्य पदार्थ प्रस्तुत कार्य में उपयोगी हो रहे हैं, अतः यहाँ परिणाम अलंकार है।'

### १.४.६ सन्देह

सन्देह अलंकार का बीज सशय ज्ञान है। दो पदार्थों के अत्यन्त सदृश होने पर द्रष्टा को अभेदबुद्धिजन्य सशय होता है, जैसे दूर से किसी स्थाणु को देखने पर साम्य के कारण उस पर पुरुष का सन्देह होता है। दूर से देखने पर द्रष्टा को स्थाणु पुरुष लगता है परन्तु वह निर्णय नहीं कर पाता कि दूरस्थ पदार्थ स्थाणु है या पुरुष है। उसका मन दो कोटियों, उपमेय कोटि स्थाणु तथा उपमान-कोटि पुरुष के मध्य में झूलता रहता है। मन की यह दोलायमान स्थिति, जहाँ ज्ञान निश्चित नहीं है, शक्य है। इस प्रकार जहाँ उपमेय पर उपमान का सशय हो, वहाँ सन्देह अलंकार होता है। सन्देह में उपमेय की अनेक उपमानों से समता होती है, परन्तु यहाँ मानोपमा के समान कवि एक उपमेय की अनेक उपमानों में साक्षात् तुलना नहीं करता है, अपितु सन्देह के कारण वह एक उपमान के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा उपमान प्रयोग में लाता है। इस प्रकार कवि का मन एक उपमेय तथा तत्समान अनेक उपमानों में झूलता रहता है। कविप्रतिभा से अनुप्राणित होने पर सन्देह में वैचित्र्य आ जाता है और वह लौकिक सन्देह न रह कर अलंकार बन जाता है।

सन्देह की व्युत्पत्ति है—सन्देहेन सायमे सह वर्तते इति सन्देहः। इस प्रकार उपमेय का सन्देह होने पर सन्देह अलंकार है। जैसे विश्वनाथ ने कहा है—

सन्देह प्रकृतेऽन्यस्य सायम प्रतिभोत्पितः।

—मा० द० १००. ३५

सन्देह अलंकार में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं (१) सन्देह सदा उपमेय और उपमान के सादृश्य के कारण होना चाहिए। सादृश्य के अभाव में सन्देह होने पर भी यह अलंकार नहीं होगा। (२) दूसरी बात यह कि सन्देह कवि प्रतिभा से अनुप्राणित होना चाहिए तभी



उस में वैचित्र्य आता है । सन्देह तीन प्रकार का है—(१) शुद्ध (२) निश्चयगर्भ (३) निश्चयान्त । छट्ट इसे मशय तथा मम्मट इसे ससन्देह नाम देते हैं ।

उदाहरण रूप में देखिए—

तर्द्धवा विजसौ । तेषो ह प्रादुर्बभूव । तन्न व्यजानत किमिद पथमिति ॥

—केन० ३ २

इस मन्त्र में किमिद पथमिति से यक्ष के रूप में प्रकट ब्रह्म के विषय में देवताओं के सन्देह का वर्णन होने में सन्देह अलंकार है ।

तास्मिञ्छुबलमुत नीलमाहु- विगल हरित लोहित च ।

एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनेति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तंजसपच ॥

—वृ० ४ ४ ९

यहां मोक्षमार्ग के विषय में मतभेद है । कोई उसे शुक्ल और कोई नीलवर्ण का, तथा कोई पिंगलवर्ण का, कोई हरित और कोई लोहित वर्ण का कहता है । किन्तु यह मार्ग साक्षात् ब्रह्म द्वारा अनुभूत है । उस मार्ग से पुण्य करने वाला परमात्मतेज स्वरूप ब्रह्मवेत्ता ही जाता है ।

इस प्रकार यहां निश्चयान्त सन्देह अलंकार है ।<sup>१</sup>

### १४.१०. आन्तिमान्

सादृश्य के आधार पर प्रकृत अर्थ में अप्रकृत अर्थ का अत्र आन्तिमान् अलंकार है । रय्यक इसकी व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं—

आन्तिश्चित्तयमं । स विद्यते यस्मिन् भणितप्रकारे स आन्तिमान् ।

—अल० सर्व० पृ० ५६

पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं—

अत्र स आन्तिमात्रमलंकार । आन्तिमानलंकार इति व्यवहारस्तवीप-  
चारिक ।

—रमयगाधर, पृ० १९१

परन्तु यहाँ यह ध्यान रहे कि साम्य के कारण एक वस्तु में दूसरी वस्तु का भ्रम वास्तविक न होकर कविप्रतिभा से युक्त होना चाहिए। अतएव शुकित्वायां रजतम् में भ्रान्ति ही है, अलकार नहीं। परन्तु मुग्धा दुग्धिया गवां विदधते कुम्भानघो वल्लभा में चादनी में मुग्ध-हृदय गापवृन्द का दुग्ध का भ्रम कविप्रतिभाजन्य होने के कारण भ्रान्तिमान् अलकार है।

विश्वनाथ का लक्षण है—

साम्यादतिमस्तदबुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः ।

—मा० २० १० ३६

यथा—

स जातो मृतान्ममिष्येत्यत्—किमिहान्य वाचविषदिति । स एतमेव पुरय ग्रह्य ततममपश्यविदमवसंमिती ३ ॥

—ऐत० १ ३ १३

इस मन्त्र में पुरय को ही ग्रह्य समझ लेने का वर्णन है जो कि कविप्रतिभोत्थित है। अतः यहाँ भ्रान्तिमान् अलकार है।

१४११ उल्लेख

उल्लेख अलकार में एक का अनेक प्रकार से उल्लेख होता है। एक ही वस्तु का या तो दर्शक अपने अपने दृष्टिकोण से देखते हैं और वह वस्तु भिन्न भिन्न प्रतीत होती है, अथवा एक ही वस्तु का रूप उसके विषय या आश्रय को बदलने पर भिन्न हो जाता है। बंरो भी हो, एक का अनेक प्रकार से वर्णन उल्लेख अलकार है। उल्लेख के इस प्रकार का भेद हो जाते हैं। प्रथम में ग्रहीता के भेद से एक का अनेकधा उल्लेख होता है जैसे एक भगवान् कृष्ण का कस, गोप, भवत आदि ग्रहीताओं के भेद से शत्रु, सया तथा भगवान् के रूप में उल्लेख होने पर प्रथम उल्लेख है। द्वितीय में एक ही वस्तु का विषय या आश्रय के भेद से भिन्न प्रकार से उल्लेख होता है। जैसे भगवती पार्वती की दृष्टि एक ही वस्तु है, परन्तु उसके विषय या आश्रय भगवान् शिव का मुख, उनका चर्माम्बर, उनके तिर पर विराजमान गंगा भिन्न भिन्न हैं। अतएव विषयभेद से कवि एक ही दृष्टि का अनेक रूप में जैसे मुख को देखकर नजीबी, चर्माम्बर को देखकर दीन तथा गंगा को देख

कर ईप्यभिरी—वर्णन करता है।' इस प्रकार ज्ञाता, दर्शक आदि के भेद से या आश्रय, विषय आदि के भेद से एक का अनेक प्रकार से उल्लेख उल्लेख अलंकार होता है। विश्वनाथ ने उल्लेख का लक्षण दिया है—

एवंचिद भेदाद् प्रहीतृणा विषयाणा तथा स्वचिन् ।

एकस्यानेकघोल्लेखो य स उल्लेख उच्यते ॥

—मा० द० १० ३७

यथा—

य सेतुरीजानानामक्षर ब्रह्म यन् परम् ।

अभय तितोषंता पार नाचिवेत शक्रेमहि ॥

—कठ० ३ २

इस मन्त्र में उपास्य, एक ही परमेश्वर को भव-पार पाने का पुत्र, अक्षर, परमपद, ससार सागर तरना चाहने वालों का परला पार आदि अनेकविध वर्णित किया गया है। अतः विषयभेद से एक ही वस्तु का अनेकविध वर्णन करने से यहाँ उल्लेख अलंकार है।

हस शुचिपद्मुरन्तरिक्षमद्धोता वेदियदतिथिर्दुरोणसत् ।

नृपद्वरसद् व्योमसद्वजा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋत बृहत् ॥

—कठ० ५ २

इस मन्त्र में एक आत्मा को ही हस ( विवेकी ), शुचिपद् ( पवित्र अवस्था में रहने वाला ), वसु, वेदिपद्, अतिथि, धीरा और श्रेष्ठों का सगी, सत्यसद, आकाशविहारो, अन्न, भूमिज, अद्रिज, आदि कहने से, विषयभेद से उल्लेख अलंकार है।

एपोर्जनिस्तपयेष सूर्य एष पन्नंन्यो मघवानेष वायु ।

एष पृथिवी रसिपदेव सइसन्वामृत च पत् ॥

—प्रश्न० २ ५

१. सदीडा दयितानने सकरुणा मातगचर्माम्बरे  
सन्नाता भुजगे तबिन्मपरसा चन्द्रेऽमृतस्फग्निने ।  
सैर्ष्या जट्टनुमुतावलोऽरुनविद्यो दीना कपालोदरे  
पावत्या नवसगमप्रणयिनी दृष्टि शिवायास्तु ध ॥

(पी० बी० वाणें, साहित्यदण, पृ० १३१, १६२३)

यहां प्राण को अग्नि, भूर्यं, मेघ, इन्द्र, वायु, पृथिवी, रवि आदि अनेक रूपों में देखा जा रहा है, अतः उल्लेखालंकार स्पष्ट ही है।

इसी प्रकार,

इन्द्रन्त्व प्राण तेजसा रद्रोऽसि परिरक्षिता ।

त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्व ज्योतिषा पति ॥

—प्रश्न० २. ९

इस मन्त्र में भी प्राण को इन्द्र, रद्र, अन्तरिक्षचारी, ज्योतिषों का पति आदि अनेक प्रकार से वर्णित किया गया है, अतः यहाँ भी विषय-भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन होने के कारण उल्लेखालंकार है।

य एव वेद । क्षेम इति याचि । योगक्षेम इति प्राणापानयो । कर्मोति हस्तयो । गतिरिति पादयो । विभुक्तिरिति पायो । इति मानुषो समाज्ञा ॥

—तै० ३ १०. २

अथ बंधो । तृप्तिरिति वृष्टो । चलमिति विद्युति । यश इति पशुपु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याशारे ॥

—तै० ३ १० ३

इन दोनों मन्त्रों में एक ही शक्ति का अनेक विध वर्णन होने से उल्लेखालंकार स्पष्ट है।

उद्यन्ह्वार । उदित प्रस्ताव । मध्यन्दिन उद्गीष । अपराह्ण प्रतिहार । अस्त यन्निघनम् । एतद्बहुवाकित्ये प्रोतम् ।

—छा० २ १४ १

यहाँ एक ही सूर्य का विभिन्न स्थितियों में भिन्न भिन्न प्रकार—ह्वार, प्रस्ताव, उद्गीष, प्रतिहार और निघन रूप—से वर्णन के कारण उल्लेख अलंकार है।

अध्यानि सप्तबन्धे स ह्वार । मेघो जायते स प्रस्ताव । वर्धनि स उद्गीष । विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार । उद्गृह्णाति तन्निघनम् । एतद्बहुप पञ्चमे प्रोतम् ॥

—छा० २ १५ १

इस मन्त्र में क्रिया (विषय) भेद से एक ही मेघ का विभिन्न रूप—हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, निधन—में वर्णन से उल्लेखालंकार है।

इसी प्रकार देखिए,

... .. अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो माम भवति । वदन् याक्  
पश्यन्चक्षु शृण्वञ्छ्रोत्र मन्वानो मन । तान्यत्पैतानि कर्मनामान्येष । स योजत  
एकैकमुपास्ते न स वेद । अकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवति । .. .

—बृ० १. ४ ७

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद्बु चन्द्रमा ।

तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापति ॥

—श्वे० ४ २

यहाँ एक ही देव का अनेक प्रकार से उल्लेख होने से उल्लेख अलंकार है।

इसी प्रकार,

कील पतगो हरितो लोहिताम्बरतडिद्गमं धृतवः समुदाः ।

धनादिमास्य दिमत्वेन यत्से यतो जातानि भुवतानि विषवा ॥

—श्वे० ४. ४

इस मन्त्र में विषयभेद से एक ही वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन होने से उल्लेख अलंकार है।

### १४.१२ उत्प्रेक्षा

उपमा के बाद उत्प्रेक्षा सर्वाधिक कविप्रिय अलंकार है। जिस प्रकार उपमा की प्रशस्ति में अनेक सूक्तियाँ प्रचलित हैं, उसी प्रकार उत्प्रेक्षा के विषय में भी कहा गया है—

सर्वालंकारसर्वस्व कविकीर्तिविवर्धनी ।

उत्प्रेक्षा हरति स्वान्तमचिरोढा स्मितादिव ॥

संस्कृत का सम्पूर्ण साहित्य उत्प्रेक्षा के सौन्दर्य से मण्डित है। वाणभट्ट के काव्य में तो उत्प्रेक्षा का परमोत्कर्ष है।

उपमा तथा रूपक के समान उत्प्रेक्षा भी सादृश्यमूलक अलंकार है। इसमें उपमेय पर उपमान की उत्कट सम्भावना होती है, अतः इसे उत्प्रेक्षा कहते हैं। उत + प्र + ईक्षा = उत्प्रेक्षा अर्थात् उत—उत्कट (प्रबल) प्र—प्रफुट (उपमान) की ईक्षा = ईक्षण (संभावना) अर्थात् जहाँ उपमान की उत्कट रूप में सम्भावना हो, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

उत्प्रेक्षा अलंकार का बीज संभावना है। सम्भावना में उपमेय और उपमान इन दो पदार्थों में मशय का पुट रहता है। परन्तु संभावना ऐसा मशय है, जिसमें उपमेय तथा उपमान इन दो कोटियों में से उपमान कोटि ही उत्कट रहती है। जैसे मुख चन्द्र मन्त्र में दो कोटियों—मुख और चन्द्र—में मशय होने पर भी उपमान कोटि ही उत्कट है, क्योंकि कवि मुख पर चन्द्र का मशय करते हुए भी मुख को मुख की अपेक्षा चन्द्र अधिक समझता है। मुख मानो चन्द्र है, इसका अर्थ है कि कवि ने मुख को लगभग चन्द्र समझ लिया है। इस प्रकार उपमेय और उपमान में मशय होने हुए भी कवि जब उपमेय को उपमान—सा मान बैठता है तब सम्भावनामूलक उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। यह सम्भावना ही उत्प्रेक्षा को सन्देह अलंकार में भिन्न करती है।

विश्वनाथ ने उत्प्रेक्षा का लक्षण दिया है—

मवेत सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रवृत्तस्य परात्मना ।

—सा० द० १० ४०

तथा उत्प्रेक्षा के १७६ भेद बताए हैं। परन्तु प्रमुख रूप से तो उत्प्रेक्षा के पांच भेद ही प्रचलित हैं—स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतुत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, वाच्योत्प्रेक्षा तथा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा।

वाच्योत्प्रेक्षा—

अपाभ्यामम । मवेतद्गच्छन्निव च मन । अनेन चंतदुपरमरायमोक्षण  
सहस्य ॥

—वेन० ४. ५

इस मन्त्र में गच्छतीव में उत्प्रेक्षावाचक इव के कारण वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा असकार है ।

ध्यान वाव चित्ताव भूप । ध्यायतीव पृथिवी । ध्यायतीवान्तरिक्षम् । ध्यायतीव द्यौ । ध्यायतीवाऽऽप । ध्यायन्तीव पर्वता । ध्यायन्तीव देवमनुष्या । तस्माद्य इह मनुष्याणा महत्ता प्राप्नुवन्ति ध्यानापादाशा इवैव ते भवन्ति । अथ येऽज्ञा कलहिन पिशुना उपवादिनस्ते । अथ ये प्रभवो ध्यानापादाशा इवैव ते भवन्ति । ध्यानमुपास्वेति ॥

—छा० ७ ६ १

इस मन्त्र से ध्यायति इव पद में वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा है ।

न वधेऽज्ञस्य हृन्पते । नास्य ज्ञानेण क्षम । घ्नन्ति त्वेवंजम । विच्छाद्यन्तीव । अप्रियवेत्तैव भवति । अपि रोदितोव ॥ ..

—छा० ८ १० ४

यहां विच्छाद्यन्ति इव, अप्रियवेत्ता इव तथा रोदिति इव पदों में वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा असकार है । शांकरभाष्य के अनुसार घ्नन्ति त्वेव में एव पद इवार्थक होने में इस अंश में भी वाच्योत्प्रेक्षा ही है ।

यत्र हि द्वैतमिव भवति तद्विद्वत् इतर जिघ्रति, तद्विद्वत् इतर पश्यति, तद्विद्वत् इतर शृणोति, तद्विद्वत् इतरमपि वदति, तद्विद्वत् इतर मनुते, तद्विद्वत् इतर विजानाति ॥

—वृ० २ ४. १४

इस मन्त्र में अद्वैत द्वैत की सभावना के कारण अतिशयोक्ति-मूलक गुणोत्प्रेक्षा है ।

यातवत्त्वेति होवाच .. मनुष्यलोक ॥

—वृ० ३ १ ८

इस मन्त्र में दीप्यत इव हि देवलोक अंश में क्रियोत्प्रेक्षा तथा लपत्यय इव हि मनुष्यलोक भाग में फलोत्प्रेक्षा असकार है ।

कतम आत्मेति—पोष्य विज्ञानमय प्राणेषु हृद्यन्तर्गोति पुरुष । स तामान सन्नुमी लोकावनुत्तरति ध्यायतीव तैलायतीव । स हि स्वप्नो भूत्वेम लोकावन्तिक्रामति मृत्यो र्वाणि ॥

—वृ० ४ ३ ७

इस मन्त्र में ध्यायतीव तथा लेलायतीव पदों में वाच्या त्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है ।

इसी प्रकार बृहदा० ४ ३ २० में भी घनतीव जिनन्तीव हस्तोव विच्छाद्यपनि तथा गर्तमिव पतति में वाच्या त्रियोत्प्रेक्षा है ।

स यत्रायमात्माऽब्रह्म न्येत्य समोहमिव न्येति अर्धनमेते प्राणा अभि-  
समायन्ति । स एतारतेजोमात्रा समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति । स यत्रैष  
घासुय पुरय पराड पर्यावर्तते । अथात्पज्ञो भवति ।

—बृ० ४ ४ १

यहां समोहमिव न्येति (मानो समोह को प्राप्त होता है) अश में जात्युत्प्रेक्षालंकार है ।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा—

यदुच्छ्वामनिःवासावेतावाहृती सम नयतीति समान । मनो ह वाच  
यजमान । इष्टपत्तमेवोदान । स एन यजमानमहरद्भ्रंश गमयति ॥

—प्रश्न० ४ ४

इस मन्त्र में आहृती पद में आहृती इव के रूप में उत्प्रेक्षा होने से प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है ।

यस्याभिहोत्रमदशमधौर्णमासमचानुमर्त्यमनापयणमतिथिर्वाजित च ।

अहृतमवंश्वदेवमविधिना हृतमासप्तमास्तस्य सोऽहान् हिनस्ति ॥

—मु० १. २ ३

इस मन्त्र में हिनस्ति पद में हिनस्ति इव के रूप में उत्प्रेक्षा होने से त्रियागत प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलंकार है (तुलनीय शास्त्रभाष्य) ।

एहोऽहोति समाहृतय सुवर्चस सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमान बहन्ति ।

प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष व पुष्य मुहृतो ब्रह्मतीर्ष ॥

—मु० १ २ ६

इस मन्त्र में भी बहन्ति पद में बहन्ति इव की उत्प्रेक्षा होने से त्रियागत प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलंकार है (तुलनीय शास्त्र भाष्य) ।



## १.४.१३ अतिशयोक्ति

अतिशयोक्ति अर्धवसायमूलक अभेदप्रधान अलंकार है। अर्धवसाय के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है। विषय अर्थात् उपमेय का निगरण करके विषयी अर्थात् उपमान के साथ उसके अभेद ज्ञान को अर्धवसाय कहते हैं। अभेदप्रधान उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों में अर्धवसाय पूर्ण नहीं होता है। उत्प्रेक्षा में अर्धवसाय साध्य होता है। परन्तु अतिशयोक्ति में अर्धवसाय उपमेय का तिरोधान होकर उपमान का ही रह जाना, जैसे चन्द्र में मुख के तिरोधान से केवल चन्द्र का ही रह जाना, सिद्ध अर्थात् पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार अतिशयोक्ति में उपमेय और उपमान के आहार्य ज्ञान से भेद का सर्वथा लोप हो जाता है और केवल उपमान का ही उपादान होता है।

अतिशयोक्ति के नाम से स्पष्ट है कि इस अलंकार में अतिशय असाधारण, लोकातीत, लोकातिश्रान्त कथन होता है। अतिशय उक्ति = अतिशयोक्ति। अतिशयिता प्रसिद्धिमतिश्रान्ता लोकातीता उक्ति अतिशयोक्तिः। अतिशय का अर्थ है बड़ी-चटी स्वाभाविक लोकमर्यादा से ऊपर उठी, लोकसीमा में न बंधी उक्ति, अर्थात् कवि का कथन। इस प्रकार अतिशयोक्ति में कवि उस मृष्टि की रचना करता है, जो विधाता के नियमों से बंधी मृष्टि से भिन्न है, जो सर्वथा उसकी अपनी कल्पित सृष्टि है। अतिशयोक्ति में कवि निरकुश होता है और अपनी कल्पना में विधाता की सृष्टि के नियमों से बंधा नहीं होता है। अतिशयोक्ति में साधारण कथनप्रकार से भिन्नता होने के कारण वैचित्र्य आता है और वैचित्र्य के अलंकारों का बीज होने के कारण अतिशयोक्ति सब अलंकारों की जननी मानी गई है। जैसे दण्डी ने कहा है—

बाणीगहतामृक्तिमिमामतिशयाह्वयम् ।

—का० आ० २ २२०

भामहू ने अतिशयोक्ति का उल्लेख किया है, परन्तु उसने इसके भेदों का विवेचन नहीं किया। उद्भूट ने इसके ४ भेद बताए हैं। हय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ ने इसके ५ भेद प्रतिपादित किए हैं।

विश्वनाथ ने अतिशयोक्ति का लक्षण दिया है—

सिद्धत्वेऽप्यवसायस्यातिशयोक्तिनिर्गच्छते ।

भेदेऽप्यभेद सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययो ।

पौर्वापर्यात्पय कार्यहेतवो सा पञ्चधा ततः ॥

—सा० द० १० ४६-४७

वतिपय उदाहरण देखिए—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावन् सत्यधर्माय दृष्टये ॥

—ईश० १५

इस मन्त्र में उपमानभूत सत्य के द्वारा ब्रह्म का निगरण होने से अतिशयोक्ति अलंकार है ।

प्र ते अथोमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नबिकेत प्रजानन् ।

अनन्तलोकात्प्रिमयो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥

—वठ० १. १४

यहां उपमान गुहा ने उपमेय हृदय को निगीर्ण कर लिया है, अतः इस मन्त्र में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है ।

एतच्छ्रुत्वा सपरिगृह्य मर्त्यं प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।

स मोदते मोदनीयं हि सद्यवा विवृतं सद्यं नबिकेतस मन्ये ॥

—वठ० २. १३

इस मन्त्र के अन्तिम पाद में उपमान सद्य के द्वारा उपमेय ब्रह्म (स्वीमवन) का निगरण होने से यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार है ।

पुरमेशादशद्वारमजस्यावत्रचेतसः ।

अनुष्टाय न शोचति विमुक्तरथं विमुच्यते एतदं सत् ॥

—वठ० ५. १

इस मन्त्र में पुरम् तथा एकादशद्वारम् उपमानों ने शरीर तथा इन्द्रियाँ इन उपमेयों का निगरण कर लिया है, अतः यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार है ।

य सर्वत्र सर्वविद्यारूपं महिमा भुवि ।

दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येव व्योम्यात्मा प्रनिष्ठितः ॥

—मु० २ २ ७

इस मन्त्र में व्योम्नि पद द्वारा हृद्-आकाश निर्गोर्ण होने से रूपकानिशयोक्ति अलंकार है ।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।

जुष्ट यदा पश्यत्यन्यनीशमस्य महिमानमिति वीतरशोकः ॥

—मु० ३ १ २

यहां उपमानभूत वृक्ष के द्वारा उपमेयभूत प्रकृति निर्गोर्ण होने से रूपकानिशयोक्ति अलंकार है ।

बृहच्च तद्विद्यमच्चिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तन्मूदनर विमानि ।

ब्रूरात्सुदूरे तद्विहान्तिके च परयत्तिवहैव निहिन गुहायाम् ॥

—मु० ३ १ ७

यहां भी गुहा उपमान से बुद्धि उपमेय को निर्गोर्ण कर रखा है, अतः रूपकानिशयोक्ति अलंकार है ।

ता एता देवताः सृष्ट्या अस्मिन् महत्यनये प्रापन्त । तमशनापि-  
पामाभ्यामन्ववाजन्तु । ता एतमनुदन—आपन्न न प्रजावीहि । यस्मिन्  
प्रनिष्ठिता अन्नमशामेति ॥

—ऐत० १ २ १

इस मन्त्र में उपमानभूत अन्न के द्वारा उपमेय रूप सत्कार निर्गोर्ण है, अतः यहाँ भी रूपकानिशयोक्ति है ।

य एवाभी तपति तमुद्गीर्णमुपामीन । उद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गापति ।  
उद्यत्तमो मयमपहन्ति । अपहन्ता ह वै मयस्य तमसो मयति य एव वेद ॥

—छा० १ ३ १

यहाँ तमोह्वर उपमान से अविद्यारूप उपमेय निर्गोर्ण होने के कारण रूपकानिशयोक्ति अलंकार है ।

रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायामि  
पुद्गरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरय शता दरोति । अथ वं हरयोऽय वं दश च  
सहस्राणि बहूनि धानन्तानि च । तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् ।  
अथमात्मा ब्रह्म सर्वानुभू ।

—श्वे० २ ५ १९

यहाँ हरि (अथर्व) रूप उपमान के द्वारा इन्द्रिय रूप उपमेय  
निर्गीर्ण है, अतः रूपवातिशयोक्ति है ।

सर्वाग्नीवे सर्वसस्ये बृहन्ते तस्मिन् हसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।

पृथगात्मान प्रेरितार च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥

—श्वे० १ ६

इस मन्त्र में जीव पर हस का आरोप तथा सरोवर पर ब्रह्म चक्र  
का आरोप है । उपमानभूत हस तथा ब्रह्मचक्र ने उपमेयभूत जीव तथा  
सरोवर को निर्गीर्ण कर लिया है, अतः यहाँ रूपवातिशयोक्ति  
अलंकार है ।

नद्यद्वारे पुरे देही हसो तैलायते बहि ।

वसो सर्वस्य लोकस्य स्यावरस्य चरस्य च ॥

—श्वे० ३ १८

इस मन्त्र में उपमानभूत हस ने उपमेयभूत आत्मा को निर्गीर्ण  
कर लिया है, अतः रूपवातिशयोक्ति अलंकार है ।

अणोरणीयान् महतो महोयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तो ।

तमश्रु पश्यति बोतशोको घातुप्रमादा महिमानमीशाम् ॥

—श्वे० ३ २०

इस मन्त्र में उपमेयस्वरूप अन्तःकरण को उपमान गुहा ने  
निर्गीर्ण कर लिया है, अतः रूपवातिशयोक्ति अलंकार है ।

एवंक जास बहृषा विबुर्वन्नदिमन् क्षेत्रे सहस्रायेव देव ।

ध्रुव मृष्ट्वा पतयस्तपेण सर्वाधिपाय कुरुते महात्मा ॥

—श्वे० ५ ३

इस मन्त्र में भी रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। यहाँ उपमानभूत जात (फन्दा) से माया रूप उपमेय निगोर्ण है।

यदा चर्मवेदाहास वेष्टयिष्यन्ति मानसा ।

तदा देवभविताप दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

—श्वे० ६ २०

यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध का वर्णन किया गया है कि जब मानव आकाश को चर्म के समान लपेट लेंगे, तब वे ईश्वर को जाने बिना दुःखों से मुक्त हो जाएंगे। अतः यहाँ सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार है।<sup>१</sup>

### १.४.१४. दीपक

दीपक उन चार अलंकारों में है, जिनका भरत मुनि ने उल्लेख किया है। दीपक शब्द की व्युत्पत्ति ✓ दीप्-प्रकाशित करना—घ्रातु से है। जो प्रकाशित करता है वह दीपक है। दीपक अलंकार को दीपक इसलिए कहा जाता है कि जैसे दीपक घर को प्रकाशित करने के साथ-साथ घर के बाहर भी प्रकाश देता है, उसी प्रकार दीपक अलंकार में भी शब्द एक स्थान पर ही स्थित होकर समस्त वाक्य को दीपित करता है। जैसे एक वस्तु को प्रकाशित करने के लिए प्रयुक्त दीपक अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है, वैसे ही दीपक में एक पदार्थ से सम्बद्ध पदार्थ अन्य पदार्थों से भी सम्बद्ध हो जाता है। जैसा, वामन शलकीकर ने दीपक को स्पष्ट करते हुए कहा है—

प्रस्तुतं कश्चित् समानो घर्मं प्रसगादन्यत्र (अप्रस्तुतेऽपि) उपकरोति  
प्रसादार्यमारोपितो दीपो रघ्यायामिवेति दीपसाम्प्रमिति भावः ।<sup>२</sup>

भरत के बाद भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट आदि सभी परवर्ती आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। विश्वनाथ ने दीपक का लक्षण किया है—

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते ।

अथ कारकमेकं स्यादनेकाराणु त्रियाणु चेत् ॥

—सा० वा० १० ४९

१. अन्यत्र द्रष्टव्य —कठ० २.२०, ३.१, ४.६, ४७, ६.१३

२. मम्मट, वाक्यप्रकाश, बालबोधिनी टीका, १६६३, पृ० ६२६

यहा विश्वनाथ ने दीपक के दो रूपों का निर्देश किया है। (१) जहा अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत का एक धर्म से सम्बन्ध हो वहा दीपक होता है, तथा (२) जहा कारक एक हो और उसका अनेक क्रियाओं से सम्बन्ध हो वहा भी दीपक होता है। परन्तु जो आचार्य दीपक में औपम्य की अभिव्यंग्यता को आवश्यक मानते हैं, उनकी दृष्टि में दीपक का दूसरा भेद सम्भव नहीं है। परन्तु, अलकारिकों में दीपक के दोनों ही रूप प्रचलित हैं।

उपनिषदों में इस अलकार के उदाहरण निम्न प्रकार से मिलते हैं—

प्राण देवा अनुप्राणति मनुष्या पशवश्च ये ।

प्राणो हि भूतानामायु तस्मात्सर्वायुषमुच्यते ॥

—तै० २ ३ १

इस मन्त्र में अप्रस्तुत देव और प्रस्तुत मनुष्यादि का एक ही धर्म प्राणन क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से दीपक अलकार है।

न जायते छिद्यते वा विपरिचिन्नाय कुतश्चिन्न धमूव चरिषत ।

अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

—कठ० २ १८

इस मन्त्र में विपरिचित इस एक कारक का जायते, छिद्यते, धमूव, हन्यते इन अनेक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध होने से दीपक अलकार है।

इसी प्रकार,

स य एवमेतद्रथन्तरमानी प्रोत वेद, बहवर्चस्यन्नादो भवति ।  
सर्वमापुरेति । ज्योर्जीवति । महान् प्रभया पशुमिर्भवति । महान् कीर्त्या । न  
प्रत्यद्दृग्निमाचामेन निष्ठीवेन । तदप्रतम् ॥

—छा० २ १२ २

इस मन्त्र में रथन्तरमाम को अग्नि में अनुस्यूत जानने वाले पुरुष—कारक—का ब्रह्मतेज से सम्पन्न होना, अन्न का भोजना होना, पूर्ण जीवन का उपभाग करना, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करना, प्रजा, पशुओं और कीर्ति के कारण महान् होना, जैमी अनेक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध दिखाया गया है, अतः यहा दीपक अलकार है।

यच्च त्वभाय पचति विश्वयोनि पाच्यारच सर्वान् परिणामयेत् ।

सर्वमेतद्विश्वमघितिष्ठत्येको गुणाश्च सर्वान् विनियोजयेत् ॥

—श्वे० ५ ५

इस मन्त्र मे एक ही कर्ता—परमात्मा—प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध को निष्पन्न करना, परिणामयोग्य पदार्थों को परिणत करना, विश्व-नियमन, सत्त्वादि समस्त गुणों की कार्यों मे नियुक्ति, ये अनेक क्रियाएँ कर रहा है, अतः यहाँ दीपक अलंकार है ।

प्राणो ब्रह्मेति ध्यजानात् । प्राणादध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । प्राणेन जातानि जीवन्ति । प्राण प्रपन्त्यभिस्रविशन्तीति ।

—तै० ३ ३

उपर्युक्त मन्त्र मे भूतानि इस एक कारक का जायन्ते, जीवन्ति, प्रवर्ति, अभिस्रविशन्ति इन अनेक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध है, अतः यहाँ दीपक अलंकार है ।<sup>१</sup>

### १४ १५. तुल्ययोगिता

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषा वा पदा भवेत् ।

एकधर्माभिसम्बन्धं स्थात्तदा तुल्ययोगिता ॥

—सा० द० १० ४८

केवल प्रस्तुत या केवल अप्रस्तुत पदार्थों का जब एक धर्म से सम्बन्ध होता है, तब वह तुल्ययोगिता अलंकार कहलाता है । यह धर्म कहीं गुणरूप होता है और कहीं क्रियारूप । यथा—

अतः समुद्रा गिरपश्च सर्वेऽश्मात्स्यन्दन्ते सिन्धश्च सर्वरूपा ।

अतश्च सर्वा ओषधयो रताश्च येनैव भूर्नस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥

—मु० २ १ ९

इस मन्त्र मे अनेक प्रस्तुत पदार्थों—समुद्र, गिरप, सिन्ध, ओषधय एव रत का एक धर्म (क्रिया) स्यन्दन्ते से सम्बन्ध होने के कारण तुल्ययोगिता अलंकार है ।

१ अन्वय इष्टव्य.—तै० ३. २-६, छा० २ १३ २. २ १४. २. २ १५ १. २ १६ २, २ १७ २, २ १८ २, २. १६. २, २. २०. २।

जिनमें सादृश्य व्यंग्य होता है । अतः ये गम्य औपम्यमूलक अलंकार हैं ।

दृष्ट अन्तः (प्रकृतस्य वस्तुन उदाहरणदर्शनेन निश्चय) यत्र स दृष्टान्तः । जो वान कही जा रही है उसे धर्मसहित उदाहरण द्वारा पुष्ट कर देना दृष्टान्त है । जो बात हम कहते हैं, उसे दृष्टान्त द्वारा हम पुष्ट करते हैं, जिससे सन्देह न रहे और हमारे कथन का निश्चय हो । दृष्टान्त से कथन का निश्चय हो जाता है । अतः दृष्टान्त में निश्चय के कारण इसे दृष्टान्त कहते हैं । दार्ष्टान्तिके सन्निधयस्वार्थस्यात्र निश्चयदर्शनादय दृष्टान्तः । जैसे कवि कहता है—'नायक को देखते ही नायिका का कामदेव से सत्तप्त मन शान्त हो जाता है ।' फिर वह अपने कथन की पुष्टि में उदाहरण देता है—'चन्द्रमा को देखने पर कुमुदिनी का पुष्प खिल उठता है ।' इस प्रकार कथन का दूसरे कथन से निश्चय हो जाने के कारण दृष्टान्त अलंकार है । यद्यपि दृष्टान्त में निश्चय का भाव होता है, परन्तु दोनों कथनों में विम्बप्रतिविम्बभाव भी होता है, और दोनों कथनों में सादृश्य गम्यरूप में प्रतीत होता है । जिस प्रकार चन्द्रमा को देखकर कुमुदिनी खिल उठती है, उसी प्रकार नायक को देखकर नायिका प्रसन्न हो उठती है । यह औपम्य व्यंग्य रूप में ही अवभासित है । इन दोनों वाक्यों में परस्पर विम्ब-प्रतिविम्ब भाव है, अतः यहाँ दृष्टान्त अलंकार है ।

सर्वप्रथम उद्भट ने इसे काव्य-दृष्टान्त के रूप में स्वीकार किया । दृष्टान्त नाम में स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र में यह अलंकार तर्कशास्त्र के प्रभाव से आया, क्योंकि न्याय में अनुमान प्रक्रिया में दृष्टान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

विश्वनाथ ने दृष्टान्त का लक्षण दिया है—

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुन प्रतिविम्बनम् ।

—सा० दा० १०. ५१

यथा—

तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते । तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त, एवं वाङ्मनश्चक्षु धोत्व च ॥

—प्रश्न० २. ४



—जिस प्रकार मधुकरराज (मधुमक्खियों के सरदार) के उत्क्रमण करने पर सभी मक्खियां उड़ जाती हैं और उसके बँट जाने पर सभी बँट जाती हैं, उसी प्रकार वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि भी प्राण के साथ उठे और बँटे ।

उपरिलिखित मन्त्र में प्राण तथा मधुकरराज के उत्क्रमण तथा प्रतिष्ठान में समानधर्म का प्रतिबिम्बन होने से यहाँ पर दृष्टान्त अलंकार है ।

इसी प्रकार देखिए,

आत्मन एव प्राणो जायते । यद्यंदा पुरये द्वायंतस्मिन्नेतदाततम् ।  
मनोऽघृतेनापात्यस्मिच्छरीरे ॥

—प्रश्न० ३ ३

स यथेमा नद्य स्पन्दमाना समुद्रायणा समुद्र प्राप्यास्त गच्छन्ति,  
मिच्छेते तामा नामरुपे, समुद्र इत्येव प्रोच्यते । एवमेवास्य परिद्वष्टुरिमा  
योऽशक्ता पुरवायणा, पुरव प्राप्यास्त गच्छन्ति, मिच्छेते चासां नामरुपे, पुरव  
इत्येव प्रोच्यते । स एषोऽङ्गोऽमृतो भवति ॥

—प्रश्न० ६ ५

इन मन्त्र में समुद्र की ओर बहती हुई नदियां तथा परिद्वष्टा की सोलह बनाया के समानधर्म में त्रिम्बप्रतिबिम्बभाव होने से दृष्टान्त अलंकार है ।

तान् तत्र मृत्युबंधा भस्वमुदके परिपश्येत्, एव पर्यपश्यद्वि  
साम्नि यदुपि । ते तु विस्वोर्ध्वा अत्र साम्नो यदुप स्वरमेव प्राविशन् ॥

—छा० १ ४ ३

यहाँ मृत्यु के द्वारा मनुष्य का अपने जान में फमाने की प्रिया को मछुए के द्वारा गहरे जल के भीतर में मछली को फमाने के दृष्टान्त द्वारा अभिव्यक्त किए जाने के कारण दृष्टान्त अलंकार है ।

इसी प्रकार,

स यथा शत्रुनि मूर्ध्नेन प्रबद्धो दिश दिश पतितवान्यत्राऽन्यतनमनश्वा  
बधनमेषोपपद्यते । एवमेव चक्षु मोक्ष्य तमनो दिश दिश पतितवान्यत्राऽन्यत-  
नमनश्वा प्राणमेषोपपद्यते । प्राणबधन हि सोम्य मन इति ॥

—छा० ६ ८ २

इस मन्त्र में भी दृष्टान्त अलंकार है ।

प्राणो वा आशाया भूयान् यथा वा {अरा भाभी समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितम् ।

—आ० ७ १५ १

इस मन्त्र में रयचक्र की भाँति में अरों के समर्पित होने तथा प्राण में सम्पूर्ण जगत् के समर्पित होने की क्रिया में विम्बप्रतिविम्बभाव होने में यहाँ दृष्टान्त अलंकार है ।

त यथा सैन्धवखिल्य उरके प्रास्त उबकनेवानुविलीयेत न हात्पोदग्रहणा-  
देव स्यात् । यतो यत्स्त्वाददोत लवणमेवं वा अर इव महद् भूतमनन्तमपार  
विज्ञानघन एवंतेभ्यो भूतेभ्य समुत्याय तान्येवानुविनश्यति । न प्रेत्य सज्ञाऽस्तीत्यरे  
ब्रवीमीति होवाच राजवत्स्य ॥

—वृ० २ ४ १२

इस मन्त्र में जल में लवण के लीन हो जाने तथा विज्ञान घन में महद्भूत के लीन होने में विम्बप्रतिविम्बभाव है, अतः यहाँ दृष्टान्त अलंकार है ।

और भी,

सत्रयास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपन्थ धान् महत्य पत्नी  
सत्तयायैव ध्रियते । एवमेवाय पृथ्व एतस्मा अन्ताय धावति । पत्र सुप्तो न कचन  
काम कामयते न कचन स्वप्न पश्यति ॥

—वृ० ४ ३ १९

इस मन्त्र में आकाश में श्येन या सुपर्ण के श्रान्त हो जाने पर पॉसले की ओर दौड़ने तथा खिन्न हुए पुरुष (जीवात्मा) के परमात्मा की ओर उन्मुख होने में विम्बप्रतिविम्बभाव होने से दृष्टान्त अलंकार है ।

यथैव विम्ब मृदयोपलिप्त तेजोमय भ्राजते तत्सुघान्तम ।

तद्वाऽऽत्मतत्त्व प्रसमीक्ष्य देही एव श्रुतायो भवने धीतशोक ॥

—श्वे० ० १४

—जिन प्रकार मिट्टी से लिपा द्वारा पिण्ड (विम्ब=सुवर्ण पिण्ड, सुवर्णोय शाकरमाष्य) शोधन किए जाने पर तेजोमय होकर चमकने लगता है,

उसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर अद्वितीय, कृतकृत्य और शोधरहित हो जाता है ।

इस मन्त्र में शोधित सुवर्णपिण्ड तथा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले जीव में विम्बप्रतिविम्बभाव की योजना के कारण दृष्टान्त अलंकार है ।

यहां उपमानोपमेय-भाव में पूर्ण साम्य नहीं है, क्योंकि मिट्टी से बना हुआ सुवर्णखण्ड स्वच्छ किए जाने पर केवल चमकता भर है किन्तु अविद्या से मुक्त होने पर जीव परमात्मस्वरूप ही हो जाता है । अतः यहां उपमा अलंकार नहीं माना जा सकता ।

सकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्घासाम्बुदृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म ।

कर्मानुगान्पनुप्रमेण देही स्थानेषु रूपान्पमितप्रपद्यते ॥

—श्वे० ५ ११

—जिस प्रकार अन्न और जल के सेवन से शरीर की वृद्धि होती है, वैसे ही सकल्प, स्पर्श, दर्शन और मोह से (कर्म होते हैं) फिर यह देही प्रमाणा (विभिन्न) योनियों में जाकर उन कर्मों के अनुसार रूप धारण करता है ।

यहां पर अन्न, जल आदि के सेवन से होने वाली शरीर की वृद्धि में तथा विविध योनिगत कर्मों के अनुसार देही के द्वारा रूप धारण करने में विम्बप्रतिविम्बभाव विद्यमान है, अतः दृष्टान्त अलंकार है ।<sup>१</sup>

### १४१८ निदर्शना

निदर्शना भी गम्य-ग्रीपम्यमूलक अलंकार है । इसमें भी दृष्टान्त तथा प्रतिवस्तूपमा के समान दो वाक्य होने हैं । इन दो वाक्यों में सादृश्य रूप, यथा आदि सादृश्यसूचक शब्दों से व्यक्त नहीं किया जाता, अपितु व्यजित हाता है । निदर्शना में दो वाक्यार्थों में परस्पर सम्बन्ध वाधित या अधवाधित होकर सादृश्य में पर्यवसित होना है । निदर्शना में भी दृष्टान्त के समान दो वाक्यार्थों में परस्पर विम्बप्रतिविम्बभाव होता है । दोनों में अन्तर यह है कि दृष्टान्त में दोनों वाक्य स्वतंत्र

होते हैं, एक दूसरे पर अवलम्बित नहीं, परन्तु निदर्शना में वाक्य एक दूसरे पर अवलम्बित रहते हैं और वे प्रायः यदि, पत, तत् आदि योजकों से जुड़े रहते हैं। दृष्टान्त में धर्मसहित वस्तुओं में विम्ब-प्रतिविम्ब-भाव होता है, परन्तु निदर्शना में यह आवश्यक नहीं।

निदर्शना या निदर्शनम् का अर्थ है—सकेत करना। इसमें पहिले एक बात कही जाती है और तब सकेत देकर उसे स्पष्ट किया जाता है, जैसा कि इसकी व्युत्पत्ति से स्पष्ट है—

निश्चित्य दर्शनं सादृश्यप्रकटनं निदर्शना । निदर्शनं दृष्टान्तकरणम् ।

निदर्शना को बोध-दर्शना भी कहा जाता है, क्योंकि इस अलंकार में किसी प्राकृतिक तत्त्व के निदर्शन से कोई न कोई शिक्षा दी जाती है।

निदर्शना भामह के समय से प्रचलित अलंकार है। इसके बाद दण्डी, उद्भट आदि आचार्यों ने भी इसके स्वरूप पर अपनी दृष्टि से प्रकाश डाला है। रुद्रक, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिबन्धना तथा असम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिबन्धना, एकवाक्यगा, अनेकवाक्यगा आदि रूपों में निदर्शना का विस्तार से विवेचन किया है।

विश्वनाथ ने निदर्शना का लक्षण दिया है—

सम्भवद्वस्तुसम्बन्धोऽसम्भववापि कुत्रचित् ।

यत्र विम्बानुविम्बत्व बोधयेत् सा निदर्शना ॥

—सा० द० १० ५२

यथा—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य बरान्निबोधत ।

सुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पपस्तत्कवयो वदन्ति ॥

—कठ० ३ १४

इस मन्त्र में उस्तरे की धारा तथा मार्ग की दुर्गमता का परस्पर सम्बन्ध असम्भव होते हुए भी उनका सादृश्य (सम्बन्ध) विम्बप्रतिविम्ब-भाव से स्थापित किया गया है। जिस प्रकार छुरे की धारा तीक्ष्ण तथा दुम्तर होती है, तन्वजानी लोग आत्मज्ञान के मार्ग को वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं, अतः यहाँ निदर्शना अलंकार है।

यथा—

स पर्यगाच्छुक्मकायमद्रणमस्ताविर शुद्धमपापविद्धम् ।  
 कविर्भतोषी परिभू स्वपभूर्पापातप्यतोऽर्पान् ध्ववधाच्चादेवोऽयु-समाभ्य ॥  
 —ईश० ८

इस मन्त्र में ईश्वर के सभी विशेषणों के साभिप्राय अर्थान् उस के गुणों के द्योतक होने से परिकर अलकार है ।

पीतोदका जग्घृषा दुग्घदोहा निरिन्द्रिया ।

अनन्दा नाम ते लोकास्तान्त गच्छति तत्र बद्ध् ॥

—कठ० १ ३

यहां सामर्थ्यहीन, मरणासन्न गौए दान में देना पाप है, इस बात पर दल देने के लिए गौओं के पीतोदका, जग्घृषा, दुग्घ-दोहा, निरिन्द्रिया साभिप्राय विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, अतः यहां परिकर अलकार है ।

स स्वर्गानि स्वर्ग्यमऽप्येपि मृत्यो प्रब्रूहि त्व अद्धानाय मह्यम् ।

स्वर्गलोका समृन्त्व भजन्त एतद द्वितीयेन वृत्ते बरेण ॥

—कठ० १ १३

यहां अद्धानाय यह सार्थक विशेषण है, क्योंकि अद्धानान् ही रहस्यपूर्ण उपदेश का अधिकारी होता है । अद्धानान्तमने ज्ञानम् ।' इस कारण यहां भी परिकर-अलकार है ।

दिव्यो ह्यमूर्तं पुष्य सबाह्याभ्यन्तरो ह्यत्र ।

अप्राणो ह्यमना सुषो ह्यभरात्परतः पर ॥

—मु० २ १ २

इस मन्त्र में ब्रह्म के स्वरूप व शक्ति के द्योतक सभी विशेषण साभिप्राय प्रयुक्त होने से परिकर अलकार है ।

एष सर्वेश्वर । एष सर्वज्ञ । एषोऽन्तर्यामी । एष योनिः सर्वस्य ।  
 प्रथमाप्यपी हि भूतानाम् ।

—मा० ६

यहाँ ईश्वर की सत्ता व शक्ति के द्योतक होने से सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्दानी, योनि तथा सर्वस्य प्रभवाप्स्यौ ये सभी विशेषण साभिप्राय हैं, अतः परिकर अलंकार है ।

स हीवाचाजातशत्रु — प्रतिलोम चैतद्यद ब्राह्मण क्षत्रियमुपेयाद् ब्रह्म मे वक्ष्यन्तीति । ध्येय स्वा क्षत्रियध्यामीति । त पाणावादायोत्तस्थौ । तौ ह पुरुष मुप्तमाजगमु । तमेतैर्नामिदिरामन्त्रपाचक्रे बृहन् पाण्डरवात् सोम राजन्ति । स नोत्तस्थौ । त पाणिनापेय धोघयाचकार । स होत्तस्थौ ।

—वृ० २ १ १५

इस मन्त्र में बृहन् पाण्डरवात्, सोम, राजन् आदि विशेषण प्रशंसा-बोधक होने से साभिप्राय प्रयुक्त है, जिससे वह पुरुष अपनी महिमा सुनकर उठ पड़े, अतः यहाँ परिकर अलंकार है ।

एकध्वानुदृष्ट्यभेतदप्रमेय ध्रुवम् ।

विरज पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुव ॥

—वृ० ४ ४ २०

यहाँ ब्रह्म के लिए अप्रमेयम्, ध्रुवम्, विरज, अज आदि साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग हुआ है, अतः परिकर अलंकार है ।

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽप्यो यस्मात्प्रपञ्च-परिवर्ततेऽप्यम् ।

धर्मावह पापनुद भोगेन ज्ञात्वाऽऽत्मस्यममृत विश्वधाम ॥

—श्वे० ६ ६

यहाँ धर्मावहम्, पापनुदम्, भोगेन आदि विशेषण साभिप्राय होने से परिकर अलंकार है ।

### १.४ २० परिकरान्कुर

जैना कि नाम से ही स्पष्ट है, यह अलंकार परिकर अलंकार से उत्पन्न हुआ है । परिकर अलंकार में विशेषणों का साभिप्राय प्रयोग

१ अथन दृष्ट्य — बृ० २ १२, २ १८, मां० ७, वृ० ६ १.१-३, श्वे० ४ २१, ६.७, ६ १६

होता है, परन्तु परिकराकुर में विशेष्य साभिप्राय होता है। अतः परिकर के लक्षण में केवल विशेषण पद को हटाकर विशेष्य पद का प्रक्षेप करने से परिकराकुर अलकार का लक्षण बन जाता है। इस प्रकार विशेष्य का साभिप्राय प्रयोग परिकराकुर अलकार है।

मम्मट तथा विश्वनाथ ने परिकराकुर का उल्लेख नहीं किया। यह परवर्ती प्रालकारिको की कल्पना है। अप्ययदीक्षित ने परिकराकुर का लक्षण दिया है—

साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकराकुरः ॥

—कुवलयानन्द ६३

कुछ उदाहरण देखिए,

तदभ्यद्रवत् । तमभ्यवदत्कोऽस्तीति । अग्निर्वा अहमस्मीत्यग्नीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥

—केन० ३. ४

इस मन्त्र में जातवेदा (समस्त पदार्थों को जलाने वाला) साभिप्राय विशेष्य है, अतः यहाँ परिकराकुर अलकार है।

तदभ्यद्रवत् । तमभ्यवदत्कोऽस्तीति । वायुर्वा अहमस्मीत्यग्नीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥

—केन० ३. ५

यहाँ मैं केवल वायु नहीं, अपितु मातरिश्वा—सूत्रात्मा वायु, मातरि (अन्तरिक्ष में) श्वयत्न (विचरण करने वाला) हूँ, इस प्रकार साभिप्राय विशेष्य का प्रयोग होने से परिकराकुर अलकार है।

तद् तद्वनं नाम । तद्वनमित्युपासितव्यम् । स य एतदेव वेद अग्निं ह्येनं सर्वाणि भूतानि सवाञ्छन्ति ॥

—केन० ४. ६

यहाँ वनम्—वननीय, भजनीय—साभिप्राय विशेष्य के कारण परिकराकुर अलकार है। वनम् √वन् (सभवती) + अच् का प्रयोग ब्रह्म की अतिशय भजनीयता का द्योतक है।

आदि सनिहितं गृहाचर नाम महत्पद्मव्रतं तत्समपितम् ।

एजत्प्राणन्निमिषरुचं यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यम् ।

परं विज्ञानाच्छरिष्ठं प्रजानाम् ॥

—मु० २ २ १

इत्त मन्त्र मे गुहावरम (हृदयरूपी गुहा मे स्थित) साभिप्राय  
विशेष्य के कारण परिकराकुर अलकार है ।

अन्न हि भूताना ज्येष्ठम् । तस्मान्सर्वायुषमुच्यते । सर्वे च  
तेऽन्नमाप्नुवन्ति । येऽन्नं ब्रह्मोपासते ।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि जातान्यन्नेन वर्धन्ते ।

अद्यनेऽति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते ॥

तस्माद्वा एतस्मादन्नरममयान्, अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय । तेनैव  
पूर्ण । स वा एष पुरुषविद्य एव । तस्य पुरुषविद्यनामन्वय पुरुषविद्यः । तस्य  
प्राण एव शिरः । स्यादो दक्षिण पक्षः । अपान उत्तर पक्षः । आकाश आत्मा ।  
पृथिवी पृच्छ प्रतिष्ठा ।

—तै० २ २

यहा अन्नम्—अद्यते अति च सार्थक विशेष्य है । इसका अभिप्राय  
है कि अन्न सम्पूर्ण प्राणियों का भोज्य है और उनका भोक्ता भी । अत  
यहा परिकराकुर अलकार है ।

स एतमेव सीमान विदार्यतेया द्वारा प्रापद्यत । संया विद्वतिर्नाम द्वा ।  
तदेतन्नानन्दनम् । तस्य प्रप आवस्यपास्त्रय स्वप्ना अपमावस्यपोऽयमावस्यपोऽयमावस्य  
इति ॥

—ऐत० १ ३ १२

इम मन्त्र मे कहा गया है कि आत्मा सीमा (मूर्धा) को विदीर्ण  
कर इसी द्वार से देह में प्रविष्ट हुआ, अत इम द्वार का नाम विद्वति  
है, यह परमेश्वर का स्थान अर्थात् मार्ग जाने से परमानन्द का हतु है,  
अत नान्दन कहनाता है । इम प्रकार विद्वति और नान्दन सार्थक विशेष्य  
होन मे यहा परिकराकुर अलकार है ।

तस्माद्विद्वदो नाम । इदग्दो ह च नाम । तमिदग्द सन्निमित्त इयावसने  
परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवा, परोक्षप्रिया इव हि देवा ॥

—ऐत० १ ३ १४



प्रत्यक्ष नाम नहीं लेते। वैसे भी परोक्षप्रिया हि देवाः, फिर सम्पूर्ण देवताओं के भी देव का तो कहना ही क्या। देवजन, ऋषि तथा महर्षि नाम को रहस्य से रखते हैं तथा भेद की बात जिगासु को ही कहते हैं।

इस मन्त्र में इन्द्र साभिप्राय विशेष्य है, अतः यहाँ परिकराकुर अलंकार है।

त हागिरा उदगीयमुपासाचक्रे । एतमु एवाऽऽङ्गिरस मन्यन्तेऽङ्गाना यदस ॥

— द्रा० १ ० १०

यहाँ अगिरा विशेष्य साभिप्राय है। अगिरा नामक महर्षि प्राण को साधन बनाकर उदगीय-उपासना किया करता था। मुख ने जप, पाठ तथा स्मरण किया करता था, इससे उसका कल्याण हो गया। इस कारण तब से इस प्राण को ही ब्रह्मजानी अगिरा कहते हैं, क्योंकि यह अगो का रस है, सब इन्द्रियों का सार है।

सा वा एषा देवता दूर्नाम । दूर ह्यस्या मृत्युः । दूर ह वा अस्मान्मृत्युर्भयति य एव वेद ॥

— वृ० १ ३ ९

इस मन्त्र में प्राणदेवता को दूर्नाम अर्थात् दूर, इस प्रकार विन्यास कहा गया है। इस प्राणदेवता से मृत्यु अर्थात् आसक्ति रूप पाप दूर है। प्राण अससर्गप्रमी है, अतः समीपस्थ होने पर भी इससे मृत्यु की दूरता है, सो दूर इस प्रकार ही इसकी प्रसिद्धि है। इस प्रकार प्राण की विद्युद्धि बतलाई गई है (तुलनीय शाकरभाष्य)। यहाँ दूर्नाम सार्थक विशेष्य होने से यहाँ परिकराकुर अलंकार है।

द्वृत्तवासाकिर्हानूचानो गार्ध्वं जात स होवाचाजातयाद्वा कायम्—ब्रह्म ते श्रवाणीति । स होवाचाजातयाद्वा—सहस्रमेतस्या वाचि द्दम्, जनको जनक इति वं जना धावन्तीति ॥

— वृ० २ १ १

यहाँ जनको जनकः साभिप्राय विशेष्य है, जिसका तात्पर्य है 'जनक बड़ा दानी है, जनक बड़ा श्रोता है' अर्थात् 'जनक देने की इच्छा वाला है, जनक ब्रह्मतत्त्व के श्रवण की इच्छा वाला है।' अतः यहाँ परिकराकुर अलंकार है।

इतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च  
 सौरश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चंते वसव । एतेषु हीद सर्वं वसु हितमिति  
 तस्माद्वसव इति ॥

—वृ० ३ ९. ३

इस मन्त्र में 'वासयोग्य' अथवा 'निवामस्थान' अर्थ होने में  
 वसव मार्यक विशेष्य है । जगदिद सर्वं वामपति वसन्ति च (देखिए  
 शाक्यभाष्य) । अतः यहाँ परिक्रान्तुर अलकार है ।

या ते इद्र शिवा तनूरपोराऽपापकाशिनो ।

तया नस्तनुवा शतमया गिरिशान्तामिचारशीहि ॥

—श्वे० ३ ५

इस मन्त्र में गिरिशान्त—गिरी स्थित्या श सुख तनोतीति—मार्यक  
 विशेष्य है कि 'हृ पर्वता पर शान्ति करने वाले परमेश्वर । हमारी ओर  
 भी मगनमय दृष्टिपात करो अर्थात् हमें कन्यागणपथ में युक्त करो,  
 अतः यहाँ परिक्रान्तुर अलकार है ।

यामिशु गिरिशान्त हस्ते विमर्ष्यस्तवे ।

शिया गिरिश्वा ता कुरु मा हिनी पुरुष जगन् ॥

—श्वे० ३. ६

है ? इसका समाधान है कि यदि कारणरूप प्रस्तुत अर्थ गम्य है, तो उसे कार्यरूप में अभिहित किया जा सकता है। जैसे हयग्रीव राक्षस ने स्वर्ग को जीत लिया, इस कारण को न कह कर 'हयग्रीव ने इन्द्राणी के केशो का अलंकार करने वाली पारिजात की मजरियों को मसल डाला', इस कार्य का अभिधान किया गया है। यहाँ स्वर्गविजय-रूप व्यय का कार्यरूप—पारिजातमजरीमर्दन—से अभिधान किया गया है। अतः यहाँ पर्यायोक्त है।

पर्यायोक्त अलंकार की निरुक्ति से ही इसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। पर्यायेण प्रकारेण, प्रकारान्तरेण, कथनं पर्यायोक्तम्।

भामहू तथा दण्डी ने पर्यायोक्त को स्वीकार किया है, परन्तु वामन ने उल्लेख नहीं किया। रुद्रट ने इसे पर्याय के नाम से स्वीकार किया है। बाद में रुय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ, अण्णदीक्षित आदि आलंकारिकों ने इसका विवेचन किया है।

विश्वनाथ ने पर्यायोक्त का लक्षण दिया है—

पर्यायोक्तं यदा भव्या गम्यमेवाभिधोदते ।

—सां० द० १०. ६१

यथा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयनगतिः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—श्वे० ६. १४

इस मन्त्र में ऋषि का कथ्य है कि—

—सब तत्वों का प्रकाशक होने पर भी सूर्य ने ग्रह को प्रकाशित करने का सामर्थ्य नहीं, न ही चन्द्र, तारे तथा विद्युत् में यह शक्ति है, बेचारी (साधारण) अग्नि की तो बिजान ही क्या ? भासमान जगत् भी स्वतः प्रकाशरूप परमात्मा

१. दृष्टास्ता नन्दने शब्द्याः केशतन्मोगत्तात्तिता ।

सावत पारिजातस्य मञ्जरीं यस्य भंजिकं ॥

(रुय्यक, अलं० एवं० पृ० १४२)

के प्रकाशित होने से ही प्रकाशित हो रहा है। जिस प्रकार सोहा आदि पदार्थ जलाने वाले अग्नि के साथ ही (उसी की शक्ति से) जलाते हैं, स्वतः नहीं, उसी प्रकार वे सब सूर्यादि ब्रह्म के प्रकाश अर्थात् दीप्ति से ही प्रकाशित होते हैं।

यहा ब्रह्म के स्वतः प्रकाशत्वरूप गम्य अर्थ को प्रकारान्तर से वाच्य कर दिया गया है अतः पर्यायोक्त अलंकार है।

### १४२२. अर्थान्तरन्यास

एक अर्थ अर्थात् कथन के समर्थन में जब दूसरे अर्थ अर्थात् कथन को समर्थक के रूप में रखा जाता है, तब अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है जैसा कि इसकी निरुक्ति से स्पष्ट है—अव्यंते षण्णोपत्वेन इष्यते इति अर्थं प्रस्तुतम् । अन्यं अर्थं अर्थांतरम् अप्रस्तुतम् । तस्य प्रस्तुतसमर्थकत्वेन न्यास अर्थांतरन्यास । अर्थान्तरन्यास अलंकार में भी दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों के समान दो वाक्य रहते हैं। इसमें एक समर्थ्य वाक्य होता है अर्थात् ऐसा वाक्य जिसका समर्थन करना इष्ट होता है, और दूसरा वाक्य समर्थक होता है जो वही हुई बात का समर्थन करता है। अर्थान्तरन्यास में भी यद्यपि दो वाक्यों में परस्पर औपम्य की प्रतीति व्यंग्य के रूप में होती है तथापि कवि का उद्देश्य सादृश्य की अपेक्षा समर्थन की ओर अधिक रहता है। अतः, अर्थान्तरन्यास का बीज दो वाक्यों में परस्पर समर्थ्य-समर्थकभाव है। एक कथन का समर्थन कई प्रकार से हो सकता है अतः अर्थान्तरन्यास के कई भेद हो जाते हैं। जैसे कभी सामान्य से विशेष या विशेष से सामान्य, कभी कार्य से कारण या कारण में कार्य का समर्थन होता है। यह समर्थन कभी माधर्म्य से तथा कभी वैधर्म्य में होता है। इस प्रकार अर्थान्तरन्यास के प्रमुख आठ भेद हो जाते हैं।

विश्वनाथ का अर्थान्तरन्यास का लक्षण है—

सामान्य वा विशेषेण विशेष्येन वा यदि ।

कार्यञ्च कारणेनेह कार्येण च समर्थने ॥

साधर्म्येनेतरेणार्थान्तरन्यासोऽप्युच्यते ॥

—सा० द० १० ६१ ६२

यथा—

भूरमेते विपरीते विग्रहो भविष्या या च विद्येति ज्ञाता ।

विद्यामीप्सिनं न विवेतम मग्ये न त्वा वामा बहुषोऽलोमुपत ॥

—पृ० २ ४

—जो विद्या और अविद्या नाम से जानी गई हैं, वे दोनों एक दूसरे से विपरीत तथा भिन्न मार्ग को ले जाने वाली हैं। मैं तुझ नचिकेता को विद्या-भिलाषी मानता हूँ, क्योंकि बहुत ही कामनाएँ भी तुझे नहीं लुप्त सकतीं।

यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयधीरा पण्डितमग्न्यमाना ।

जद्व्यग्न्यमाना ररियन्ति मूढा अग्धेनैव नीयमाना यथान्धा ॥

—मु० १ २ ८

इस मन्त्र में अग्धेनैव नीयमाना यथान्धा इस विशेष वाक्य से सामान्य वाक्य का समर्थन हुआ है, अतः यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्वम् ।

तत्र योनि कृण्वसे न हि ते पूर्वमक्षिणत् ॥

—इवे० २ ७

—सवितादेव के रत्न प्रलय—प्रकाश के प्रकट होने—से ब्रह्म का सेवन करना चाहिए, उसी प्रकाश में आत्म जागृति का स्थान करना चाहिए। इससे उपासक के पूर्वकर्म (शुभकर्म) का नारा नहीं होता।

यहाँ पूर्वनिदिष्ट अर्थों की पुष्टि के लिए अन्तिम वाक्य (अर्थ) दिया गया है, अतः यहाँ भी अर्थान्तरन्यास अलंकार स्पष्ट है।

## १.५. विरोधमूलक अलंकार

जिन अलंकारों का आधार विरुद्ध वचन या उक्ति होता है, वे विरोधमूलक अलंकार कहलाते हैं जैसे विभावना तथा विशेषोक्ति। इन अलंकारों में विरोधवचन दिखाई देता है, क्योंकि कवि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति या कारण के रहते हुए भी कार्य की अनुत्पत्ति बताता है। इस प्रकार विरोधाश्रित वचन कहने से वे विरोधमूलक अलंकार कहलाते हैं।

### १.५ १. विरोध

विरोध का अभिप्राय एक आश्रय के साथ असम्बद्ध रूप से प्रतिपादित दो पदार्थों के ऐसे परस्पर सम्बन्ध का अभिप्राय है जो कि उभे आश्रय पर उनमें आभासित हुआ करता है। यह विरोध प्रत्यक्ष अथवा वास्तविक तथा अप्रत्यक्ष अथवा आपातत प्रतीत दो रूपों का हो सकता है। इनमें वास्तविक विरोध तो एक महादोष है, किन्तु आपातत प्रतीत विरोध अथवा विरोधाभास एक अलंकार अथवा वैचित्र्य है। विरोध का क्षेत्र विभावना एवं विशेषोक्ति के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक है। विरोध के नाम में ही स्पष्ट है कि इसमें विपमता का पुट रहता है। परन्तु इन विपमता का निराकरण होना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए विरोधाभास के मूल में प्रायः श्लेष अलंकार रहता है, जिससे विपमता लाने वाले अर्थ का परित्याग करके अन्य उपयोगी अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है। इसमें विपमता का परिहार हो जाता है।

विरोध प्राचीन अलंकार है जिसका प्रारम्भ भामह के समय से हुआ। दण्डी आदि परवर्ती आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। कुछ आचार्य इसे केवल विरोध तथा कुछ विरोधाभास कहने हैं।

विरोधाभास की व्युत्पत्ति है—आ ईषद् भासत इत्याभास ।  
विरोधश्चासावाभासरथेति विरोधाभास ।

विश्वनाथ का विरोधाभास का लक्षण है—

जातिरचनभिर्जात्याद्यं गुणो गुणादिभिस्त्रिभि ।

त्रिया त्रियाद्भ्याभ्यां यद् द्रव्ये द्रव्येण वा मिय ॥

विद्वदभिव भासेत विरोधोऽनो वसादृति ।

इस प्रकार विश्वनाथ ने विरोध के लक्षण के साथ उसके दस भेद भी स्वीकार किए हैं ।

इस अलंकार के उपनिषदों में प्राप्त कतिपय उदाहरण देखिए—

अनेज्जदेक मनसो जवीयो नंतद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।

तद्भावतोऽभ्यामत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिवा वधाति ॥

—ईश० ४

इस मन्त्र में परमेश्वर अथवा आत्मतत्त्व की क्रियाएँ अनेजत् और जवीय, धावत और तिष्ठत परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने से विरोधाभास अलंकार है । वास्तव में यहाँ विरोध नहीं है, क्योंकि आत्मतत्त्व की सर्वत्र सत्ता मानने एवं उसको नित्य मानने से इन दोषों का परिहार हो जाता है ।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत ॥

—ईश० ५

इस मन्त्र में आत्मतत्त्व के—एजति-नैजति, दूरे-अन्तिके, सर्वस्य अन्तरस्य-सर्वस्य बाह्यत प्रापातत परस्परविरुद्ध भासित होने वाले धर्म प्रतीत हो रहे हैं, किन्तु ब्रह्म को मायारहित तथा मायासहित मानने एवं ससार का कारण मानने से उसमें दिखाई देने वाले इन विरुद्ध धर्मों का परिहार हो जाता है । अतः यहाँ विरोधाभास अलंकार है ।

यदि मन्यसे सुवेदेति दध्रमेवापि नून त्व वेत्य ब्रह्मणो रूपम् । यदस्य त्व यदस्य च देवेषु । अयं नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥

—केन २ १

इस मन्त्र में सुवेदेति तथा दध्रमेव त्व वेत्य परस्पर विरुद्धार्थक पद प्रतीत होते हैं । किन्तु यस्तुत ये पद ब्रह्म की दुर्विज्येता अर्थात् सर्वविगयातीतता के बोधक हैं ।

अवनापापि यर्हाभयो न सम्य' शब्दस्तोऽपि बहवो य न विद्यु ।

आत्तयो वरता कुशलोऽस्य सध्याऽऽरवयो जाता कुशलानुनिष्टः ॥

—कठ० २. ७

इस मन्त्र के शुक्वन्तोऽपि न विद्युः भाग मे विरोध प्रतीत होता है। परन्तु, कुसस्कार से ग्रस्त जन आत्मवर्णन सुनकर भी नहीं समझते कि आत्मा क्या है, इस प्रकार यहा विरोध का आभास मात्र होने से विरोधाभास अलकार है।

आसीन दूर व्रजति शयान याति सबंत ।

कस्त भवामद देव मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥

—कठ० २ २१

इस मन्त्र म आसीनो व्रजति तथा शयानो याति मे त्रिया से त्रिया का विरोध, एव मद अमदम् मे गुण से गुण के विरोध की प्रतीतिमात्र होने से विरोधाभास अलकार है।

इसी प्रकार,

अशरीर शरीरेष्वनवस्येष्ववस्थितम् ।

महान्त विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति ॥

—कठ० २. २२

यहा ईश्वर का शरीरो मे अशरीरो तथा चिन्तितो मे निश्चल रूप मानना विरुद्ध सा प्रतीत हो रहा है, पर आत्मा मे नित्यत्व एव सर्वव्यापकत्वादि गुणो के होने से विशेष का परिहार हो जाता है, अत विरोधाभास अलकार है।

दूहच्च तद्विष्यमचिन्त्यरूप सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतर विभाति ।

दूरात्सुदूरे तद्विहान्तिके च पश्यत्स्वहेव निहित गुहायाम् ॥

—मु० ३ १ ७

यहा भगवान् को दूर से दूर तथा समीप से समीप मानने मे विरोध-सा प्रतीत हो रहा है, पर सर्वव्यापित्व धर्म के कारण विरोध का परिहार हो जान से विरोधाभास अलकार है।

इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् के पष्ठ अनुवाक मे, ब्रह्म को सत्-अमत्, निरस्त अनिश्चन अर्थान् निर्वचन करने योग्य और अनिर्वचनीय, निलयन अनिलयन, अर्थात् आश्रय-अनाश्रय, विज्ञान-अविज्ञान, मत्य अनृत आदि परस्परविरोधी भासमान तत्त्वो से युक्त वर्णित करने से विरोधाभास अलकार है। यथा—



असन्नेव स भवति । असद् ब्रह्मेति वेद चेत् ।  
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तानेन ततो विदुरिति ॥

\*\*\* \*\* तदनुप्रविश्य । सच्च त्यञ्चाभवत् । निरुक्त चानिरुक्त च ।  
निलयन चानिलयन च । जिज्ञान चाविज्ञान च । सत्य चानृत च । सत्यमभवत् ।  
यदि किञ्च । तत्सत्यमिषाद्यक्षते ॥

—तै० २ ६

• हा३वु हा३वु हा३वु । अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् ।  
अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नाद ॥

—तै० ३. १०

इमं मन्त्र मे अहमन्नम्-अहमन्नाद —मैं अन्न हूँ, मैं ही अन्न को खाने  
वाला हूँ अर्थात् मैं ही भोग्य हूँ और भोक्ता भी—मं विरोध प्रतीत हो  
रहा है, परन्तु ब्रह्मवेत्ता द्वारा सर्व ब्रह्ममय जगत् मानने से विरोध का  
परिहार हो जाता है ।

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा  
अवेदा । अत्र स्तनोऽन्तेनो भवति घ्नूणहाऽघ्नूणहा चाण्डालोऽचाण्डाल पीतकसोऽ-  
पीतकस भ्रमणोऽभ्रमणस्तापसोऽतापस । अनन्वागत पुष्पेनानन्वागत पापेन ।  
तीर्णो हि तदा सर्वाऽङ्घ्रिकान् दृढयस्य भवति ॥

—वृ० ४ ३ २२

इस मन्त्र मे सुषुप्तिस्थ आत्मा की निमग तथा निशोक  
स्थिति का वर्णन विरुद्ध धर्मों से करने के कारण विरोधाभास  
अलंकार है ।

सर्वेन्द्रियगुणामास सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

सर्वस्य प्रमुमीशान सर्वस्य शरणं मुहूर्त् ॥

—श्वे० ३ १७

इस मन्त्र मे समस्त इन्द्रियवृत्तियों के रूप मे अवभासित  
होता हुआ भी परमात्मा का सर्वेन्द्रिय-विवर्जित रूप मे वर्णन होने से  
विरोधाभास अलंकार है ।

त्व स्त्री त्व पुमानसि त्व कुमार उत वा कुमारी ।

त्व जीर्णो दण्डेन यञ्चसि त्व जातो भवसि विश्वतोमुख ॥

—श्वे० ४. ३

इस मन्त्र में एक ही पदार्थ को स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी इत्यादि परस्परविरुद्ध धर्मों से वर्णन करने पर आपातत पदार्थों के सम्बन्ध में विरोध-सा प्रतीत हो रहा है, पर जब उस ईश्वरतत्त्व की सर्वत्र विद्यमानता का ध्यान किया जाता है, तो मूल रूप से सब में उसके विद्यमान होने से सभी विरुद्ध धर्मों का परिहार हो जाता है। अतः यहाँ विराधाभास अलंकार है।<sup>१</sup>

### १.५२ विभावना

विभावना विरोधमूलक अलंकार है। लोक में साधारण नियम है कि कारण स वाय उत्पन्न होता है, जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है। कार्य कारण के इस लोकप्रसिद्ध नियम का विभावना अलंकार में व्यतिश्रम दखा जाता है। यहाँ कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति प्रदर्शित की जाती है। ऐसी बात नहीं कि कारण वित्कुल ही नहीं होता। वह होता तो है, परन्तु लोकप्रसिद्ध नहीं होता। अतः एव आपातत प्रतीत होता है कि कारण के बिना कार्य हो रहा है। परन्तु, वास्तव में गुप्त कारण वहाँ रहता अवश्य है। जैसे 'नायिका अग्नि के बिना ही जल रही है' वाक्य में दाह के कारण 'अग्नि के बिना ही' दाहस्वी कार्य की उत्पत्ति बताई गई है। अग्नि दाह का लोकप्रसिद्ध कारण है। कवि इस लोकप्रसिद्ध कारण कार्य के नियम का उल्लंघन करके चमत्कार उत्पन्न करता है। परन्तु, वस्तुतः कविकल्पित कारण तो यहाँ है ही। नायिका के दाह का कारण नायक का वियाग है, जिसे कवि ने गुप्त रखकर अपन कथन में वैषम्य उत्पन्न किया है। इस प्रकार विभावना तथा इस वग के विशोक्ति आदि सभी अलंकारों में विषमता उत्पन्न करके कवि वैचित्र्य लाने का प्रयास करता है। परन्तु, कारण-कार्य के नियम के उल्लंघन की यह विषमता आपातत ही प्रतीत होती है। गूढ़ कारण को जान लेने पर यह विषमता दूर हो जाती है। चाहे लोकप्रसिद्ध कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति प्रदर्शित की गई हो तथापि कविकल्पित गूढ़ कारण तो वहाँ अवश्य रहता है। कारण के कविकल्पित होने के कारण ही इस अलंकार में सौन्दर्य आ जाता है।

विभावना की व्युत्पत्ति से इस अलंकार का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है—

विभावयति कारणांतर—अप्रसिद्धकारण, विदग्धमात्रवेद्य कारण—  
हरपयसीति विभावना अथवा विभावयने अनुमीयने कारणान्तर प्रसिद्धात् कारणाद  
अद्यत् कारण पस्याम् ।

विश्वनाथ ने विभावना का लक्षण दिया है—

विभावना विना हेतु कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।

उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता ॥

—सा० व० १० ६६

यथा—

न तत्र रथा न रथयोगा न पश्यान्तो भवन्ति । अप रथान रथयोगान्  
पथं सुन्ते । न तत्रानन्दा मुद प्रमुदो भवन्ति । अथानन्दाङ्गमुद प्रमुदं सृजते ।  
न तत्र येशान्ता पुष्करिण्य स्रवन्त्यो भवन्ति । अप येशान्तान् पुष्करिणी  
स्रवन्ती सृजते । स हि कर्ता ॥

—वृ० ४ ३ १०

यहां कारण के बिना कार्योत्पत्ति का वर्णन होने से विभावना अलंकार है ।

इसी प्रकार,

अपाणिपादो जवनो शहीता पश्यत्यचक्षु सृणोत्यकर्णं ।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरस्य पृथ्य महान्तम ॥

—श्वे० ३. १९

इस मन्त्र में बिना हाथ-पैर के ग्रहण तथा चलन शक्ति, बिना नेत्रों के दर्शन शक्ति, बिना कानों के श्रवण सामर्थ्य आदि का वर्णन होने से विभावना अलंकार है ।

### १.५ ३ विशेषोक्ति

विभावना से ठीक विपरीत विशेषोक्ति अलंकार है । विभावना में कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति दिखाई जाती है, तो विशेषोक्ति में कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ कारण के रहते हुए भी कार्य का न होना दिखाया जाता है । जब कवि अपनी प्रतिभा से अनुप्राणित ऐसी बात

कहता है जहा कारण के होने पर भी कार्य का अभाव हो, तो वहा विशेषोक्ति अलंकार होता है। निष्कर्ष यह है कि प्रसिद्ध कारण के विद्यमान होने पर भी उसके फल के अभाव का कथन विशेषोक्ति अलंकार है। कारण के कार्य को उत्पन्न करने में ममथं रहते भी यदि कार्य नहीं हो रहा है तो इसका अर्थ है कि अवश्य कुछ न कुछ कार्य की उत्पत्ति में बाधक है। परन्तु कवि कार्य की उत्पत्ति के बाधक इस तत्त्व का उल्लेख न करके अपने कथन में वैचित्र्य लाना चाहता है, जो कि प्रत्येक अलंकार का प्राण है। सहृदय पाठक इस अव्यक्त बाधक तत्त्व की कल्पना कर लेते हैं, तो प्रसिद्ध कारण के रहते भी कार्य की उत्पत्ति का अवयन उन्हें अमग्न नहीं लगता प्रत्युत इस विषम कथन में चमत्कार की प्रतीति होती है।

विश्वनाथ का विशेषोक्ति का लक्षण है—

सति हेतौ कलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।

—सा० द० १० ६७

यथा—

न घघेनास्य हृन्पते । नास्य साम्येण स्याम । ध्नन्ति त्वेवंनम् । विच्छा-  
दयतीव । अप्रिपवेत्तेव भवति । अपि रोदितोव । नाहमत्र भोग्य पदयामीति ॥

—छा० ८ १० २

इस मन्त्र में हृन्न, साम्यता आदि के हेतु के विद्यमान होने पर भी वऽ, स्याम आदि फल नहीं हा रहा, अतः यहा विशेषोक्ति अलंकार है।

### १. ५ ५. विषम

जत्र अननुम्प पदार्थों का परस्पर समगं वर्णित हो तत्र विषम अलंकार होता है। जैसे 'युद्धभूमि में प्रतापी राजा की तमालपत्र की भी नीली कृपाण शरद् श्रुतु की चादनी की भानि धवन यश का विस्तार कर रही है।' यहा नीली तलवार तथा धवल यश इन दो विरोधी पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है, अतः विषम अलंकार है। यह मम अलंकार में ठीक विपरीत है। अतः तमालवार का विपर्याय स्वरूप ही विरमालवार का सामान्य लक्षण है।

विषम के तीन रूप हैं—(१) कारण और कार्य के गुण अथवा उनकी क्रियाओं का परस्पर विरुद्ध रूप में वर्णन करना, (२) आरब्ध कार्य की विफलता और उसके साथ ही उसमें अनर्थ की उत्पत्ति, (३) दो विरुद्ध पदार्थों का परस्पर उपनिबन्धन । विषम के इन तीनों रूपों में असमता को उभारा जाता है । इससे स्पष्ट है कि विषम का सौन्दर्य विरोध के कारण है और यह इस दृष्टि से विरोधालकार का प्रसव है जिसने बाद में अपना स्वतन्त्र स्थान बना लिया । विषम में कविप्रतिभा का सस्पृशं आवश्यक है, क्योंकि स्वभावतः अननुरूप पदार्थों के ससर्ग का वर्णन अनुचित है ।

विश्वनाथ ने विषम का लक्षण दिया है—

गुणौ क्रिये वा यत्स्याता विरुद्धे हेतुकार्ययो ।  
यद्धारमस्य वंकल्पमनर्थस्य च सम्भव ।  
विरूपयो सघटना या च तद्विषम मतम् ॥

—सा० द० १० ७०

यथा—

असद्वा इदमप्र आसीत् ततो वा सदजायत ।  
तदात्मानं स्वयमकुण्ठत तस्मात्समुद्भूतमुच्यते ॥

—सू० २ ७

इस मन्त्र में असत् से सत् की उत्पत्ति का वर्णन होने से कार्य और कारण के परस्परविरुद्ध गुणों का उल्लेख है, अतः यहाँ विषम अलकार है ।

### १५५ अन्योन्य

अन्योन्य अलकार का स्वरूप इसके नाम से ही स्पष्ट है । जब दो पदार्थ एक क्रिया के द्वारा परस्पर कारण होते हैं, तब अन्योन्य अलकार होता है । जैसे, 'हंसों की शोभा सरोवरों से होती है और सरोवरों की शोभा हंसों से होती है ।' इस प्रकार ये दोनों परस्पर अपने को शोभित करते हैं । यहाँ हम और सरोवर दोनों पदार्थ एक क्रिया—शोभा—के द्वारा एक दूसरे के गौरव का कारण हैं अतः अन्योन्य अलकार है । यहाँ परस्पर क्रिया से परस्पर उपकारजनन से वैचित्र्य के कारण अलकार है । निष्कर्ष यह है कि अन्योन्य में दो पदार्थ परस्पर कारण-

कार्य रूप में विद्यमान रहते हैं। ठीक यही बात उपमेयोपमा में भी होती है। उपमेयोपमा में इसका यह भेद है कि इसमें दो पदार्थ कारण-कार्यरूप में विद्यमान रहते हैं पर उपमेयोपमा में उपमेय-उपमान भाव से। परन्तु वहाँ एक पदार्थ जो पहले उपमान होता है फिर वही उपमेय बन जाता है। उसी प्रकार अन्यान्य में भी जो पदार्थ पहिले कार्य था वही कारण बन जाता है। अतः इन दोनों अलकारों का बीज पारस्पर्यजनक है, और यही उन अलकारों के चमत्कार का आधार है। ध्यान रहे कि 'अन्योन्य' विरोधगन्धी अलकार है, क्योंकि दो पदार्थों की एक क्रिया के द्वारा परस्परजनकता विरुद्ध-सी प्रतीत होती है।

विश्वनाथ ने इसका लक्षण दिया है—

अन्योन्यमुपयोरेकत्रियया कारण मिथ ।

—सा० द० १० ७३

यथा—

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिष्ये । तस्य हि ब्रह्मणो विजये देवा अमहोयन्त ।  
त ऐक्षन्तास्माश्मेवाय विजयोऽस्माश्मेवाय महिमेति ॥

—केन० ३ १

इस मन्त्र में ब्रह्म तथा देवताओं का परस्पर एक दूसरे को महिमायुक्त करने का वर्णन होने में अन्योन्यालकार है।

नापमात्मा प्रवचनेन तस्यो न मेघया न बहूना धृतेन ।

यमेवंय वृणुते तेन तस्यस्तस्येय आत्मा विवृणुते तन् स्वाम् ॥

—कठ० २ ३

यहाँ आत्मा तथा साधक के परस्पर वरण तथा प्राप्ति का वर्णन होने में अन्योन्य अलकार स्पष्ट है।

प्राणं शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राणं प्रतिष्ठितम् । ... ॥

—तै० ३ ७

\*\* अप्यु उदोति प्रतिष्ठितम् । ज्योतिरप्याव प्रतिष्ठिता । ... ॥

—तै० ३ ८

\*\* पृथिव्यामाश्रयं प्रतिष्ठितम् । आश्रयते पृथिवी प्रतिष्ठिता । ... ॥

—तै० ३. ९

उपर्युक्त तीनों मन्त्रों में क्रमशः प्राण शरीरम्, शरीरे प्राण, अक्षु-  
ज्योति ज्योतिष्पाप, पृथिव्यामाकाश आकाशे पृथिवी आदि वर्णन में एक  
दूसरे को एक दूसरे पर आश्रित मानने से अन्योन्यालंकार है । १ । ५ । १

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु । अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु ।  
पश्चाद्यमस्या पृथिव्या तेजोमयोऽमृतमयं पुरुषो पश्चाद्यमध्यात्म शरीरस्तेजोमयो-  
ऽमृतमयं पुरुषोऽप्यनेव स योऽयमात्मा । इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ।

—वृ० २ ५ १

इस मन्त्र में पृथिवी द्वारा मधु एव मधु द्वारा पृथिवी की  
सुखप्रदता का वर्णन है। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे का पोषक होने  
के कारण यहाँ अन्योन्य अलंकार है।

### १५६ विशेष

विशेष विरोधमूलक अलंकार है। इसका कोई सामान्य लक्षण  
नहीं दिया गया है। परन्तु इसके लक्षण में आचार्यों ने इसके तीन  
भेदों का प्रतिपादन किया है। इसमें प्रतीत होता है कि तीन  
अलंकार मिलकर एक 'विशेष' अलंकार हो गए हैं। अलंकार-  
सर्वस्व की टीका में भी कहा गया है कि विशेषश्चात्र त्रयो न  
पुनरेकस्त्रिविधः । लक्षणस्य भिन्नत्वात् ।' इनमें पहिला विशेष वह है जहाँ  
प्रतिष्ठ आधार के बिना आधेय की स्थिति दिखाई जाए। दूसरा  
विशेष वह है जहाँ एक ही वस्तु का अनेक स्थानों में, एक ही समय में  
वर्णन किया जाए। तीसरा विशेष वह है जहाँ एक कार्य करते हुए  
अन्य अशक्य कार्य का भी दैववश सम्पादन हो जाए। रुच्यक ने  
विशेष के इन तीन रूपों को विवृत करते हुए कहा है—इहाधारमन्तरेणाधेय  
न वर्तत इति स्थितावपि यस्तत्परिहारेणाधेयस्योपनिबन्ध स एको विशेषः ।  
पञ्चक वस्तु परिमित युगपदनेकधा वर्तमान स्थिते स द्वितीयो विशेष ।  
पञ्च किंचिदारभमाणस्यातन्माध्यवस्तवन्तरण स तृतीयो विशेष ।<sup>१</sup>

विश्वनाथ ने विशेष का लक्षण दिया है—

यदाधेयमनाधारमेक चानेकगोचरम् ॥

किंचित्प्रकुर्वत कार्यमशक्यस्येतरस्य वा

कार्यस्य करणं देवाद्विशेषस्त्रिविधस्तत् ॥

—सा० द० १० ७३-७४

१. अल० सर्व०, विमपिपी टीका०, पृ० १७२

२. रुच्यक, अल० सर्व०, पृ० १७१

विशेष नवीन अलकार है, क्योंकि भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने इसका उल्लेख नहीं किया। रद्रट ही प्रथम आलकारिक हैं, जिन्होंने इसका उल्लेख किया है।

वतिपय उदाहरण देखिए—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येदानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

—ईश० ६

यहां पर एक ही आत्मतत्त्व की अनेकत्र स्थिति के कारण विशेष अलकार है।

अत समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्पन्दन्ते मिषवः सर्वरूपा ।

अतरश्च सर्वा ओषधयो रसरश्च येनैव भूर्नस्तिष्ठते ह्यतरात्मा ॥

—मु० २. १ ९

यहां वैचित्र्यपूर्ण विधि से कहा गया है कि एक ही आत्मा अथवा ब्रह्म अनेका—समुद्र, पर्वत, नदियों, घन्न, रस आदि—का कारण है और इन अनेकों में विद्यमान है, अतः यहां विशेष अलकार है।

ब्रह्मवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म परवाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।

अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसूनं ब्रह्मवेदं विरविमिदं वरिष्ठम् ॥

—मु० २. २. १२

इस मन्त्र में भी एक ब्रह्म की आगे-पीछे, नीचे-ऊपर, दक्षिण-उत्तर आदि अनेकत्र स्थिति के चमत्कारी वर्णन से विशेष अलकार है।

\*\*\* स य एवमिन्द्र । अस्मात्त्वोक्तान् प्रेत्य । एतमन्तमयमात्मानमुपसन्नामति । एतं प्राणमयमात्मानमुपसन्नामति । एतं मनोमयमात्मानमुपसन्नामति । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसन्नामति । एतमानन्दमयमात्मानमुपसन्नामति ॥

—तै० २. ८

इस मन्त्र में एक ही ज्ञानी द्वारा अनेकत्र—घन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय शरीर की आत्मा में—सन्नमण का अद्भुत वर्णन होने से विशेष अलकार है।



इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली के सभी अनुवाक और विशेष कर दशम अनुवाक का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

। स पश्चाय पुरुषे । यश्चात्तावादित्ये । स एक । स य एववित् ।  
अस्मात्ल्लोकात् प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसक्रम्य । एत प्राणमयमात्मानमुप-  
सक्रम्य । एत मनोमयमात्मानमुपसक्रम्य । एत विज्ञानमयमात्मानमुपसक्रम्य ।  
एतमानन्दमयमात्मानमुपसक्रम्य । इमात्ल्लोकान् कामान्नी कामदृष्यनुसचरन् । एतत्  
साम पायन्नास्ते । ॥

—तै० ३ १०

इसी प्रकार,

यो देवो अग्नी यो अप्सु यो विश्व न्ययनमाविवेश ।

य ओयषीयु यो वनस्पतियु तस्मै देवाय नमो नम ॥

—श्वे० २ १७

इस मन्त्र में एक ही देव का अनेक स्थानों में वर्णन होने से विशेष अलंकार है ।

यहाँ उल्लेख अलंकार की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए । उल्लेख में एक ही वस्तु अनेक रूप से दिखाई जाती है, परन्तु इस मन्त्र में देव की अनेकरूपता न दिखाकर उसकी अनेकत्र स्थिति का निर्देश है ।

एको हि इन्द्रो न द्वितीयस्य तस्यूर्ध्वं इमात्ल्लोकानीशत ईशनीमि ।

प्रत्यङ्जनास्तिर्धृति सच्चकोष्णान्तकाले ससृज्य विश्वा भुवनानि गोषा ॥

—श्वे० ३ २

यहाँ पर एक ही इन्द्र की अनेकत्र स्थिति का वर्णन होने के कारण विशेष अलंकार है ।

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात् ।

स भूमि विश्वतो बृत्वाऽप्यतिष्ठद्दराङ्गुलम् ॥

—श्वे० ३ १४

एक परम पुरुष के अनेक आधार होने से यहाँ विशेष अलंकार है । यहाँ आलंकारिक वर्णन द्वारा परम पुरुष की महिमा (सर्वव्यापकता) स्पष्ट द्योतित हो रही है ।<sup>१</sup>

१ अथर्वन द्रष्टव्य —श्वे० ३. ३, ३ १६, ४ ११, ४ १५, २. २

## १. ६. शृंगलान्धमूलक अलंकार

### १ ६ १ कारणमाला

कारणमाला नाम से ही इस अलंकार का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। कारणों की माला = कारणमाला। जहाँ उत्तरोत्तर वस्तु के लिए पूर्व पूर्व वर्णित वस्तु कारण के रूप में उपनिबद्ध हो, वहाँ कारणमाला अलंकार होता है। जैसे, 'विद्वानो की सगति से शास्त्रज्ञान होता है, शास्त्रज्ञान से विनय प्राप्ति और विनय से प्रेम।' यहाँ कारणों की माला है। शास्त्रज्ञान का कारण विद्वानों की सगति, विनय प्राप्ति का कारण शास्त्रज्ञान इत्यादि। इस प्रकार उत्तरोत्तर वर्णित वस्तु के लिए पूर्व पूर्व वर्णित वस्तु कारण है। कारणों की यह परम्परा चलती रहती है। अतः कारणमाला की अलंकार-रूपना में 'कार्यकारणक्रम' निमित्त रूप है, न कि पदार्थों का शृंगला रूप से उपनिबन्धन। अतः एक कारणमाला यह सार्थक अभिधान है। कारणमाला अलंकार में कार्यकारण क्रम के वैलक्षण्य में ही सौन्दर्य है। जैसा कि रय्यक ने कहा है—

कार्यकारणक्रम एवात्र चादत्तहेतु ।

—अल० सर्व०, पृ० १७७

भामह, उद्भट, दण्डी, वामन आदि प्राचीन आलंकारिकों में से किसी ने भी कारणमाला का उल्लेख नहीं किया। रुद्रट ने ही सर्वप्रथम इसका विवेचन किया है। बाद में मम्मट, रय्यक, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इसे स्वीकार किया।

विश्वनाथ का कारणमाना का लक्षण है—

पर पर प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता ।

तदा कारणमाना स्यात् ॥

—मा० २० १०. ७६

१ धृत वृत्तधियां सगाग्नापते विनयं धृतान् ।

सोक्तानुरागो विनयान्न हि सोक्तानुरागत ॥

(मा० २०, सपा० दालिषाम, पृ० ३५५)

उपनिषदों में उपलब्ध इसके कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।

अन्नात्प्राणो मन सत्य लोका कर्मसु चामृतम् ॥

—मु० १ १ ८

इस मन्त्र में पूर्व पूर्व वस्तु उत्तर उत्तर वस्तु के प्रति कारण होने से कारणमाला अलंकार है ।

तस्माद्वा एतस्मात्वात्मन आकाश समूत । आकाशाद्वायु । वायोरग्निः ।  
अग्नेराप । अद्भ्य पृथिवी । पृथिव्या ओषधय । ओषधीभ्योऽन्नम् ।  
अन्नात्पुंस्य । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय । तस्येदमेव शिर । अय दक्षिण पक्ष ।  
अयमुत्तर पक्ष । अयमात्मा । इदं पुच्छ प्रतिष्ठा ॥

—तै० २ १

यहाँ आत्मा (परमात्मा) से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल इस प्रकार पूर्व पूर्व वस्तु उत्तर उत्तर की उत्पत्ति का कारण होने से कारणमाला अलंकार है ।

तमभ्यतपन् । तस्यामितपत्तस्य मुख निरभिद्यत यथाण्डम् । मुखाद् वाक् ।  
वाचोऽग्नि ॥ नासिके निरभिद्येताम् । नासिकाभ्या प्राण । प्राणाद् वायु ॥  
अक्षिणो निरभिद्येताम् । अक्षीभ्या चक्षुः । चक्षुष आदित्यः ॥ कर्णो  
निरभिद्येताम् । कर्णाभ्या श्रोत्रम् । श्रोत्राद्दिश ॥ त्वद् निरभिद्यत । त्वचो  
लोमानि । लोमभ्य ओषधिवनस्पतय ॥ हृदय निरभिद्यत । हृदयान्मन ।  
मनसरचन्द्रना ॥ नाभिर्निरभिद्यत । नाभ्या अपान । अपानान्मृत्यु ॥  
शिरस निरभिद्यत । शिरसाद्रेत । रेतस आय ॥

—ऐत० १. १ ४

इस मन्त्र में भी उपर्युक्त लक्षणानुसार कारणमाला अलंकार ही है ।

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति । चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यति । आदित्ये  
तृप्यति श्रोत्रस्तृप्यति । दिवि तृप्यन्त्या पत्किच घोरवादित्यश्चाधितिष्ठतस्तृप्यति ।  
तस्यानु तृप्ति तृप्यति प्रजया षशुमिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥

—छा० ५ १९ २

इस मन्त्र में पूर्व पूर्व शक्ति उत्तर उत्तर शक्ति की तृप्ति में कारण होने से कारणमाला अलंकार है ।

मासेभ्य पितृलोकम् । पितृलोकावाकाशम् । आकाशाच्चन्द्रमसम् ।  
एष सोमो राजा । तद्देवानामन्नम् । त देवा भक्षयन्ति ॥

—छा० ५ १०. ४

इस मन्त्र मे भी पूर्व पूर्व से उत्तर उत्तर की प्राप्ति के वर्णन से  
कारणमाला अलकार है ।

इसी प्रकार,

आहारशुद्धो सत्वशुद्धि । सत्वशुद्धो ध्रुवा स्मृतिः । स्मृतिसम्मे  
सर्वग्रन्थीना विप्रमोक्ष ॥

—छा० ७. २६. २

इस मन्त्र मे भी कारणमाला अलकार है ।

हात्वा देव सर्वपाशापहानि क्षीर्णं क्लेशजन्ममृत्युप्रहाणिः ।

तस्याभिम्भ्यानात् तृतीय वेहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकाम ॥

—श्वे० १ ११

यहा पूर्व पूर्व वाक्य उत्तर उत्तर के प्रति कारण है । देव को  
जानकर सर्वपाश-हानि, पाशों की हानि से जन्म-मृत्यु की हानि, इससे  
तृतीय अवस्था (सकल ऐश्वर्य-पद-प्राप्ति), उससे केवल्य लाभ, इस  
प्रकार यहा कारणमाला अलकार है ।

इसी प्रकार,

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावाश्च सर्वान् विनियोजयेद्य ।

तेषामभावे कृतकर्मनाश कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽम्य ॥

—श्वे० ६. ४

यहा भी कारणमाला अलकार स्पष्ट है । ऋषि को इस  
अचिन्तित अलकार-योजना के द्वारा अपने भाव की अभिव्यक्ति मे  
कितना वैचित्र्यपूर्ण सहयोग मिला है ।'

१६२ सार

सार का अभिप्राय है निप्यन्द या उत्कर्ष । इस अलकार  
का सार नाम अश्वथं क है, क्योंकि इसमे किसी वस्तु का धाराधिरोह के

१. अन्यत्र दृष्टव्य :—मु० २. १. १-८; छा० ४. १७ ७-८, ५. २०. २,  
५ २१. २, ८ १-२

समान उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाया जाता है। इसमें वस्तुओं की शृंखला होती है जिनमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाते हुए अन्तिम वस्तु में पर्यवसान होता है। जैसे, 'राज्य में पृथ्वी सार है, पृथ्वी में नगर, नगर में महल, महल में शय्या तथा शय्या में रत्नसंबन्ध-सुन्दरी सार है।' यहाँ वस्तुओं की शृंखला बनाकर उनमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्रदर्शित करते हुए सुन्दरी को सब का निष्पन्द=सार=परमोत्कर्ष बताया गया है कि सुन्दरी उत्कर्ष की चरम सीमा है, उससे आगे अन्य कोई वस्तु उत्कृष्ट नहीं। अतः यहाँ सार अक्षर है। ह्यक सार को उदार कहते हैं—उत्तरोत्तर-मुत्कर्षणमुदार।<sup>१</sup> कारणमाला के समान सार भी शृंखलाबन्ध रूप है।

प्राचीन आलंकारिकों ने सार का उल्लेख नहीं किया है। सर्वप्रथम छद्म ने इसका लक्षण उपनिबद्ध किया। मम्मट, ह्यक, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि सभी आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है।

विश्वनाथ का सार का लक्षण है—

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुन सारमुच्यते ।

—सा० २० १० ७८

कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है—

इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च पर मत ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् पर ॥

—कठ० ३ १०

इस मन्त्र में पूर्व पूर्व वस्तु की अपेक्षा उत्तर उत्तर वस्तु को सूक्ष्म (उत्कृष्ट) बताया गया है, अतः यहाँ सार अक्षर है।

१. राज्ये सार वसुधा वसुधापामपि पुर पुरे सौवम् ।

सौधे तल्पे तल्पे वराङ्गनामङ्गलसंबन्धम् ॥

(सा० २०, सपा० शालिश्राम, पृ० ११६)

२. ह्यक, घल० सर्व०, पृ० १७९

इसी प्रकार,

महत परमव्यवयमव्यवतात पुरुष पर ।

पुष्ट्यान पर किञ्चित् सा काण्डा सा परा गति ॥

—कठ० ३ ११

इस मन्त्र मे भी पूर्व पूर्व की अपेक्षा पर पर की सूक्ष्मता का वर्णन हाने से सार अलकार है ।

इन्द्रियेभ्य पर मनो मनस सत्त्वमुत्तमम् ।

सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यवतमुत्तमम् ॥

—कठ० ६ ७

अव्यवतात् पर पुष्टयो व्यापवोऽतिङ्ग एव च ।

य ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतस्य च गच्छति ॥

—कठ० ६ ८

इन मन्त्रा मे भी पूर्व पूर्व वस्तु की अपेक्षा उत्तर उत्तर वस्तु की उत्कृष्टता अथवा प्रबलता का वर्णन है, अतः यहा भी सार अलकार है ।

एषा भूताना पृथिवी रस । पृथिव्या आपो रस । अपामोपधयो रस ।  
ओषधीना पुरुषो रस । पुरुषस्य वाप्रस । वाच ऋप्रस । ऋच साम रस ।  
साम्न उदगीषो रस ॥ स एष रसानां रसतम परम परार्धोऽष्टमो यदुद्गीष ॥

—छा० १ १. २-३

इन मन्त्रा मे पंचमहाभूतों का सार पृथिवी, पृथिवी का सार जल, जला का सार ओषधिया, ओषधियों का सार पुरुष ... इस प्रकार उत्तरोत्तर वस्तु के उत्कर्ष के वर्णन के कारण सार अलकार है ।

## १. ७. काव्यन्यायमूलक अलंकार

### १.७१ पर्याय

पर्याय का अर्थ है—रुम । पर्यायोऽप्यतरे रुमे (अमरकोश) । इस अलंकार में एक वस्तु रुम से अनेक में होती है या की जाती है, अतः रुम के कारण इसे पर्याय कहते हैं। सर्वस्वकार ने भी कहा है—अत एव क्रमाश्रयणात् पर्याय इत्यन्वर्थमिद्यत्तम् (पृ० १८९) । तरलटीकाकार का वचन है—पर्यायवान् पर्याय इत्यर्थः । पर्याय का महत्त्व इस बात में है कि एक वस्तु रुमपूर्वक अनेक स्थानों में हो । जब एक वस्तु दूसरे स्थान पर जाती है, तब उसका प्रथम स्थान से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है । जैसे, कुमारसम्भव में तपोलीन भगवती पार्यन्ती के वर्णन में वर्षा की पहली बूंदों का क्षण भर के लिए पलकों पर टिकना, तदनन्तर होठों पर रुकना, फिर उन्नत स्तनों से टकराना आदि में उन्हीं वर्षाबिन्दुओं को रुमपूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान पर अवस्थिति होने के कारण पर्याय अलंकार है ।<sup>१</sup> केवल एक वस्तु का रुमश अनेक में अवस्थान ही पर्याय नहीं है, अपितु अनेक वस्तुओं का एक में रुमश अवस्थान या सम्पादन भी पर्याय है । सर्वस्वकार ने भी कहा है—एकमात्रेणनेरुस्मिन्नाघारे यत्तिष्ठति स एक पर्याय । एकस्मिन्नाघारे अनेरमाघेय यत्त द्वितीय पर्याय ।<sup>२</sup>

पर्याय अलंकार का प्रारम्भ रुद्रट के समय से है । रुद्रट ने इस अलंकार के दोनों रूपों को स्वीकार किया और फिर परवर्ती सभी अलंकारिकों ने इसे इसी रूप में ग्रहण कर लिया ।

विश्वनाथ का पर्याय का लक्षण सर्वस्वकार से प्रभावित है—

यच्चिदेकमनेरुस्मिन्ननेक चंपय प्रमात् ।

भवति त्रिपते या चेतदा पर्याय इष्यते ॥

—सा० २० १० ८०

१. स्थिता क्षण पक्ष्मसु ताडिताघरा पयोघरोत्सेधनिपातचूर्णिता ।

वन्तीपु तरया स्वलिता प्रपेशिरे अनेण नार्तिम प्रयमोदविन्दव ॥

(कु० स० १ २४)

२. रम्यक, अल० तथ०, पृ० १८६

यथा—

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचांगिरे ब्रह्मविद्याम् ।

स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽगिरसे परावराम् ॥

—मु० १ १ २

इस मन्त्र में एक ही वस्तु—ब्रह्मविद्या—का भिन्न-भिन्न काल में क्रमशः अनेको—अथर्वा, अगिर, भरद्वाजगोत्रीय सत्यवाह, अगिरा—के पास जाने का वर्णन करने से पर्याय अलंकार है ।

एको हसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्नि सलिले सनिबिष्ट ।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽप्यनाय ॥

—श्वे० ६ १५

यहाँ एक हस (हृन्वविद्यादिबन्धकारणमिति) अर्थात् परमात्मा के क्रम से अनेक—भुवन के बीच, ज्योति में तथा जल में—विद्यमान होने के कारण पर्याय अलंकार है ।

### १७.२. परिवृत्ति

परिवृत्ति का अर्थ है—विनिमय अर्थात् एक वस्तु को देकर दूसरी वस्तु लेना । तिल देकर तण्डुल लेना विनिमय है । जैसा वामन झलकीकर भी काव्यप्रकाश की टीका (पृ० ६७४) में कहते हैं—परिवर्तन विनिमयकरणम् परिवृत्तिरित्यन्वयैष सत्ता । सर्वम्बन्धने भी विनिमय के भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है—विनिमयोऽत्र किञ्चित्त्यक्त्वा ऋस्थाचवा बानम् ।' परिवृत्ति अलंकार में यह बात ध्यातव्य है कि वस्तुओं का यह विनिमय कविकल्पना से भण्डित होकर ही अलंकार बना है, अन्यथा तो यह लोभमिद्ध व्यवहार ही माना जाएगा, अलंकार नहीं । जैसे कि 'भीलनी बेर देकर गेहूँ खरीदती है', यह कथन परिवृत्ति अलंकार नहीं है । परिवृत्ति (१) सम (२) न्यून (३) तथा अधि- होने में तीन रूपों में देखी जा सकती है ।

परिवृत्ति का प्रारम्भ भामह से हुआ और बाद में सभी प्रमुख आलंकारिकों ने इसे स्वीकार किया ।



विश्वनाथ का परिवृत्ति का लक्षण है—

परिषत्तिविनिमय, समन्वूनाधिकंभवेत् ।

—सा० द० १० ५१

परिवृत्ति में जिन दो वस्तुओं का आदान-प्रदान विवक्षित होता है, उनमें औपम्य का भाव अन्तर्हित होने से परिवृत्ति का सौन्दर्य अधिक बढ़ जाता है। उपनिषदों में इसका निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

जानाम्यहं शेषधिरित्यनित्यं न ह्यधुवंः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।

ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यं त्र्यंघ्र्यं प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥

—कठ० २ १०

इस मन्त्र में—अनित्यं त्र्यंघ्र्यंः प्राप्तवानस्मि नित्यम्—अनित्य द्रव्यों से (कर्मों से) नित्य आत्मा को पाने के वर्णन द्वारा न्यून के साथ उत्कृष्ट का विनिमय होने से परिवृत्ति अलकार है।

### १७३ परिसर्या

परिसर्या पूर्वमीमांसा का पारिभाषिक शब्द है, जिसे आलकारिकों ने एक अलकार के रूप में ग्रहण किया है। इसके स्वरूप को पूर्वमीमांसा में इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—धिधिरत्यभ्रमप्राप्तौ नियम पाक्षिके सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसर्येति गीयते ॥ वामनाचार्य शलकीकर ने परिसर्या की व्युत्पत्ति स्पष्ट करते हुए कहा है—परिसर्योश्च वर्जनार्थकः परेवर्जने ( = १ ५ ) इति पाणिनिस्मृते । सर्या बुद्धिः । तेन वर्जनबुद्धिः परिसर्येत्पन्त्रयैव तत्रा ।<sup>१</sup> इसमें यह स्पष्ट होता है कि वर्जन का ज्ञान परिसर्या है। सर्वस्वकार ने परिसर्या का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है—अस्यचित् परिवर्जनेन कुत्रचित् सर्यायं वरुंतीपत्वेन गणनं परिसर्या ।<sup>२</sup> आशय यह है कि परिसर्या अलकार में ज्ञान की व्यावृत्ति होती

१ का० प्र०, पृ० ७०३

२ सर्यक, पल० सर्व०, पृ० १६३

है। जैसे 'कि भूषण सुदृढमत्र यशो न रत्नम्' में 'ससार में सुदृढ भूषण क्या है, यश न कि रत्न, कहकर रत्न की व्यावृत्ति की गई है। यह व्यावृत्ति या परिवर्जन का भाव ही परिमख्या का प्राण है। यह व्यावृत्ति कभी प्रश्नपूर्वक होती है, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में, और कभी विना प्रश्न के भी। इस प्रकार परिमख्या में एक वस्तु के कथन से उसके सदृश किसी दूसरी वस्तु की शब्दत अथवा अर्थत व्यावृत्ति या व्यवच्छेद दिखाया जाता है। परिमख्या के मूल में जब श्लेष अलंकार रहता है, उस समय ही इसका सौन्दर्य पूर्णरूप से खिलता है। सुवन्धु, वाणभट्ट आदि गद्यकारों की परिसर्या तो सहृदयों के गले का हार बनी हुई है।

विश्वनाथ ने परिसर्या का लक्षण दिया है—

प्रश्नावप्रश्नतो वापि कथिताइस्तुनो भवेत् ।

तादृगन्वय्यपोहरचेच्छान्द आर्योऽप्यवा तदा ॥

—सा० द० १०. ८२

मम्मट ने (१) प्रश्नपूर्विका (२) अप्रश्नपूर्विका (३) प्रतीयमानव्यवच्छेद्या (४) वाच्यव्यवच्छेद्या के रूप में परिसर्या के ४ भेद स्वीकार किए हैं।

कुछ एक उदाहरण देखिए—

स्वर्गं लोके न भय बिचिनास्ति न तत्र त्य न जरया बिभेति ।

उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥

—वठ० १. १२

स्वर्गलोके में भय, यम और बुढ़ापे का निषेध करके निर्देश किया गया है कि इनकी मत्ता भूतों में ही है। अतः यहाँ परिमख्या अलंकार है।

नाविरतो दुश्चरित्ताग्नाशान्तो नासमाहित ।

नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनमाप्नुयात् ॥

—वठ० २. २४

इस मन्त्र में विना ही प्रश्न के व्यवच्छेद में अर्थसिद्धि हो रही है कि परमात्मा प्रज्ञान—बुद्धिवाद से अगम्य है। उसकी प्राप्ति

सदाचार, शान्ति, निश्चय तथा स्थिर मन से सम्भव है। इस प्रकार  
यहा अर्थसिद्ध व्यावृत्ति के कारण परिसर्या अलकार है।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राण पचघ्रा भविवेश ।

प्राणंश्चित्त सर्वमोत प्रजाना यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥

—मु० ३ १ ९

यहा प्रसंग से इस अर्थ की व्यावृत्ति होती है कि सूक्ष्म परमात्मा  
विशुद्ध चित्त के अतिरिक्त अन्य किसी से जानने योग्य नहीं, अतः यहा  
परिसर्या अलकार है। इसी प्रकार,

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तत्स्यैव आत्मा दिव्युते तन् स्वाम् ॥

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्पत्तो वाऽप्यलिङ्गात् ।

एतदुपायैर्यत्ते यस्तु विद्वास्तस्यैव आत्मा विशते ब्रह्म धाम ॥

—मु० ३ २ ३-४

इन मन्त्रों में प्रश्न तो नहीं है, परन्तु नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य, न  
मेधया इत्यादि व्यवच्छेद्य शब्दोक्त होने से परिसर्या अलकार है।

यो वै भूमा तत्सुखम् । नाल्पे सुखम् । इति ॥

—द्वा० ७ २३ १

यहा नाल्पे सुखमस्ति व्यवच्छेद्य अर्थ है जिसका शब्द से उपादान  
किया गया है, अतः यहा शाब्द व्यपोह रूप परिसर्या अलकार है।

इसी प्रकार,

मा नस्तोके तनये मा न प्रायुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिष ।

धीरान् मा नो रुद्र भामितो वधोर्हविष्मन्सः सधमित्वा हवामहे ॥

—श्वे० ४ २२

इस मन्त्र में बिना प्रश्न के व्यवच्छेद्य अर्थ है कि हमारे शत्रुओं  
की हानि कर, न कि हमारी, अतः यहा परिसर्या अलकार है।

एवमेव,

न तस्य कार्यं करण च बिद्यते न तत्समरथाभ्यधिकरञ्च वृष्यते ।  
पराऽस्य शक्तिर्विबिधं च ध्रुयते स्वामाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

—श्वे० ६ ८

अपि च,

न तस्य कश्चिन्नपतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।  
न कारण करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप ॥

—श्वे० ६ ९

यहा निषेधात्मक रूप से उस देव के पति, लिङ्ग, कारण आदि का निषेध करके लौकिक व्यवस्थियों के लिए ही इनकी आवश्यकता सिद्ध की गई है, अतः परिसरया अलंकार है ।'

### १७.४. अर्थापत्ति

अर्थापत्ति भीमासासमत एक प्रमाण है, जिसे साहित्यशास्त्र में अलंकार के रूप में ग्रहण किया गया है । जैसे काव्यलिङ्ग अलंकार तर्कशास्त्र के लिङ्ग का साहित्यशास्त्र में परिष्कृत रूप है, वैसे ही भीमासको की अर्थापत्ति भी कविप्रतिभा से अनुप्राणित होकर साहित्यशास्त्र में अलंकार बन गई है । अर्थापत्ति का तात्पर्य उपपाद्य ज्ञान से उपपादक की कल्पना है । जैसे, पीनो बेषवसो विषा न भुङ्क्ते में देवदत्त की पीनता 'उपपाद्य' है और इसके ज्ञान से रात्रिभोजन की कल्पना 'उपपादक' अर्थापत्ति है ।

मालकारिको ने दण्डापूपिवान्याय से अन्य अर्थ की प्रतीति को अर्थापत्ति अलंकार माना है । 'चूहा लकड़ी चबा गया' इससे अनायास समझ लिया गया कि चूहा लकड़ी पर रमे माल-पूए भी साथ साथ खा गया । इसी भाँति एक अर्थ से अनायास दूसरे अर्थ की प्रतीति होना अर्थापत्ति है । अर्थापत्ति में कही तो प्राकरणिक अर्थ में अप्राकरणिक अर्थ की आपत्ति अर्थात् अनायास प्रतीति दिखाई देती है, और कही अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है ।

भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों ने इस अलकार का विवेचन नहीं किया। यहाँ तक कि नवीन आचार्य मम्मट ने भी इसे स्वीकार नहीं किया। उद्योतकार का कथन है कि अर्थापत्ति का अनुमान या अतिशयोक्ति में अन्तर्भाव हो जाने से इसे पृथक् अलकार मानने की आवश्यकता नहीं है।

विश्वनाथ ने अर्थापत्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

वृद्धापूरिकान्यापार्यागमोऽर्थापत्तिरिष्यते ।

—सा० द० १०. ८३

उपनिषदों से इसके उदाहरण इस प्रकार दिए जा सकते हैं—

असुर्या नाम ते लोका अग्नेन तमसाऽऽवृताः ।

तास्ते प्रेत्याभिषद्मन्ति ये के आत्महनो जगः ॥

—ईश० ३

असुर-सम्बन्धी लोक अर्थात् जो जन आस्तिक तथा उपासक नहीं और कर्तव्यविमुख हैं, वे आत्मा के अदशन रूप अज्ञान-अन्धकार से आच्छादित हैं। एवम्, मौलिक सत्यो को न मानना, आत्मा, परमात्मा और परलोक को नास्ति कहना नास्तिकभाव है, तथा नास्तिक भाव ही आत्महनन है। उक्त मन्त्र में यह अर्थापन्न है। अतः यहाँ अर्थापत्ति अलकार है।

भजोर्पतामनृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यं वयसः स्यः प्रजानन् ।

अभिध्यापन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घं जीविते को रमेत ॥

—कठ० १. २८

इत मन्त्र में जो रमेत से यह अर्थापन्न है कि मुक्त आत्मा और विवेकी मनुष्य को असार पदार्थों, अस्थिर सुखों तथा दीर्घायु की इच्छा नहीं होती। अतः यहाँ अर्थापत्ति अलकार है।

यस्य ब्रह्म स क्षत्र घ उभे भवत ओदनः ।

मृत्युर्पत्योपसेधनं ह इत्या वेद यत्र सः ॥

—कठ० २. २५

यहा क इत्या वेद यत्र स—इस प्रकार के उसे कौन अज्ञ जान सकता है—से अर्थान्तर की सिद्धि होती है कि 'कोई नहीं', अत यहा अर्थापत्ति अलवार है ।

येन रूप रस गन्ध शब्दान् स्पर्शाश्च भंयुनान् ।

एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥

—कठ० ४ ३

इस मन्त्र म किमत्र परिशिष्यते से अर्थान्तर—आत्मज्ञ की सर्वज्ञता—की अर्थबल से सिद्धि होती है कि आत्मज्ञाता मनुष्य के लिए जानने योग्य शेष कुछ भी नहीं रहता । इस प्रकार यहा अर्थापत्ति अलकार है ।

नैव वाचा न मनसा प्राप्नु शक्यो न चक्षुषा ।

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥

—कठ० ६ १२

यहा इस अर्थान्तर की प्राप्ति हो रही है कि आत्मोपलब्धि का साधन, मन्-बुद्धि (आस्तिक भाव, श्रद्धा, विश्वास, समाधि) ही है, अन्य नहीं । अत यहा अर्थापत्ति अलवार है ।

### १७५ समुच्चय

इस अलवार का समुच्चय नाम सार्यक है । समुच्चय का अर्थ है—मिलना, इकट्ठे होना । इस अलवार में बहुत से कारण खलेकपोतन्याय से इकट्ठे होकर विशेष कार्य को सिद्ध करते हैं, अत. कारणों के समुच्चय के कारण इसे समुच्चय अलवार कहा जाता है । जैसे खलिहान में दाना चुगने के लिए सब कबूतर एक साथ उतरते हैं, वैसे ही किसी कार्य की सिद्धि के लिए सभी कारण युगपद् मिल कर आते हैं । यह अलवार दो रूपों में देखा जाता है—(१) जब किसी कार्य की सिद्धि के लिए एक कारण सक्षम भी हो, फिर भी खलेकपोतन्याय से उसके माधक और भी अनेक कारण एक साथ भवतरित हो जाते हैं, (२) जब दो गुणों, दो त्रियाभो या गुण और त्रिया का एक साथ ही एकत्र उत्पादन भयवा भवस्थान होता है । दोनों ही रूपाभो में समुच्चय अलवार होना है ।

प्राचीन ब्रालकारिको ने समुच्चय का लक्षण नहीं किया है। सभवत रुद्रट ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने इसकी उद्भावना की है। उनके बाद मम्मट, रुय्यक आदि आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। परन्तु उन्होंने सद्योग, असद्योग तथा सदसद्योग को इसका आधार मानकर इसके स्वरूप को विशद किया है।

विश्वनाथ के समुच्चय के लक्षण में ये दोनो रूप अन्तर्हित हैं। उनका लक्षण है—

समुच्चयोऽपमेकस्मिन्सति कार्यस्य साधके ।

खलेकपोतिकान्यायात्तरकर. स्यात्परोऽपि चेत् ॥

गुणौ क्रिये वा युगपत्स्याता यद्वा गुणश्रिये ।

—सा० द० १० ८४-८५

उपनिषदों में इसके निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

तस्यं तपो दमः कर्मैति प्रतिष्ठा । वेदा. सर्वांगानि सत्यमापतनम् ॥

—केन० ४ ८

इस मन्त्र में एक साथ तप, दम, कर्म, वेद, वेदांग—इन सबको ब्राह्मी उपनिषद् की प्रतिष्ठा अर्थात् विद्याप्राप्ति के साधन गिनाने से समुच्चय अलंकार है।

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च मुधूघ्नवर्णा ।

स्फूर्तिगिनी विश्वरुची च देवी सेलापमाना इति सप्त जिह्वा ॥

—मु० १२४

यहाँ विभिन्न देवियों का एकत्र वर्णन होने से समुच्चय अलंकार है।

तस्माच्च देवा ब्रह्मया सप्रसूता साध्या मनुष्या पशवो वयासि ।

प्राणापानौ प्रोहितौ तपरच भद्रा सत्य ब्रह्मचर्यं विधिरच ॥

—मु० २१७

यहाँ खलेकपोतन्याय से अनेक वस्तुओं का एक साथ वर्णन है. अतः यहाँ समुच्चय अलंकार है।

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्बिरोऽथान्तरदिशा । ... .. पाश्चतेनैव पाश्च  
स्पृणोतीति ॥

—तै० १. ७

इस सम्पूर्ण मन्त्र में भी उपर्युक्त विधि से समुच्चय अलंकार है ।

... यदेतद् हृदय मनसंतत् । सज्जानमाज्ञान विज्ञान प्रज्ञान मेधा  
वृष्टिर्दृष्टिर्मतिर्मनीया जूति स्मृतिः सत्स्यः ऋतुरसु कामो वरा इति सर्वाप्ये-  
वंतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥

—ऐत० ३ २

इस मन्त्र में आत्मा—चेतनासत्ता—की सब सजाओ अथवा परिचायक चिह्नों का एक साथ परिगणन किया गया है, अतः यहाँ समुच्चय अलंकार है ।

काल स्वभावो नियतियंद्दृष्टा भूतानि योनिः पुरुष इति विनयम् ।

सयोग एषा न स्वात्मभावादात्माऽप्यनीश सुखदुःखहेतो ॥

—श्वे० १.२

यहाँ सत्ता के कारण के प्रसंग में काल, स्वभाव, नियति इत्यादि का एकत्र वर्णन है, अतः समुच्चय अलंकार है ।

सद्यत्त्वमारोग्यमलोलुपस्य दत्तंप्रसावः स्वरसोऽष्टव च ।

गन्ध शुभो मूत्रपुरीषमल्प योगप्रवृत्तिः प्रथमा भवन्ति ॥

—श्वे० २. १३

इस मन्त्र में भी योग में प्रवृत्ति की पहली सिद्धि के परिचायक चिह्नों का एकत्र वर्णन है, अतः यहाँ भी समुच्चय अलंकार है ।



## १. ८. तर्कन्यायमूलक अलंकार

वे अलंकार, जिनका आधार भीमासा, न्याय आदि शास्त्रों के नियम या लोकप्रसिद्ध न्याय होते हैं, तर्कन्यायमूलक अलंकार कहलाते हैं, जैसे काव्यलिग इत्यादि। तर्कशास्त्र में कार्यकारण या हेतुहेतुमद्भाव का उल्लेख होता है। वहाँ लिग—धूम—से लिगी—वह्नि—का ज्ञान अनुमान माना जाता है। धूम और वह्नि में लिगलिगीभाव होता है। इसी प्रकार जहाँ कवि पदार्थों या वाक्यार्थों में परस्पर कारण-कार्यभाव प्रदर्शित करता है, वहाँ अलंकार का मूल तर्कन्याय होता है। अतः काव्यलिग तर्कन्यायमूलक अलंकार है।

### १ ८ १. काव्यलिग

अलंकारशास्त्र में यह नाम तर्कशास्त्र से आया है। न्यायशास्त्र में लिग उस हेतु या चिह्न को कहते हैं, जिससे साध्य का अनुमान होता है। न्यायशास्त्र का यह लिग ही जब काव्य के क्षेत्र में आता है, तो अपनी शुद्धता को छोड़कर सगुण सुन्दर तथा वैचित्र्ययुक्त हो जाता है। तब यह तर्कशास्त्र का पारिभाषिक लिग न रह कर, काव्याभिमत लिग होकर चमत्कारपूर्ण काव्यलिग अलंकार बन जाता है। वामनाचार्य झलकीकर कहते हैं—काव्याभिमत लिगं काव्यलिगम् । न्यायशास्त्र में लिगबोधक पद को पचम्यन्त या तृतीयान्त बना कर लिग को स्पष्ट सूचित कर दिया जाता है, जैसे पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात् में धूम पचम्यन्त होने के कारण हेतु या लिग है। परन्तु काव्यलिग में ऐसे नहीं किया जाता, यहाँ हेतु स्पष्ट न होकर प्रतीयमान रहता है। इसीलिए काव्यलिग न्याय के लिग से अधिक चमत्कारकारी तथा सुन्दर होता है।

काव्यलिग की व्युत्पत्ति है—लिग्यते गन्पते अनेन अर्थ इति लिगं हेतु, काव्यस्य लिगं काव्यलिगम्। इस अलंकार का स्वरूप काव्यलिग की अपेक्षा काव्यहेतु नाम से अधिक स्पष्ट होना है। उद्भट ने इसके लिए काव्यहेतु नाम का प्रयोग किया है।

भामह, दण्डी, वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने काव्यलिङ्ग का उल्लेख नहीं किया है। उद्भट ही ऐसे प्राचीन आचार्य हैं, जिन्होंने इसे सर्वप्रथम स्वीकार किया। बाद में रय्यक, विश्वनाथ आदि सभी आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है।

काव्यलिङ्ग अलंकार का बीज है - कार्यकारणभाव। यह कारण कभी पदार्थगत होता है कभी वाक्यार्थगत। अतः काव्यलिङ्ग पदार्थगत तथा वाक्यार्थगत दो प्रकार का होना है। विश्वनाथ ने भी काव्यलिङ्ग का स्वरूप स्पष्ट करते हुए इसके इन दो भेदों की ओर निर्देश किया है—

हेनोर्वाच्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्ग निगद्यते ।

—मा० द० १० ६४

उपनिषदा में इस अलंकार के अनेकों उदाहरण हैं। कतिपय इस प्रकार हैं—

यस्मिन्मर्वाणि भूतान्यात्मंशामुद् विज्ञानत ।

तत्र को मोहं क शोक एकत्वमनुपश्यत ॥

—ईश० ७

यहाँ एकत्वमनुपश्यत वाक्य भाह, शोक आदि से रहित होने का घातक हेतु है, अतः यहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार है।

अग्यन्तम प्रविशन्ति वेदविद्यामुपामने ।

ततो भूप इव ते तमो य उ विद्यायां रता ॥

—ईश० ९

यहाँ घोर अन्धकार में प्रवेश का कारण ज्ञानशून्य कर्मकाण्ड रूप अविद्या की उपामना, और उममें भी बड कर अन्धकार में गिरने का हेतु कर्मशून्यकारी विद्या की आराधना वर्णित होने से काव्यलिङ्ग अलंकार है।

आशाप्रतीक्षे सगते भूतानां चेष्टापूर्णे पुत्रपशूश्च सर्वान् ।

एनद् बुद्धये पुरपस्यान्पमेघतो यस्याननन्वगतिं ब्राह्मणे गृहे ॥

—यज० १ ८

इस मन्त्र में घर में ब्राह्मण का भूखा रहना आशा, प्रतीक्षा, सगत, सञ्ची वाणी, इष्ट-आपूर्ति, पुत्र, पशु आदि सबके विनाश का कारण कहा गया है, अतः काव्यालिंग अलंकार है ।

इसी प्रकार—

तिस्रो रात्रोर्यं देवात्सो गृहे मेऽननन्द्वाहान्नतिथिनं मस्य ।

नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥

—ऋ० १९

इस मन्त्र में तीन वर मागने में तीन रात भूखे रहना हेतु कहा गया है, अतः काव्यालिंग अलंकार है ।

प्लवा ह्येते जद्वा पशुरुपा अष्टादशोस्तमवर येऽ कर्म ।

एतच्छ्रेयो वेऽभिनन्दन्ति भूढा जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति ॥

—मु० १२७

इस मन्त्र में जरा-मृत्यु की प्राप्ति में केवल यज्ञ-याजन को मुक्ति (कल्याण) का कारण समझना हेतु कहा गया है, अतः काव्यालिंग अलंकार है ।

इसी प्रकार—

अविद्याया बहुधा यतंभाना यय कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति क्षाता ।

पत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुरा क्षीणलोकारच्यवन्ते ॥

—मु० १२९

इष्टापूर्ते मन्यमाना वरिष्ठ नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रभूढाः ।

नाकृत्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥

—मु० १२९०

इन मन्त्रों में भी काव्यालिंग अलंकार है ।

जगत्परितस्याजो वंश्वानरोऽकार प्रथया सात्ताऽऽन्तेराविमत्त्वाद्वा ।

आप्नोति ह वं सर्वान् कामानादिश्च भवति ॥

—मा० ९

स्वप्नस्यानस्तंजस वकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षाद्रुभयत्वाद्वा । चत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिम् । समानश्च भवति । नास्याबह्ववित् कुले भवति य एवं वेद ॥

—मा० १०

मुमुक्षुस्थान प्राप्नो भकारस्तृतीया माता मितेरपीतेर्वा । मिनोति ह  
या इव सर्वमपीतिश्च भवति य एव वेद ॥

—मा० ११

अमात्रश्चतुर्षोऽव्यवहार्यं प्रपञ्चोपशम शिवोऽद्वैत । एवमोङ्कार  
आत्मैव । सविशात्पात्मनाऽऽमान य एव वेद ॥

—मा० १२

इन सभी मन्त्रों में निर्दिष्ट प्रकार से नाम की महत्ता के ज्ञान  
को त्रमश वाञ्छित पदार्थों व मुद्यता की प्राप्ति, शानविस्तार और  
समानता, विश्वज्ञान एव भगवान् में लीनता तथा आत्मा से परमात्मा  
में प्रवेश आदि का हेतु कहने से काव्यालिंग अलकार है ।

मनसंबानुद्रष्टव्य नेह नानाऽस्ति किञ्चन ।

मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानं व पश्यति ॥

—वृ० ४४१९

इस मन्त्र में मरण-चक्र में पड रहने का कारण नानात्व मानने  
से काव्यालिंग अलकार है ।

एकधंबानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेय ध्रुवम् ।

विरज पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुव ॥

तमेव धीरो विनाय प्रज्ञां कुर्वीत आह्वय ।

नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् धाचो विग्लापन हि तविति ॥

—वृ० ४४२०-२१

यहा अधिक शब्दों के अनुध्यान को वाणी के विग्लापन—विशेष  
रूप से ग्लानि अर्थात् मात्र श्रम उत्पन्न करने का हेतु बतलाया गया है,  
अतः काव्यालिंग अलकार है ।

एतज्ज्ञेय नित्यमेवाऽऽत्मसत्य मात पर वेदितव्य हि किञ्चित् ।

भोक्ता भोग्य प्रेरितार च भावा सर्वं प्रोक्त त्रिविध ब्रह्ममेतन् ॥

—श्वे० १ १२

इस मन्त्र में ब्रह्म के जानने में उमकी अद्वितीयता—मात पर  
वेदितव्य हि किञ्चित्—कारण मानी गई है, अतः काव्यालिंग अलकार है ।

इसी प्रकार निम्ननिर्दिष्ट मन्त्रों में हेतु का निर्देश होने से काव्य-  
लिग अलंकार है—

वेदाहमेत पुरय महान्तमादित्यवर्गं तमस परस्तात् ।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽप्यनाम ॥

—श्वे० ३ ८

सर्वान्तशिरोऽग्नीय सवभूतगुह्यमाय ।

सर्वध्यापी स भगवास्तस्मात्सर्वगत शिव ॥

—श्वे० ३ ११

वेदाहमेतमजर पुराण सर्वात्मान सर्वगत विभुत्वात् ।

जन्मनिरोध प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥

—श्वे० ३. २१

जन्मनिरोध अर्थात् अजन्मा होने से ही ब्रह्मवादी परमपुण्य  
को नित्य कहते हैं। यहाँ अनेक का कारण देकर नित्यता की पुष्टि  
की गई है, अतः काव्यलिग अलंकार है।<sup>१</sup>

## १ ८.२. अनुमान

हेतु द्वारा साध्य के चमत्कारपूर्ण ज्ञान को अनुमान अलंकार  
कहते हैं। ध्यान रहे कि यहाँ पर्यंतो बह्विमान् धूमवत्त्वान् के समान केवल  
साध्य का ज्ञान इष्ट नहीं है, अपितु वह ज्ञान चमत्कारपूर्ण या कवि-  
प्रतिभा से सज्जित भी होना चाहिए, अन्यथा वह ताकिको का शुष्क  
अनुमान ही होगा।

विश्वनाथ ने अनुमान का लक्षण दिया है—

अनुमान तु विचिदित्वा ज्ञान साधस्य साधनात् ।

१ अन्वय इष्टव्य —कठ० १.१७, १.१८, ४.१८-१९, ५.१२, ६.६,  
६.११; मू० २.२. ८, ३.१. ५-६, ३.१.२०, ३.२. १, वृ० १. ३.१६,  
२.३.२६, १.४.८, २.४. ५, श्वे० ४.१७, ४.२०, ६.२, ६.१२-१३

यथा—

नीहारघूमाकर्कनिलानलानां ख्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।

एतानि रूपानि पुर सराणि ब्रह्मव्यभिव्यक्तिकराणि योने ॥

—श्वे० २ ११

यहां कुहरा, धुआ, सूर्य वायु, अग्नि, जुगनू, विजली, स्फटिक और चाद की विद्यमानता को ब्रह्म के जानने में चमत्कारपूर्ण हेतु मानने से अनुमान अलवार है ।

इसी प्रकार,

नील पतगो हरितो सोहिताक्षस्तडिद्गमं श्रुत्व समुद्रा ।

अनादिमास्त्व विभ्रुत्वेन घर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥

—श्वे० ४ ४

इस मन्त्र में पदार्थों में दृश्यमान लोहितादि गुणों का किसी मूल गुणी की सिद्धि में हेतु मानने से अनुमान अलवार है । क्योंकि, कारणगुणा हि कायगुणानारभते—कारण के गुण कार्य में आते हैं, अतः इनका कोई कारण भी ऐसा ही होना चाहिए । 'जो सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ' इस प्रकार अनुमान द्वारा उस परमात्मा की सिद्धि अभिप्रेत है । (तुलनीय 'साध्यकारिका'—१४, कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याध्यस्तमपि सिद्धम् । )

## १. ९. लोकन्यायमूलक अलंकार

### १.९.१. उत्तर

उत्तर का अर्थ है—प्रतिवचन । इस अलंकार की यह अन्वर्थ सजा है क्योंकि इसमें कवि उत्तर का उल्लेख करता है, जिससे प्रश्न का उन्नयन किया जाता है । सर्वस्वकार ने इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है—उत्तरात् प्रश्नोन्नयनमसकृदसमाध्यमुत्तरं चोत्तरम् ।<sup>१</sup> इससे उत्तर अलंकार के दो रूप हमारे सम्मुख आते हैं । (१) एक तो वह अलंकार है जहाँ प्रश्न होने पर अनेक असभाव्य उत्तर हो । सर्वस्वकार इसी भाव को स्पष्ट करते हुए फिर कहते हैं (१) यन्नानुपनिबन्धयमानोऽपि प्रश्न उपनिबन्धयमानादुत्तरादुन्नीयते तदेकमुत्तरम्, (२) यत्र च प्रश्नपूर्वकसभावनीयमुत्तरं तच्च न सकृत् ताथन्मात्रेण चाहत्वाप्रतीतेः, अतरचाराकृत्त्रिबन्धने द्वितीयमुत्तरम् ।<sup>२</sup>

भामह, दण्डी, उद्भट, वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने उत्तर का लक्षण नहीं दिया है । सर्वप्रथम उद्भट ने ही इसे आविष्कृत किया । उसने इस नाम के दो स्वतन्त्र अलंकार माने हैं, जिन्हे परवर्ती आचार्यों ने उत्तर के दो भेदों के रूप में समाविष्ट कर लिया । सर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने इन्हे दो पृथक् अलंकार माना है ।

आचार्य विश्वनाथ ने सर्वस्वकार से प्रभावित होकर उत्तर की यह परिभाषा दी है—

उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुत्तरयो यदि ।

यन्चासकृदसमाध्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम् ॥

—सा० २० १०. ५२

उपनिषदों में उत्तर के इस प्रकार उदाहरण पाये जाते हैं—

अस्य विन्नसमानस्य शरीरस्थस्य देहिन ।

देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥

—कठ० ५. ४

१. रय्यक, मल० सर्व०, पृ० २१६

२. यही

—इस शरीर में रहने वाले आत्मा का, जब वह देह से किसलता है, तब देह में क्या शेष रहता है ? अर्थात् कुछ भी पीछे नहीं रह जाता ।

इस मन्त्र में प्रश्न से उत्तर की ऊहा हो जाने से उत्तरालकार है ।

कोऽप्यमात्मेति वयमुपास्महे । कतर स आत्मा ? ॥

—ऐत० ३ १ १

इस मन्त्र में भी आत्मा के सम्बन्ध में जिज्ञासापूर्ण प्रश्न के उत्तर का उन्नयन होने में उत्तरालकार है ।

इसी प्रकार—

अर्पा वा गतिरिति । असी लोक इति होवाच । अमुष्य लोकेषु  
का गतिरिति । न स्वर्गलोकमतिनयेदिति होवाच । स्वर्गं वयं लोकं सामामि  
सस्थापयाम । स्वर्गसस्ताव हि सामेति ॥

—छा० १ ८ ५

यहां भी प्रश्नोत्तर होने से उत्तरालकार है ।

तथा

यद वृक्षो वृक्षो रोहति मूलान्नवतर पुन ।

मर्त्यं स्विमृत्युना वृक्षेण कस्मान्मूलान् प्ररोहति ॥

रेतस इति मा धोचत जीयतस्तत प्रजायते ।

घानाश्च इव च वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य सम्भव ॥

यत समूलमावृष्टेषु वृक्षेण न पुनरामयेत् ।

मर्त्यं स्विमृत्युना वृक्षेण कस्मान्मूलान् प्ररोहति ॥

जान एव न जायते को न्येन जनयेत् पुन ।

विज्ञानमानन्द ब्रह्म रातिर्दानु परायण निष्ठमानस्य तद्विद इति ॥

—वृ० ३ ९ २८ के मन्त्र ४ में ७

इन मन्त्रों में भी प्रश्ना में उत्तर की ऊहा की प्रक्रिया में वारण उत्तरालकार है ।



एवमेव—

किं कारणं ब्रह्म कुत स्म जाता जीवाम केन एव च क्षप्रतिष्ठा ।

अधिष्ठिता केन सुतेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो भ्यवत्याम् ॥

—श्वे० १ १

इस मन्त्र में भी ऊहात्मक प्रश्न के होने से उत्तरालंकार है ।<sup>१</sup>

१६२ तद्गुण

तद्गुण की व्युत्पत्ति है—तस्योत्कृष्टस्य गुणोऽस्मिन्निति तद्गुण । तद्गुण को तद्गुण इसलिए कहा जाता है कि इसमें उत्कृष्ट गुण वाली अप्रकृत वस्तु का गुण प्रकृत वस्तु में वर्णित किया जाता है। सर्वस्वकार ने इसके स्वरूप को विशद किया है—यत्र परिमितस्य वस्तुन समीपवर्तिप्रदृष्टवस्तुगुणस्य स्वीकरणं त तद्गुणः ।<sup>२</sup> तद्गुण अलंकार में भिन्न भिन्न गुणों को धारण करने वाले दो पदार्थ होते हैं। ये गुण एक पदार्थ में अप्रिक तथा दूसरे में न्यून होते हैं। दोनों पदार्थ परस्पर समीपवर्ती होते हैं। न्यून गुण वाला पदार्थ अपने गुण का परित्याग करके अप्रिक गुणवान् पदार्थ के गुणों को ग्रहण कर लेता है। जैसे—पद्मरागवण नासाभौक्तिक तैष्वराधिनम्<sup>३</sup> में नायिका के नासिका-भौक्तिक ने, जो न्यून गुणवान् है, अप्रिक गुणवान् अघर की लालिमा को ग्रहण कर लिया है, जिससे वह पद्मराग जैसा बन गया है। अतः यह तद्गुण का उत्तम उदाहरण है—

भामह, दण्डी उद्भट, तथा वामन ने तद्गुण का निर्देश नहीं किया। छट्ट ने इसका सर्वप्रथम उल्लेख किया है। उसने इसके दो रूप स्वीकार किए हैं। उनमें से प्रथम रूप परवर्ती अलंकारिको का सामान्य अलंकार बन गया और उसका दूसरा रूप तद्गुण के रूप में ही स्वीकार किया गया।

विश्वनाथ का तद्गुण का लक्षण है—

तद्गुण स्वगुणस्याभासदत्तकृष्टगुणग्रहः ।

—सा० द० १० ६२

१ अथयत्र दृष्टव्य —छा० १००, वृ० ३६.१६-२४, ३.६०६

२ दृष्टक, अल० सर्व०, पृ० २१३

३ व दालोक ५ १०२

बुद्ध एक उदाहरण देखिए—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि धिता ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समरनुते ॥

—कठ० ६ १४

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थय ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ब्रह्मपनुनासनम् ॥

—कठ० ६ १५

इन मन्त्रों में मर्त्य के द्वारा अपने अनुत्कृष्ट धर्म, मरणशीलता को छोड़कर परमात्मा के उत्कृष्ट गुण, अमृतत्व को ग्रहण करने का वर्णन होने से तद्गुण अलकार है ।

तत्रप्रतिष्ठेर्युपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति ।

—तै० ३ १०

यहां भगवान् के गुणों को जानकर मनुष्य का तदनुसार प्रतिष्ठावान्, महान्, मानवान् हो जाने का वर्णन है । अतः उत्कृष्टगुण-ग्रहण का वर्णन होने से इस मन्त्र में भी तद्गुण अलकार है ।

इसी प्रकार,

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।

ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वं बभूवुः ॥

—श्वे० ५ ६

इन मन्त्र में कहा गया है कि जो पुरातन देव और ऋषि वेदवेद्य ब्रह्मा को जानने थे, वे नदुःख होकर अमर हो गए । अतः यहां भी देव और ऋषियों में अपने धर्म को छोड़कर ब्रह्म के अमरत्वरूप उत्कृष्ट धर्म के ग्रहण का वर्णन होने में तद्गुण अलकार स्पष्ट है ।

## १.१०. गूढार्थप्रतीतिमूलक अलंकार

### १.१० १. भाविक

भाविक शब्द भाव या भावना से तिष्पन्न है। जैसे योगियों में भावना=वासना होती है, जिसके बल से वे अतीत तथा अनागत वस्तु को प्रत्यक्ष के समान देखते हैं, उसी प्रकार ज्ञान्तदर्शी कवि में भी भावना होती है, जिसके बल से वह अप्रत्यक्ष पदार्थों को भी प्रत्यक्षवत् चित्रित करने में समर्थ होता है। इस प्रकार भाविक अलंकार का मूल भाव अथवा भावना है, और इस अलंकार पर योगशास्त्र का प्रभाव है। भाविक को व्युत्पत्ति करते हुए मम्मट कहते हैं—भाव कवेरभिप्राय भूतभाविनामर्षानां प्रत्यक्षत्वेन प्रतिपादनेच्छा अस्ति अत्र इति भाविकम्।' प्रतिहारेन्दुराज उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह की अपनी लघुवृत्ति टीका में भाविक को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—भाव कवेरभिप्राय यत्र भावके श्रोतरि वा प्रतिबिम्बित अस्ति (पृ० ७४)।

निष्कर्ष यह है कि कवि के भूत तथा भावी पदार्थों को देखने की विशेष शक्ति का ठोस परिणाम भाविक अलंकार है। कभी तो कवि अतीत की घटनाओं को स्मरण करने में आनन्द का अनुभव करता हुआ उन्हें पाठक के सामने इस रूप में प्रस्तुत करता है जैसे वे प्रत्यक्ष घटनाएँ हों, और कभी वह भविष्य-द्रष्टा योगी के समान भावी घटनाओं का दर्शन करके, उन्हें इस रूप में प्रस्तुत करता है जैसे वे भावी घटनाएँ न होकर हमारी आँखों के सामने प्रत्यक्ष ही घट रही हों। वस्तुतः भाविक अलंकार का वैशिष्ट्य इस बात में है कि कवि भूत या भविष्य को अपनी कल्पनाशक्ति से इस रूप में प्रस्तुत करे कि सहृदय को वह प्रत्यक्ष के समान दिखाई दे। भूत और भविष्य का यह प्रत्यक्षायमाण वर्णन ही इस अलंकार का प्राण है।

भाविक अलंकार के विषय में यह बात ध्यातव्य है कि इसमें न केवल भूत और भविष्य को देखने की भावना का होना आवश्यक है,

अपितु भावना के साथ उसके वर्णन की विशदता भी उतनी ही आवश्यक है। यदि भावना होने पर उसकी विशद वर्णना न हो सकी, तो भाविक का सम्पूर्ण सौन्दर्य ही धूमिल हो जाता है। इस प्रकार भाविक में वाणी का प्रसाद या निर्मलता अत्यन्त अपेक्षित है। इसमें भावना तथा वर्णना दोनों का सतुलित समन्वय होना चाहिए। अत एव भामह, तथा दण्डी ने भाविक को अलंकार की अपेक्षा काव्य गुण के रूप में ग्रहण किया है। दण्डी कहते हैं—तद् भाविकमिति प्राहु प्रबन्धविषय गुणम्।<sup>१</sup> सर्वप्रथम उद्भट ने इसे अलंकार के रूप में प्रतिष्ठित किया। वामन तथा रुद्रट ने इसे स्वीकार नहीं किया है। भोज, रय्यक, विश्वनाथ, अण्णयदीक्षित आदि मूर्धन्य आलंकारिकों ने इसे अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।

विश्वनाथ ने भाविक का लक्षण दिया है—

अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यत ।

यत्प्रत्यक्षाममाणस्य तद्भाविकमुदाहृतम् ॥

—सा० द० १० १३

यथा—

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।

महद्भूय चञ्चमुद्यत य एतद्विदुरभृतास्ते भवन्ति ॥

—कठ० ६ २

इस मन्त्र में समस्त जागतिक पदार्थों का प्राणस्वरूप ग्रहण में त्रियावान् होने का प्रत्यक्षवत् वर्णन होने से भाविक अलंकार है।

अन्नं च देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति । धृतं श्रुतमेवाप्यनुभूयति । देशविपत्तरंश्च प्रत्यनुभूतं पुन पुन प्रत्यनुभवति । दृष्टं चादृष्टं च धृतं चाधृतं श्रानुभूतं चाननुभूतं च सच्चवासच्च सर्वं पश्यति । सर्वं पश्यति ॥

—प्रश्न० ४ ५

इस मन्त्र में कहा गया है कि आत्मा शुद्धावस्था में देगे, विना देये, गुने, विना गुने, अनुभव लिए, विना अनुभव लिए तथा सत् और

असत् सभी प्रकार के पदार्थों को सर्वरूप होकर देखता है। इस प्रकार आत्मा की अद्भुत शक्ति के प्रत्यक्षवत् वर्णन करने से यहा भाविक अलकार है।

भोमित्येतदक्षरमिदं सर्वं । तस्योपव्याख्यानम् । भूत भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत्रिकालातीत तदप्योङ्कार एव ॥

—मा० १

यहा भूत, भवत्, भविष्यत् और विश्व शरीर भगवान् का शरीरी रूप से वर्णन किया गया है। इस अद्भुत का प्रत्यक्षवत् वर्णन करने से यहा भाविक अलकार है।

पुष्य एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् ।

उतामृतत्वत्प्रेमानो यस्नेतातिरोहति ॥

—श्वे० ३. १५

यहा भूत और भविष्यत् त्रिया के आधार तथा दृश्यमान प्राणि-जगत् और अदृश्य मोक्ष के स्वामी पुरुष ( भगवान् ) का प्रत्यक्षवत् वर्णन होने से भाविक अलकार है।

### १.१० २ उदात्त

उद् + आ + √दा से क्त प्रत्यय के योग से उदात्त शब्द निष्पन्न होता है। उदात्त का शब्दार्थ है—गृहीत या उन्नत। उदात्त यह नाम साधक है, क्योंकि यहा किसी वस्तु का प्रभूत वर्णन करके उसका उत्कर्ष या अनिश्चय स्थापित किया जाता है। इस अलकार में कोई पदार्थ उन्नत या उत्कृष्ट किया जाता है, अतः इसे उदात्त कहते हैं। यदि महान् व्यक्ति को का चरित प्रस्तुत वस्तु का अंग हो, तब भी उदात्त अलकार होता है। कुछ भी हो यह स्पष्ट है कि उदात्त अलकार में किसी पदार्थ का उत्कर्ष या उच्चता अथवा उसकी श्रेष्ठता प्रदर्शित की जाती है।

उदात्त के मूल में अतिशय का विचार काम करता है। कवि, जो अपने काव्य जगत् का प्रजापति होता है, पदार्थों के अतिशय वर्णन से सहृदय को आह्लादित करता है। उदात्त में भी वह महान् पुरुषों, धन-ऐश्वर्य, पशु-पक्षियों, गुणों तथा तप आदि किसी भी उत्कृष्ट वस्तु

का अतिशय वर्णन करके उसके महत्त्व को प्रतिपादित करता है। परन्तु यह ध्यान रहे कि उत्कृष्ट वस्तु के अतिशय वर्णन में ही उदात्त अलंकार होता है, निकृष्ट वस्तु जैसे मदिरा, दूत आदि के अतिशय ख्यापन में उदात्त नहीं माना जाएगा।

उदात्त में अतिशयता के वर्णन की प्रवृत्ति होने के कारण हेमचन्द्रों प्रभृति कुछ आलंकारिक इसे स्वतंत्र अलंकार स्वीकार नहीं करते। वे इसका अन्तर्भाव अतिशयोक्ति में करते हैं। पर भामह तथा दण्डी ने भी इसे स्वीकार किया है। उद्भट ने भी इसे माना है। किन्तु वामन और छदट ने इसका उल्लेख नहीं किया। संभवतः इसलिए कि वे भी इसे अतिशयोक्ति का ही रूप समझते हों। स्य्यक, विश्वनाथ तथा अप्ययदीक्षित ने इसे स्वीकार किया है।

विश्वनाथ ने इसका लक्षण दिया है—

लोकातिशयसम्पत्तिर्वर्णनोदात्तमुच्यते ।

यद्वापि प्रस्तुतस्यांग महतां धरित भवेत् ॥

—सा० ६० १०. ९४

यथा—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मान् वृताहृतात् ।

अन्यत्र मृताश्च भय्याश्च यत्तत् परयति तद्वत् ॥

—कठ० २ १४

इस मन्त्र में सर्वातीतवस्तु का लोकातिशयपूर्ण वर्णन होने के कारण विरोधमूलक उदात्त अलंकार है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽग्निमग्नि ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—कठ० ५. १५

यहाँ अन्तिम दो पदों में सर्वप्रकाशधाम परमेश्वर की लोकोत्तर सम्पत्ति का अतिशय वर्णन होने से उदात्त अलंकार है।

यद्विषमश्रद्धणुम्पोऽणु च परिगल्लोका निहिता लोकिनश्च ।  
 तवेतदक्षर ब्रह्म स प्राणस्तदु वाडमन ।  
 तवेतसस्य तदभूत तदवेद्व्य सोम्य विद्धि ॥

—मु० २ २ २

यहा ब्रह्म की उदात्तता का वर्णन होने से उदात्त असकार है ।

य पृथिव्या त्रिष्ठपृथिव्या अन्तरो य पृथिवी न वेद । \* ततो  
 होद्वालक आरुणिरपरराम ॥

—बृ० ३ ७ ३-२३

इस सम्पूर्ण प्रसंग में आत्मा के लोकातीत सामर्थ्य का वर्णन  
 हुआ है अतः यहा उदात्त असकार है ।

य एको जालवानीशत ईशनीमि सर्वाल्लोकानीशत ईशनीमि ।

य एवैक उदममे समवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

—श्वे० ३ १

यहा ब्रह्म की लोकोत्तर शक्तियों का वर्णन होने से उदात्त  
 असकार है ।

यो देवाना प्रभवश्चोदभवश्च विश्वापियो ह्यो मह्यि ।

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स न बुद्ध्या शुभया सगुनवतु ॥

—श्वे० ३ ४

इस मन्त्र में भी नियमवान् भगवान की अलौकिक शक्ति का  
 वर्णन होने से उदात्त असकार है ।<sup>१</sup>

## १.११. उभयालंकार

उभयालंकार वे अलंकार हैं जो शब्द पर भी आश्रित रहते हैं और अर्थ पर भी। उभयालंकार में कुछ शब्द परिवर्तित किए जा सकते हैं और कुछ शब्द परिवर्तन नहीं किए जा सकते, जैसे पुनरुक्तवदाभासादि। शब्द तथा अर्थ दोनों का अलंकार होने से पुनरुक्तवदाभास उभयालंकार है। श्लेष भी उभयालंकार है, क्योंकि इसका आश्रय शब्द भी है और अर्थ भी। जब यह शब्द पर आश्रित होता है तब शब्दालंकार तथा जब अर्थ पर आश्रित होता है तब अर्थालंकार होता है। इसके अतिरिक्त समृष्टि, सकर को भी उभयालंकार कहा जा सकता है क्योंकि इनमें जब शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का सम्मिश्रण होता है तब शब्द का भी सौन्दर्य रहता है और अर्थ का भी। दोनों का अलंकार होने से समृष्टि और सकर उभयालंकार हैं।

कौन शब्दालंकार है, कौन अर्थालंकार तथा कौन उभयालंकार, इस विषय पर साहित्यशास्त्रियों में मतभेद है। मम्मट तथा उनके अनुयायी शब्द के अन्वय व्यतिरेक भाव को शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का भेदक मानते हैं। परन्तु तिलक तथा रघ्यक आश्रयाश्रयिभाव के आधार पर दोनों में भेद करते हैं। अन्वय व्यतिरेक का अर्थ है—तत्सत्त्वे तत्सत्ता, तदभावे तदभाव। अतः यह अलंकार शब्द का है या अर्थ का इसका निर्णय अन्वयव्यतिरेक भाव में होता है। यदि शब्दविशेष के रहने पर अलंकार है और उस विशेष शब्द के हट जाने पर अलंकार नहीं रहता, तो वह शब्दालंकार है। इसी प्रकार यदि विशेष अर्थ के रहने पर अलंकार है और उस अर्थ के न रहने पर अलंकार नहीं रहता है तो वह अर्थालंकार है। जो अलंकार शब्द तथा अर्थ दोनों के रहने पर रहता है, वह उभयालंकार है।

परन्तु, रघ्यक के मत में जो अलंकार शब्द पर आश्रित है वह शब्दालंकार और जो अर्थ पर आश्रित है वह अर्थालंकार है। जैसे कुण्डल कर्ण पर आश्रित होने में कर्णालंकार तथा रटन हस्त पर आश्रित होने में हस्तालंकार कहा जाता है, उगी न्याय में मन्द पर आश्रित अलंकार



शब्दालकार, अर्थ पर आश्रित अर्थालकार तथा दोनो पर आश्रित उभयालकार है। जैसे स्य्यक कहते हैं—

तत्र शब्दालकारा यमकादयः । अर्थालकारा उपमादयः । उभयालकारा तादानुप्रासादयः । ससृष्टिसंकरप्रकारयोरपि कयोश्चित्तदरुपत्वात् । लोकवदाश्रया श्रयिभावश्च तत्तदलकारनिबन्धनम् ।<sup>१</sup>

### १११. ससृष्टि

ससृष्टि का अर्थ है—सश्लेष=ससर्गे (जुड़ना)। दो या दो से अधिक अलकारों का परस्पर सश्लेष ही ससृष्टि है। जैसे स्वर्ण और मणि अपना अलग अलग सौन्दर्य रखते हैं परन्तु जब वे परस्पर सश्लेष होते हैं तब विलक्षण ही सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। वैसे ही शब्दालकार और अर्थालकार अपना अलग अलग सौन्दर्य तो रखते ही हैं, परन्तु उनके परस्पर सश्लेष में भी एक विचित्र सौन्दर्य शलकता है। अतः अलकारों के इस सश्लेष को आलकारिकों ने स्वतन्त्र अलकार स्वीकार किया है। ससृष्टि में क्योंकि अनेक अलकार सश्लेष होकर विचित्र सौन्दर्य की सृष्टि किया करते हैं अतः ससृष्टि को पृथक् अलकार मानना युक्तिसंगत ही है। जैसा कि सर्वस्वकार ने स्पष्ट किया है—तत्र यथा बाह्यालकाराणां सोवर्णमणिमयप्रभृतीनां पृथक् चाहत्त्वहेतुत्वेऽपि सघटनाकृत चारत्वात्तर जायते, तद्वत् प्रकृतालकाराणामपि संयोजने चाहत्त्वान्तर-मुपलभ्यते ।<sup>२</sup>

अलकारों का यह सश्लेष दो रूप में होता है—(१) संयोग-न्याय से और (२) समवाय न्याय से। तिल और तण्डुल का सश्लेष संयोग न्याय से है, क्योंकि तिल और तण्डुल दोनों का सश्लेष होने पर भी दोनों की स्थिति भिन्न-भिन्न रहती है। नीर तथा क्षीर का सश्लेष समवाय न्याय से है, क्योंकि नीर और क्षीर का सश्लेष होने पर दोनों पदार्थों की स्वतन्त्र स्थिति नहीं रहती। दोनों मिलकर एकाकार हो

१ अल० सव०, पृ० २५७

२ वही पृ० २४१

जाते हैं। अतः जब दो या दो से अधिक अलकार तिलतण्डुल के समान् मशिनष्ट होते हैं तब समृष्टि अलकार और जब ये नीर-क्षीरन्याय से मशिनष्ट होते हैं तब सकर अलकार होता है।

यह समृष्टि तीन रूपों में देखी जाती है—(१) शब्दालकारों की समृष्टि (२) अर्थालकारों की समृष्टि (३) शब्दालकार तथा अर्थालकार दोनों की समृष्टि। जैसा कि सर्वस्वकार कहते हैं—तत्र तिलतण्डुलन्यायेन भवन्ती समृष्टिस्त्रिधा। शब्दालकारगतत्वेन, अर्थालकारगतत्वेन, उभयालकारगतत्वेन च।<sup>१</sup>

भामह ने भी समृष्टि को स्वीकार किया है। उनकी समृष्टि की परिभाषा इतनी विस्तृत है कि उसमें सकर अलकार का भी समावेश हो जाता है। दण्डी की समृष्टि के दो भेद हैं, जिनमें एक भेद सकर से मिलता है और दूसरा समृष्टि से। उद्भट ने इन दोनों को एक दूसरे से भिन्न मानकर, समृष्टि और सकर रूप से इन्हें दो भिन्न भिन्न अलकार स्वीकार किया है। बाद में मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने समृष्टि और सकर को भिन्न भिन्न ही अलकार स्वीकार किया है।

विश्वनाथ का समृष्टि लक्षण है—

यद्येत एवालकारा परस्परविमिथिताः ।

तदा पृथगतकारौ समृष्टि सकरस्तथा ॥

मिथोऽनपेक्षमेतेषां स्थिति समृष्टिरुच्यते ॥

—मा० द० १०, १८

यथा—

अजामेकां लोहितशुक्लवृष्णां बह्वी प्रजा मृजमानां सख्याः ।

अजो ह्येको बुधमाणोऽनुरोते जहात्येतां मुक्त्वाभोगामजोऽन्य ॥

—श्वे० ४ ५

यहां सकार, अकार की भावृत्ति होने में वृत्त्यनुप्रास तथा अज और प्रवृत्ति के दो अर्थ होने में श्लेष अलकार है, अतः दो शब्दालकारों की समृष्टि है।

माह मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।

यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥

—केन० २ २

इस मन्त्र की प्रथम पक्ति में वेद वेद अश में निरर्थक और  
मार्थक पदों की आवृत्ति होने के कारण यमकालकार है । तथा द्वितीय  
पक्ति में न तद्वेद तद्वेद भाग में विरोधाभास अलकार है । अतः यहाँ  
शब्दालकार और अर्थालकार की समृष्टि है ।

इसी प्रकार,

यस्यामत तस्य मत मत यस्य न वेद स ।

अविज्ञात विज्ञानता विज्ञातमविज्ञानताम् ॥

—केन० २ ३

इस मन्त्र में भी अ विज्ञात विज्ञातम, अ विज्ञानता विज्ञानताम् इत्यादि  
में यमक तथा विरोधाभास अलकारों के सद्भाव से समृष्टि अलकार है ।

एधोऽग्निस्तपत्येव सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायु ।

एष पृथिवी रपिदेव सप्तञ्चामृत च पत् ॥

—प्रश्न० २ ५

इस मन्त्र के पूर्वभाग में प्राण पर अग्नि का आरोप करके उसे  
तपनरूप क्रिया में परिणत किया गया है, अतः परिणामालकार है,  
तथा उत्तरभाग में एक ही देव को विषय भेद से अनेक रूपों में वर्णित  
किया गया है । अतः यहाँ उल्लेख अलकार की स्पष्ट प्रतीति होने से  
परिणाम तथा उल्लेख अलकारों की समृष्टि है ।

अणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तत्त्वक्ष्यमुच्यते ।

अप्रमत्तेन वेद्म्य शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

—मु० २ २ ४

इस मन्त्र में अणव इत्यादि पर धनुषादि के आरोप के कारण  
सागरूपक अलकार तथा शरवत् में इचार्य में वत् प्रत्यय होने से आर्षी  
उपमा अलकार होने से समृष्टि अलकार है ।

बृहच्च तद्द्विध्यमचिन्त्यरूप सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतर विभाति ।

दूरतमुदूरे तद्विहातिके च पश्यत्स्वहृद्य निहित गुहायाम् ॥

—मु० ३ १ ७

इस मन्त्र के तृतीय पाद में विरोधाभास तथा चतुर्थ पाद में रूपकातिशयोक्ति होने से ससृष्टि अलकार है ।

नान्त प्रज्ञ न बहिःप्रज्ञ नोभयत प्रज्ञ न प्रज्ञानघन न प्रज्ञ नाप्रज्ञम् ।  
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकान्तमप्रत्ययसार प्रपचोपशम  
शान्त शिवमद्वैत चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय ॥

—मा० ७

यहां नान्त प्रज्ञम् से नाप्रज्ञम् तक के अश में प्रतिपेधालकार तथा आगे अदृष्टमव्यवहार्यम् इत्यादि में सार्थक विशेषणों के कारण परिकरालकार होने से ससृष्टि अलकार है ।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यं प्रपचोपशम शिवोऽद्वैत एवमोकार आत्मैव  
सविरात्यात्मनाऽऽत्मान य एव वेद ॥

—मा० १२

इस मन्त्र में परिकर तथा रूपक अलकारों की स्थिति होने से ससृष्टि अलकार है ।

“ यश इति पशुषु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतमानन्द  
इत्युपस्थे । सर्वमित्याकारे । तत्प्रतिष्ठेऽपुपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह  
इत्युपासीत । महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति ॥

—तै० ३ १० २

इस मन्त्र में उल्लेख तथा तद्गुण अलकारों की ससृष्टि है ।

“ \* स एष पांसतो यज्ञ पांसत पशु. पांसत पुरुष पांसतमिद सर्वं  
यद्विद विच तद्विद सर्वमाप्नोति य एव वेद ॥

—शु० १ ४ १७

इस मन्त्र में रूपक तथा वाच्यलिङ्ग अलकारों की ससृष्टि है ।

नीहारधूमाकनिलानिलाना खजोतविलुत्सफटिकशशीनाम् ।  
एतानि रूपाणि पुर सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योने ॥

—श्वे० २ ११

इस मन्त्र के प्रथम दो पादो में अनेक वस्तुओं का एकत्र वर्णन होने से समुच्चय अलंकार तथा ब्रह्म की अभिव्यक्ति में इन्हीं वस्तुओं को कारण मानने से अनुमान अलंकार की स्पष्ट प्रतीति हो रही है, अतः यहाँ सृष्टि अलंकार है ।

यदात्मतस्त्वेन तु ब्रह्मतस्त्वं शीपोपमेनेह युषत प्रपश्येत ।

अजं द्रुव सवतस्त्वंविशुद्धं शास्वा देव मुच्यते सर्वपाशं ॥

—श्वे० २ १५

यहाँ द्वितीय पाद के शीपोपमेनेह अश में उपमालंकार तथा तृतीय पाद में सार्थक विशेषणों के कारण परिकर अलंकार है । दोनों अलंकारों की स्पष्ट स्थिति होने से सृष्टि अलंकार है ।

एष ह देव प्रविशोऽनु सर्वां पूर्वो ह जात स उ गर्भे भन्त ।

स एव जात स जनिष्यमाण प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुख ॥

—श्वे० २ १६

इस मन्त्र के प्रथम दो पादों में एक ही देव को अनेकत्र सत्ता के वर्णन से विशेषालंकार तथा तृतीय पाद में एक ही देव को जात और जनिष्यमाण मानने से विरोधाभास अलंकार की सृष्टि है ।

न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चननम् ।

हृदा हृदिस्थ मनसा य एनमेव विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

—श्वे० ४ २०

इस मन्त्र के प्रथम दो पादों में आत्मा को नेत्रादि द्वारा ग्रहण करने योग्य न मानने से प्रतिषेध अलंकार तथा अन्तिम दो पादों में अमृतत्व में आत्मज्ञान को हेतु मानने के कारण काव्यलिंग अलंकार की सृष्टि है ।

अगुण्ठमात्रो रवितुल्यरूप सकल्पाहकारसमन्वितो यः ।

बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चंद्र आराप्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट ॥

—श्वे० ५ ८

यहाँ प्रथम दो पादों में उपमालकार है तथा अन्तिम पाद के ह्यपरोऽपि अश में अपि शब्द सम्भावना अर्थ में होने से इव अर्थ में परिणत हो गया है, अतः उत्प्रेक्षा अलकार है। इस प्रकार यहाँ उपमा और उत्प्रेक्षा की समृष्टि है।

एको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

—श्वे० ६ ११

इस मन्त्र के प्रथम दो पादों में एक ही देव अनेकत्र विद्यमान होने के कारण विशेष अलकार तथा देव का, विषय भेद से, अनेक रूपों में वर्णन होने से उल्लेख अलकार की समृष्टि है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नैमा विद्युतो भान्ति कुतोऽप्यग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वाग्निद विभाति ॥

—श्वे० ६ १४

इस मन्त्र के प्रथम दो पादों में प्रतिषेध अलकार तथा अन्तिम दो पादों में पर्यायोक्त अलकार होने से समृष्टि अलकार है।

एको हसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्नि सलिले सनिविष्टः ।

तमेव विद्धिवाऽतिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽप्यनाय ॥

—श्वे० ६ १५

यहाँ प्रथम दो पादों में एक ही हस के क्रमशः विभिन्न स्थानों में वर्णित होने से पर्याय अलकार तथा अन्तिम दो पादों में काव्यलिंग होने से दोनों की समृष्टि है।

### १.११२ सक्कर

दो या दो से अधिक अलकारों का दूध और पानी के समान सम्मिश्रण सक्कर अलकार है। इसमें अलकारों का सम्मिश्रण इस रूप में हुआ करता है कि एक अलकार के हटने पर दूसरे का भी लोप हो जाता है। सक्कर में दोनों अलकार नीर-शीर के समान मशिनष्ट होकर एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते, जबकि समृष्टि में वे तिलतण्डुलन्याय से मिश्रित होते हैं तथा एक दूसरे से अलग हो सकते हैं। समृष्टि में दो

या दो से अधिक अलकार पृथक्-पृथक् रूप से स्पष्ट भासित होते हैं । परन्तु सकर में दोनों मिले हुए रहते हैं । यही सकर का सृष्टि से भेदक तत्त्व है ।

विश्वनाथ ने सकर का लक्षण दिया है—

अगागित्वेऽलकृतीना तद्वेकाधर्मात्प्यतो ।

सदिग्धत्वे च भवति सकरस्त्रिविध पुन ॥

—सा० २० १० १९

यहाँ विश्वनाथ ने सकर का लक्षण देते हुए उसके तीन भेदों का निर्देश किया है—(१) अगागिभावरूप सकर (२) एकाध्वयानुप्रवेश-रूप सकर (३) सदिग्धरूप सकर । इससे पूर्व सर्वस्वकार ने सकर के तीन भेदों का निर्देश इस प्रकार किया था—क्षीरनीरन्यायेन तु सकर । मिध-त्वम् इत्येष । अनाकटभेदस्वमुकटभेदात् च मित्रत्वम् । तत्र मिधत्वमगागिभावेन, सशयेन, एकवाचकानुप्रवेशेन च त्रिधा भवत् सकर विभेदमुत्थापयति ।<sup>१</sup>

सन्देह-सकर—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्यं प्राजापत्य द्यूह रश्मिन्समूह तेज ।

पत्ते रूप कल्याणतम तत्ते पश्यामि प्रोऽसावसौ पुष्य सोऽहमस्मि ॥

—ईश० १६

इस मन्त्र में आद्योपान्त साभिप्राय विशेषणों की स्थिति के कारण परिकर अलकार की प्रतीति हो रही है, पर साथ ही विषय-भेद के कारण एक ही ऋषि द्वारा एक ही देव (सूर्य) को अनेक रूपों में स्वीकार करने से जल्दो अलकार की भी प्रतीति हो रही है । न तो निश्चित रूप से यहाँ किसी एक अलकार की प्रतीति है, न ही स्पष्ट रूप से दो अलकारों की, अतः यहाँ सन्देहसकर अलकार माना जा सकता है ।

## २.१. गुण

वेद और उपनिषद् हमारे साहित्य के पूर्वरूप है। उनमें काव्य के अन्य तत्वों के समान गुणों की भी विद्यमानता दिखाई देती है, जो इनमें शब्दार्थघर्म के रूप में मिलते हैं। वेद और उपनिषदों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि आरम्भिक रूप में गुण तीन ही रहे होंगे— (१) विवट पदयोजना (२) कोमल पदयोजना (३) शटित्यर्थप्रतिपादक पदयोजना। इन्हें बाद में क्रमशः ओज, माधुर्य और प्रसाद नाम दे दिए गए। इन्हें भरत, दण्डी, भोज आदि परवर्ती आचार्यों ने बढ़ा कर ३ से २४ तक पहुँचा दिया।

जब ऋग्वेद का ऋषि—

सप्ततुमिव तितउना पुनतो यत्र धीरा मनसा वाचमकृतः।

अत्रा सषाय सत्यानि जानते मद्रंवां सस्मीनिहिताधि वाचि ॥

—ऋ० १० ७१ २

यह कहता है, तब वह तितउना पुनन्त से दोषपरिहार तथा मद्रंवां सस्मी निहिताधिवाचि से गुण के महत्त्व को प्रोद्घाटित करता है। इसी प्रकार उपनिषद् का ऋषि भी वन्ध में शैथिल्य न आने, अर्थ के अनुरूप अक्षरों के समवेत उच्चारण, उल्वणत्व, श्लक्ष्णता आदि वाणी के सौन्दर्य के वर्धक गुणों से परिचित है। हम देखते हैं कि उसकी पदयोजना कभी सौम्य, मुन्दर, समता से विभूषित मन्थर गति में बहने वाली नदी के समान प्रवाहित होती है, तो कभी उत्कट, सप्रिप्ट, गुम्फित तथा गाढ होकर विवटता को धारण करती है। कभी ऋषि की वाणी में अर्थ-वैमल्य के उपपादक पदों का प्रयोग मिलता है जिससे मंत्र पढ़ते ही तुरन्त अर्थ की प्रतीति होती है। उपनिषद् के ऋषि का यह वाक्यमोन्दर्य स्थान स्थान पर प्रकट होता है। प्रतीत होता है कि वेद तथा उपनिषद्



परवर्ती कवियों के लिए मार्ग का निर्माण करते रहे और उन्होंने इनसे प्रेरणा प्राप्त करके काव्य के गुणों का लक्षण तथा लक्ष्य ग्रन्थों में विवेचन एवं वर्णन किया।

काव्य के गुणों तथा रीतियों का अकुर तो उसी समय प्रस्फुटित हो गया होगा जब ऋग्वेद के ऋषि ने गान प्रारम्भ किया तथा उसकी ऋचाओं में अक्षरो व पदों के उच्चारण-प्रयत्न की एकता, ध्वनिसाम्य, मृदु-अल्पप्राण प्रक्षरो का बहुल प्रयोग आदि विशेषताएँ उभरी।

उपनिषद् का ऋषि भी वाणी के गुण-दोष से परिचित है। वह ऋचाओं के गान को मृदु, श्लक्ष्ण, बलवद् तथा अपध्वान्त संज्ञाएँ देता है।<sup>१</sup> इससे स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि मुन्दरता, नीरसता, अस्पष्टता आदि उक्ति के गुण-दोषों से परिचित थे। इन्हे ही परवर्ती आचार्यों ने काव्यशास्त्र के ग्रन्थ लिखते समय गुण-दोष के रूप में प्रतिपादित किया।

महाभारत तथा रामायण में भी स्थान-स्थान पर वाणी तथा वाक्य की विशेषताओं का उल्लेख हुआ है, जिसने ऋग्वेद से प्रारब्ध परम्परा को विकसित किया। वाल्मीकि तथा व्यास अपने पात्रों के वार्तालाप द्वारा वाक्यों की आनुपूर्वी, तीक्ष्णता, मृदुता, हृदयप्राहिता आदि वाणी के गुणों का निर्देश करते हैं। कर्ण से कृष्ण ने जब वार्तालाप किया तो उनकी वाणी में उपर्युक्त गुण थे।<sup>२</sup> हनुमान् ने भी जब

१ विनरि साम्ना दूणे पराव्यमित्यग्नेरद्वीषोऽनिदस्त प्रजापतौऽनदस्तः  
सोमस्य मृदु श्लक्ष्ण वापी श्लक्ष्ण बलवदिन्द्रस्य श्रौतं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य  
तान्सावनिबोपसेवेत वाश्च त्वेव धर्षयेन् ॥ (छा० २ २२० १)

२. आनुपूर्व्येण वाक्यानि तीक्ष्णानि च मृद्वनि ।

प्रियाणि धर्मयुक्तानि सत्यानि च हितानि च ॥

हृदयप्रहणीयानि राघेय मधुसूदनः ।

यान्यत्रवीदमेयात्मा तानि मे शृणु भारत ॥

(महाभारत, उद्योगपर्व, १४०, ४-५)

राम से वातान्नाप बिया तो उनकी वाणी में भी श्लक्ष्णता, असदिग्धता, सुमनोज्ञता, अल्पसमासता आदि गुण थे ।<sup>१</sup>

गिरनार के रुद्रदामन् के शिलालेख में भी वाणी के गुणों—स्फुटता, लघुता, वैचित्र्य, मधुरता, उदारता—का उल्लेख है । बाद में कालिदास के समय में तो गुणों का प्रचुर प्रयोग होने लगा और उनका आगे चलकर काव्यशास्त्र की दृष्टि से प्रौढ विवेचन भी प्रारम्भ हुआ ।

कुछ भी हो यह बात घ्यातव्य है कि जिन गुणों का विवेचन विस्तार के साथ संस्कृत काव्यशास्त्री अपने लक्षणग्रन्थों में करते हैं, उनके मूल भी उपनिषदों में ढूँढे जा सकते हैं । यहाँ हम उन सभी गुणों का अन्वेषण तो उपस्थित नहीं कर सकते, क्योंकि परवर्ती आचार्यों के बहुत से गुण तो केवल सख्या की दृष्टि से ही अधिक हैं और उनका एक दूसरे में समाहार हो जाता है । पर मूलरूप से जिनमें स्पष्ट भेद किया जा सकता है वे माधुर्य, भोज तथा प्रसाद ये तीन ही गुण रह जाते हैं । इसीलिए रस और ध्वनिवादी आचार्यों ने भी यद्यपि गुणों को रस का धर्म कहा है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने उनके तीन ही रूप स्वीकार किए हैं । प्राचीनों के कुछ एक गुण तो दोष का अभावमात्र प्रतीत होते हैं, न कि गुण । कुछ एक एक-दूसरे से इतने मिलते हैं कि उनमें परस्पर भेद करना कठिन हो जाता है, और कुछ इन तीनों गुणों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं । अतः यहाँ माधुर्य, भोज और प्रसाद इन

१ तत्तत्र हनुमान् वाचा श्लक्ष्णया सुमनोज्ञया ।

विनीतषडुपागम्य राघवो प्रणिपत्य च ॥

उवाच कामतो वाक्यं मुहुः सत्यपराश्रमो ॥

(वा० रा०, विद्विग्याण्ड, ३. १-२)

अद्विषत्तत्र असदिग्धमविलम्बितमध्यमम् ।

उरस्य कण्ठ्यं वाच्यं वर्तते मध्यमस्वरम् ॥

मनसा चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यजनस्थया

रस्य गाराप्यते विलम्बितासेररेरपि ।

(वा० रा०, विद्विग्याण्ड, ३. ११-१२)

सर्व-स्वीकृत तथा पूर्णत प्रतिष्ठित गुणों के आधार पर ही उपनिषदों में विद्यमान गुणों के सौन्दर्य को प्रोद्घाटित करने का प्रयास किया गया है ।

वैदिक साहित्य की कोमल वर्ण-योजना माधुर्यगुण, विकटवर्ण-योजना श्रोजोगुण तथा पदों की तुरन्त अर्थप्रत्यायकता प्रसादगुण के रूप में अभिहित हुई । यहाँ उन्हीं के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

### २१.१. माधुर्यगुण

विश्वनाथ ने माधुर्य के व्यञ्जक वर्णों तथा वृत्तियों का इस प्रकार प्रतिपादन किया है—

मूर्ध्नि वर्णान्त्यवर्णैर्न युक्ताष्टठडान् विना ।

रणो सधू ष तद्व्यस्तो वर्णाः कारणता गताः ॥

अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ।

—सा० द० अ. ३

अर्थात् ट, ठ, ड, ढ से भिन्न वर्णों, अथ भाग में वर्णों के अन्तिम वर्णों—अ, म, ड, ण, न से युक्त होने पर माधुर्य के व्यञ्जक होते हैं । र और ण भी माधुर्य के व्यञ्जक वर्ण हैं । एवम् अवृत्ति—समासरहित अथवा अल्पवृत्ति—छोटे समासों वाली मधुर रचना भी माधुर्य की व्यञ्जक होती है ।

उपनिषदों में प्राप्त माधुर्य गुण के निम्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

तदेजति तन्मजति तद्गुरे तद्वनिके ।

सबन्तरस्य सर्वस्य तद्गु सर्वस्यास्य बाह्यत ॥

—ईश० ५

नाह मन्ये मुवेवेति नो न वेवेति वेद च ।

यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥

—केन० २. २

महान्तं विमुमात्मानं यत्वा धीरो न शोचति ।

—कठ० २. २२

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भाग्नि कुतोऽयमग्निः ।  
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—कठ० ५ १५

वयमाद्यस्य दातारं पिता त्वं मातरिदं न' ॥

—प्र० २. ११

या च मनसि सतता शिवा ता कुरु भोत्समी ॥

—प्र० २ १२

काली कराली च मगोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।  
स्फूर्तिगिनी विद्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वा ॥

—मु० १ २ ४

कामान् यं कामयते मन्यमानं स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।  
पर्याप्तकामस्य कृतारमनस्तु इहैव सर्वं प्रविलीयन्ति कामा ॥

—मु० ३ २. २

यत्र साप्तो न कचन काम कामयते न कचन स्वप्न पश्यति तत्सुषुप्तम् ।

—मा० ५

सोऽकामयत । बहु स्यां प्रभायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ।  
इव सर्वमसृजत ।

—तै० २. ६

ते वा एते रसानां रसाः । वेदा हि रसाः । तेषामेते रसाः । तानि वा  
एतान्यमृतानाममृतानि । वेदा ह्यमृताः । तेषामेतान्यमृतानि ।

—छा० ३. ५ ४

यो यं भ्रूमा तत्सुखम् । नाल्पे सुखमस्ति । भ्रूमं च सुखम् । भ्रूमा त्वेव  
विजिज्ञासितव्य इति । भ्रूमान भगवो विजिज्ञास इति ॥

—छा० ७ २३ १

अथ पिताऽपिता भवति माताऽमाता सोऽसोऽसो देवा अवेदा  
वेदा अवेदा । ... ..

—बृ० ४ ३. २२

। नैन पाप्मा तरति । सर्वं पाप्मान तरति । नैन पाप्मा  
हरति । सर्वं पाप्मान तरति । धिपापो विरजोऽत्रिचिकित्सो द्राह्मणो भवति ।

। गोऽह भगवते धिबेहान ददामि । मा चापि सह दास्यामेति ॥

—श्वे० ४ ४ २३

वेदाहमेत पुरुष महातमादित्ययणं तमस परस्तात ।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाय मन्वा विद्यतेऽयनाय ॥

—श्वे० ३ ८

नवद्वारे पुरे देही हसो तेनापते बहि ।

बर्शा सवस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥

—श्वे० ३ १८

तमोश्चराणा परम महेश्वर त देवताना परम च द्यवतम ।

पति पतीना परम परस्ताद विदाम देव भुयनेशमोऽयम ॥<sup>१</sup>

—श्वे० ६ ७

## २ १ २ ओजोगुण

विश्वनाथ ने ओज के व्यञ्जक वर्णों तथा वृत्तियों का इस प्रकार  
विश्लेषण किया है—

अगस्याद्यतृतीयाम्भ्या युक्तौ वणौ तदन्तिनी ।

उपषष्ठी द्वयोर्जा सरेफाण्डठड्डं सह ॥

शकारश्च पकारश्च तस्य व्यञ्जकता गता ।

तथा समासो बहुलो घटनोद्धत्यशालिनी ॥

—सा० द० ८ ५ ६

वग के पहिले अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का दूसरा अक्षर,  
और तीसरे अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का चौथा अक्षर, तथा

अथ दृष्टव्य —कठ० २ १ २ २१, ४४, ५ ५, मु० १. १. ८,  
३ २ ३, ३ २ ४ ली० १ ११ २ १, छा० २ १. ३, ३ ६ ४, ३ ११ २,  
४ १ ४, ४ ४ २४ ४ १४ ३ ८ २ १५, ८ ६ ४, वृ० ४ ४ २५,  
श्वे० २ १७, ३ २१

ऊपर या नीचे अथवा दांनों ओर रेफ से युक्त अक्षर एव ट, ठ, ड, ढ, श और ष ये सब ओज के व्यञ्जक होते हैं । इसी प्रकार लम्बे समास और उद्धत रचना ओज का व्यञ्जन करती है ।

उपनिषदों में ओजोगुण की दृष्टा निम्न मन्त्रों में द्रष्टव्य है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर शुद्धमपापविद्धम् ।

कविमंतीषी परिभू स्वयंभूर्पापातव्यतोऽर्षान् व्यवधात्क्ष्वावतीभ्यः सपाध्य ॥

—ईश० ८

धोवस्य धोव मनसो मनो मद् वाचो ह वाच स उ प्राणस्य प्राण ।

बभ्रुपरश्वशुरतिमुष्य धीरा प्रेत्यास्मात्लोकामृता मवन्ति ॥

—केन० १. २

यच्छेद्वाइमनसो प्राज्ञस्तच्छेद्भ्रान् आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

—कठ० ३ १३

परांवि द्यानि ध्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराद् पश्यति नागतरात्मन् ।

कश्चिच्छरीर प्रापणात्मानमंशदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

—कठ० ४ १

त स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्चन्नादिवेषीका धर्मैः ।

त विद्याच्छुक्रममृत त विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥

—कठ० ६ १७

ष्णमिरेत यद्भूमिरन्तरिक्ष सामभियंसत्स्वययो वेदयन्ते ।

तमोज्ज्वारेणवाऽऽप्यतनेनान्वेति विद्वान यत्तच्छान्तमजरममृतममय पर वेति ॥

—प्रश्न० ५ ७

यसदन्तेऽयमप्राहृमगोममवर्णमभसुथोव तदपाणिपादम् ।

—मु० १ १ ६

यस्याग्निहोत्रमहर्षामपौर्णमासमन्नातुर्मास्यपनापयणमतिथिदक्षित च ।

—मु० १. २. ३

नान्त प्रज्ञ न बहि प्रज्ञ न प्रज्ञानघन न प्रज्ञ नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यम-  
प्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमध्यपवेशयमेकात्मप्रत्ययसार प्रपद्योपशम शान्त शिवमद्वैत चतुर्थं  
मन्यन्ते । स आत्मा । स विज्ञेयः ॥

—मा० ७

अभिसोक्तमधिउद्यौतियमधिदियमधिप्रजमध्यात्मम् ।

—तै० १ ३

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत । तन्नाशवनोच्छ्रोत्रेण प्रहीतुम् । स यद्वैनच्छ्रोत्रेणा-  
प्रहृष्यच्छ्रुत्या ह्यवान्नमत्रन्त्यत् ।

—ऐत० १. ३ ६

अथ यदु घंवास्मिञ्छ्रुत्य कुर्वन्ति यवि च नाचिपमेवाभित्तभवन्ति ।  
अचिषोऽह । अह्न आपूर्यमाणपक्षम । आपूर्यमाणपक्षाद्यन्वद्बुद्धेति  
मासास्तान् ।

—छा० ४ १५ ५

यथा च निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति । नानिस्तिष्ठच्छ्रद्दधाति ।  
निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति । निष्ठा त्वेष विजितासितध्मेति । निष्ठा भगवो  
विजिमास इति ॥

—छा० ७ २० १

सा वा एषा देवतैतासा देवताना पाप्मान मृत्युमपहस्य यत्राऽऽसां  
दिशामन्तस्तद्गमयार्थकार । तत्रासा पाप्मानो द्वित्यदधान् । तस्मान्न जनमिया-  
न्नास्तमियान्नेत्पाप्मान मृत्युमन्ववापानीति ॥

—वृ० १ ३ १०

इदं च तस्मद्यु इध्यद्दडायर्वणोऽरिदम्यामुदाच । तदेतद्वि पश्यन्बोचत्—  
भामवर्णायारिवनो वधीचेऽख्यः<sup>७</sup> गिरः प्रत्यंरवतम् ।  
स वा मधु प्रबोचवृत्तायन् त्वाष्ट्रः यद्दसावपि कक्ष्य धामिति ॥

—वृ० २ ५ १७

तमेकमेभि त्रिवृत् षोडशान्त शतापरि विशतिप्रत्यराभि ।  
जष्टकं पडमिबिरवरूपैकपारा त्रिमागंभेद द्विनिमित्तैकमोहम् ॥

—श्वे० १. ४

सकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्प्राप्ताम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजम् ।

कर्मानुगान्धनुस्त्रणेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिस्रपद्यते ॥<sup>१</sup>

—श्वे० ५ ११

### २ १ ३ प्रसादगुण

विश्वनाथ न प्रमाद के व्यजक वर्णों तथा रचना का इस प्रकार विवेचन किया है—

स प्रसाद समस्तेषु रसेषु रचनाम् च ।

शब्दास्तदव्यञ्जका अथबोधका श्रुतिमात्रतः ॥

—मा० द० ८ ८

यह प्रमाद गुण समस्त रसा और सम्पूर्ण रचनाओं में रह सकता है। मुनत ही जिनका अर्थ प्रतीत हो जाए ऐसे मरन और मुवाय पद प्रमाद के व्यजक होते हैं। इसके उपनिषदा में प्राप्त कतिपय उदाहरण देखिए—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीया मा गुप्यं कस्य सिवदधनम् ॥

—ईश० १

यस्मिन् सर्वाणि भूताणामवामुद विजानन् ।

तत्र को मोहो ज शोक एकत्वमनुपश्यत ॥

—ईश० ७

यञ्चमुपा न पश्यति येन क्षूपि पश्यति ।

तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपामते ॥

—यन० १ ७

१ अथय इष्टव्य — र्ग० ३ १८ षट् १ १८ ४८, ५२, प्रान० २३, मां० १०, १० १३३५ १३७ १०, ०३ ३४ तै० २७ छा० १६५, १७० ६ १११ ३ २६६, २१२२ २२०.१ २२३२ २२३ ३, २-४३, २२४७, २२४११, ३ १०७ ३ १४३, ४६४ ५ १० १२ ५ १० २ ५ १६.२, ६२.१, ६.११ १, ७ ११ १, ७ १५ ३, ८ ८५, वृ० १ ३ २४, २०३, ३ ७ २३, ३ ८ ४ ३ ३१, ६४५, श्वे० ३ ६, ३ १३



आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेव तु ।  
 बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन प्रग्रहमेव च ॥

—कठ० ३ ३

अग्निपर्वको भुवन प्रविष्टो रूप रूप प्रतिरूपो बभूव ।  
 एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बहिरथ ॥

—कठ० ५ ९

सूर्पो यथा सर्वलोकस्य अक्षुण्णं लिप्यते चाक्षुषं ब्राह्मिदोषं ।  
 एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुष्टेन वाह्य ॥

—कठ० ५ ११

स यथेमा नद्य स्पन्दमाना समुद्रायणा समुद्र प्राप्यास्त गच्छन्ति ।  
 भिद्येते तासा नामरूपे । समुद्र इत्येव प्रीच्यते । एवमेवास्य परिदृष्टुरिमा षोडश  
 फला पुरुषायणा पुरुष प्राप्यास्त गच्छन्ति । भिद्येते चासां नामरूपे । पुरुष  
 इत्येव प्रीच्यते । स एषोऽकलोऽमृतो भवति ।

—प्रश्न० ६ ५

प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा बह्य तल्लक्ष्यमुच्यते ।  
 अप्रमत्तेन वेद्म्य शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

—मु० २ २ ४

यथा नद्य स्पन्दमाना समुद्रेऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।  
 तथा विद्वान् नामरूपाव विमुक्त परात्पर पुरुषमुपैति विव्यम् ॥

—मु० ३ २. ८

अन्नाद् भवन्ति भूतानि आनाम्यन्नेन यजन्ते ।  
 अद्यतेऽपि च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते ॥

—तै० २. २

आदिरपो ऋषेत्पादेश । तस्योपध्यात्पानम् । असदेवेदमप्र आसीत् ।  
 तत् सदासीत् । तस्समभवत् । तदाण्ड निरवर्तत । तत्सवत्सरस्य मात्रामरापत् ।  
 तन्निरभिद्यत । ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं धामवताम् ॥

—छा० ३ १९.१

सद्यद्रजत सेष पृथिवी । यत्सुवर्णं सा द्यौः । यज्जभरायु ते पवंता ।  
यदुल्ब (स) समेधो नीहार । या धमनयस्ता नद्य । यद्वास्तेपमुदक स समुद्र ॥

—छा० ३.१९. २

उपर्युक्त मन्त्र में सृष्टिऋम का वर्णन अत्यन्त सरलता से  
ग्राह्य शब्दों में किया गया है ।

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रिय स्वप्नेषु पश्यति ।

समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ॥

—छा० ५ २ ८

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते ।

एष सर्वाणि भूतायग्निहोत्रमुपासते ॥

—छा० ५. २४ ५

असतो मा सद्गमय ।

तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

मृत्योर्मांमृत गमय ।

—वृ० १ ३. २८

सा होवाच मंत्रेयी—यनु म इय भगो सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्  
कथं तेनामृता स्यामिति । नेति होवाच याज्ञवल्क्यः । यथं दोषकरणवतां जीवितं  
तथैव ते जीवितं स्यात् । अमृतत्वस्य तु नाऽऽशास्ति वित्तेनेति ॥

— वृ० २ ४ २

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः  
प्रियो भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मतव्यो निदिध्यासितरयो  
मंत्रेयि । आत्मनो वा अरे दर्शनेन भ्रमणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ॥

—वृ० २. ४ ५

यहां आत्मतत्त्व के गहन विषय वा अत्यन्त सरल शब्दों से  
प्रतिपादन किया गया है ।

महच्छस्मिन्नाङ्गो ज्ञेयो वा सुपर्णो वा विवद्विपत्यं ध्यात् मह्यं  
पक्षी सप्तवार्षिकं द्वियत् एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति । यत्र सुप्तो न  
कचन काम कामयते न कचन स्वप्न पश्यति ॥

—वृ० ४ ३ १९

इन मन्त्रों में दुर्ज्ये आत्मा की जागृतावस्था, स्वप्नावस्था तथा सुषुप्ति अवस्था का कितनी सरल भाषा में वर्णन किया गया है।

तिलेषु तैल दधिनीव सपिराप श्रोत स्वरणीषु चाग्नि ।

एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनेन तपसा योज्युपश्यति ॥

—श्वे० १ १५

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्व दीपोपमेनेह युक्त प्रपश्येत् ।

अत्र ध्रुव सर्वतत्त्वंविशुद्ध ज्ञात्वा देव भुज्यते सर्वपापं ॥

—श्वे० २ १५

माया तु प्रकृति विद्याग्भाषिण तु महेश्वरम् ।

तस्यावपयवभूतंस्तु व्याप्त सर्वंमिद जगत् ॥

—श्वे० ४. १०

एको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वंघ्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास साक्षी चैता केवलो निर्गुणश्च ॥<sup>१</sup>

—श्वे० ६ ११

१. मन्त्रप्र द्रष्टव्य —ईतां ६, १४, १५, केन० १. ६, २. ८, १ ६, कठ० १. ३, १. ५, १. १२, १ २५, २. ७, २. ११, २. १७, २. २२, ३ ४, ३. ५-१२, ५ ५, ५ १०, ५. १२, ५ १३, ६ १४, ६ १५, प्रश्न० १. ८, २. ५, २. १३, ४ २, ४. ११, ६ ५, सु० १. २ ८, १. २. ६, २ १-१, २. १. ६, २ २. ३, २ २, ६, ३ १ ८, तै० २ ३, २. ४, ३ ६-७, ऐत० १. २. ४, छा० १. ६ १ ३. १३ ६, ३. १७ १-४, ३. १८. ३, ४ १७ ७, ७ २६ २, ८. १. ५, नृ० १ ५ २३, २. १ २०, २ ४. १२, ३. ६ १०-१७, ३. ६ २८, ४ ४ ३-४, ४. ४ १६, ४ ५. १५, श्वे० १. १६, २ ६, २. ११, ४. १६, ५ १०, ६ १३, ६ १५, ६ १६, ६ २०.

## २.२. रीति

आचार्य भरत ने गुणो का तो उल्लेख किया है, परन्तु गुणो के योग से बनने वाली रीति का निर्देश नहीं किया। उन्होंने रीति के स्थान पर प्रवृत्ति का वर्णन किया है जोकि रीति में बिल्कुल भिन्न है। रीति का सम्बन्ध भाषाशैली से है, तो प्रवृत्ति में भाषा के अतिरिक्त वेशभूषा एवम् सामाजिक व्यवहारों का भी सम्निवेश होता है, जो देश के विभिन्न प्रान्तों में भरत के समय में प्रचलित थे। संभवतः भरत की इन प्रवृत्तियों से प्रेरणा प्राप्त करके ही परवर्ती आचार्यों ने स्थानोप विशेषताओं के आधार पर रीतियों का नामकरण किया हो।

भरत के बाद वाणभट्ट के समय से हम देश विशेष के आधार पर प्रचलित काव्यशैलियों के रूप में रीति का प्रारम्भिक रूप देखते हैं। वाणभट्ट कहते हैं—

श्लेषप्रायमूर्धोच्येषु प्रतोच्येष्वयंमात्रकम् ।  
उत्प्रेक्षा वाक्षिणाश्लेषेषु गोडेष्वक्षरद्वयम् ॥<sup>१</sup>

दण्डी के समय से हम साहित्यिक शैली की दो विधाओं से परिचित होते हैं जिन्हें उन्होंने वैदमं तथा गोडमार्ग के नाम से अभिहित किया है। दण्डी मार्ग के अतिरिक्त कर्त्तृ तथा पद्यति शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य-पद्यति के स्थूल दृष्टि से ये ही दो रूप हैं जिनमें हम स्पष्ट अन्तर कर सकते हैं। वैसे तो हम जितने चाहें भेद कर सकते हैं। जितने कवि हैं उतने ही उनके वर्णना के प्रकार होते हैं और उनकी गणना असंभव है—

तद्भेदास्तु च वाच्यन्ते चरन् प्रति कविस्थिता ।<sup>२</sup>

धामन ने मस्कृत-साहित्यशास्त्र में रीति की स्थापना के साथ-साथ उसके स्वरूप का निर्धारण भी किया। उन्होंने सर्वप्रथम रीति को

१. वाण, ह्यपरित, १. ७

२. दण्डी, का० १. १०१

काव्य की आत्मा कहकर उसके महत्त्व को स्थापित किया। उनके मत में विशिष्ट पदरचना रीति है। पदरचना गुणों के कारण विशिष्ट होती है। अतः गुण रीति का मुख्य आधार है। ये रीतियाँ तीन हैं— (१) वैदर्भी (२) गौडी (३) पांचाली। पहिले तो प्रवेश-विशेष के कवियों की काव्यरचना-सम्बन्धी शब्दविधा के आधार पर रीतियों का नामकरण हुआ। परन्तु बाद में विशेष प्रकार की पद्धति के आधार पर उनका विवेचन होने लगा। यह आवश्यक नहीं रह गया कि गौड देश के कवि ही गौडी का प्रयोग करते। अन्य देशों के कवि भी यदि उस प्रकार की विधा में काव्य रचना करते थे तो उनकी पद्धति को भी गौडी ही कहा जाता था। इस प्रकार रीतियों का प्रारम्भ में भौगोलिक स्थिति के आधार पर चाहे नामकरण हुआ हो परन्तु बाद में वे किसी देश-विशेष या क्षेत्र से सम्बद्ध नहीं रही। उनका क्षेत्र विस्तृत हो गया।

दण्डी के दो मार्गों का धारण चलकर विस्तार होता गया। वामन ने उन्हें दो से तीन और रुद्रट ने तीन से चार बना दिया। भोजराज ने उनकी मर्यादा में और वृद्धि की। पहले तो रीतियाँ भाषा की शैलीगत विशेषताओं के रूप में स्वीकार की गईं और उनका व्यक्तित्व स्वतंत्र रहा, परन्तु जब साहित्यशास्त्र में रसध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई तो काव्य के अलंकार, गुण आदि अन्य अंगों के समान रीति की भी पुनर्व्यवस्था हुई। रीति रस का उपकारक बन गई और उसे काव्य की आत्मा के स्थान से हटाकर काव्यशरीर में अंगसंस्थान का स्थान प्राप्त हुआ।

यहाँ यह विचारणीय है कि रीति तथा गुण में क्या अन्तर है। गुण रीति के निष्पादक हैं, उनके अंग हैं, तथा रीति अंगी है। रीति में समग्रता तथा अखण्डता है और वह कवि की पूर्ण काव्यविधा की परिचायिका है। कालिदास वैदर्भी रीति के कवि हैं और सुयन्धु तथा वाणभट्ट गौडी रीति के। इस प्रकार रीति एक पद्धति है और वह कवि के रचना-प्रकार को व्यक्त करती है। परन्तु गुण अपने में अलग अलग इकाई हैं। वे मिलकर रीति बनाते हैं, जैसे फूल मिलकर माला बनाते हैं। माला फूलों के बिना नहीं बन सकती। रीति भी गुणों के बिना सम्पन्न नहीं होती। गुण व्यष्टि है और रीति समष्टि।

वैदिक ऋषियों की अभिव्यक्ति की भी अपनी एक पद्धति है, एक विधा है, जिसके माध्यम से वे अपने विचारों को प्रकट करते हैं। उपनिषदों के ऋषि भाषा के इस अभिव्यक्तिकौशल से परिचित हैं। वाद में प्रचलित वेदभी, गौडी आदि रीतियों के पूर्वरूप उपनिषदों में लक्षित किए जा सकते हैं। इन्हीं का परवर्ती साहित्य में विकास हुआ और लक्षणग्रन्थों में उनकी विवेचना हुई।

यहां विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित रीतियों के स्वरूप के आधार पर उपनिषदों में रीतियों का प्रदर्शन किया गया है। विश्वनाथ ने वेदभी, गौडी, पाचाली और लाटिका ये चार रीतियां मानी हैं।

### २२१. वेदभी रीति

विश्वनाथ के अनुसार वेदभी का लक्षण है—

माधुष्यं व्यजकं वर्णं रचना ललितारमिका ।

अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वेदभी रीतिरिष्यते ॥

—सा० ८० ९ २

उपनिषदों में उपलब्ध वेदभी रीति के कतिपय उदाहरण नीचे उद्धृत हैं —

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्मारमेषामुद् विजानत ।

तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ॥

—ईश० ७

न तत्र चक्षुर्गच्छति न श्रोत्रं चक्षति नो मनः ।

न विद्मो न विजानीमो यथेतदनुशिष्यात् ॥

—वेन० १. ३

धम्मनसा न भ्रुते वेनाहमंनो मतम् ।

तदेव ग्रह्य त्व विद्धि नेव यदिदमुपासते ॥

—वेन० १ ६

आरपना विन्दते दीर्घं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥

—वेन० २. ४

स्वर्गं लोके न भय किञ्चनस्ति न तत्र त्व न जरया विभेति ।

उभे लोरेर्वाज्ञानायापिपाते शोकातिगो मोक्षते स्वर्गं लोके ॥

—कठ० १ १२

आसीनो दूर व्रजति शयानो याति सवत ।  
कस्त मदामद देव मदन्यो ज्ञातुमहति ॥

—कठ० २ २१

उतिष्ठत जाप्रत प्राप्य वरान निबोधत ।  
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गे पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

—कठ० ३ १४

एको बशी सबभूतान्तरात्मा एक रूप बहुधा य करोति ।  
तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषा सुख शाश्वत नेतरेषाम् ॥

—कठ० ५ १२

इन्द्रस्त्व प्राण तेजसा दृष्टोऽसि परिरक्षिता ।  
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्व ज्योतिषा पति ॥

—प्रश्न० २ ९

अधिष्ठायामन्तरे यतमाना स्वय धीरा पण्डितमयमाना ।  
जङ्घन्यमाना परिपन्ति मूढा अग्घेनैव नीयमाना यथाघा ॥

—मु० १ २ ८

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्नि ।  
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिद विभाति ॥

—मु० २ २ ११

वेदमनूष्याऽऽचार्योऽन्तेषासि तमनुभाति । सत्य पद । धर्मं चर ।  
स्वाध्यायान्ता प्रमद । भातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आत्मापदेवो भव ।  
अतिथिदेवो भव । अश्रद्धया वेदम । अश्रद्धयाऽवेदम । ह्यिया वेदम् । मिया  
वेदम । सविदा वेदम ।

—तै० १ ११

यतो वाचो नियतंते अप्राप्य मनसा सह ।  
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान न बिभेति कदाचन ॥

—तै० २ ४

न मे स्तेनो जनपदे न कश्यपो न मद्यप ।  
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् स्वैरी स्वैरिणी कृत ॥

—छा० ५ ११ ५

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर जिप्रति, तदितर इतर पश्यति ..  
तदितर इतर विजानाति । यत्र धा अस्य सर्वमात्मैवामून् तत् केन क जिप्रेत् तत्  
केन क पश्येत् विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ।

वृ० २ ४. १४

किं कारणं ब्रह्म कुत स्म जाता जीवाम केन यद्य च सप्रतिष्ठा ।

अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो ध्यवस्थात् ।

—श्वे० १ १

पर्यंब बिम्ब मृदयोपलिप्त तेजोमय भ्राजते तत् सुधीतम् ।

तद्वाऽऽत्मतत्त्व प्रसमीक्ष्य देही एक कृनापौ भवते वीतशोकः ॥

—श्वे० २ १४

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको यतूनां यो विवधाति कामान् ।

तत्कारण साक्ष्ययोगाधिगम्य ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशं ॥<sup>१</sup>

—श्वे ६ १३

०२ गौडो रीति

विश्वनाथ के अनुसार इसका लक्षण है—

ओज प्रकाशकैवर्णैर्दग्ध आदम्बर पुन । समासबहुला गौडी ॥

—मा० द० १ ३

कुछ एक उदाहरण देखिए—

स पर्यगाच्छुभ्रमकायमग्रणमस्नाविर शुद्धमपापविद्धम् ।

श्विर्मनोषी परिभू स्वयम्भूर्वापातघ्यतोऽर्षान् ध्यवधाच्छाश्वतीभ्य  
समाभ्य ।

—दृश० ८

१. अन्वयत्र द्रष्टव्य —केन० १. १, १ ३, १४ १, ७, १८, २३;  
षठ० २. १५, ४. ३ ४४, प्रश्न० २ ७, २. ८, ४. २, ४. ८, मू० १ २५,  
१ २ ६, २ १ ६, २ १ ६, नै० भृगुवल्गी (गम्पूर्ण), छा० ४ २ ८,  
बृह० १. ४. १७, २ २ ३, ० ४ १२, - १. ८, ३. ६. १-४, ३ ७ १५-२३,  
३. ६. २६, ४ १ २-७, ४३. १०, ४ ३ १३, ४. ३ १६-१८, श्वे० १. २,  
१ १५, १ १६, २. १०, २. १५, ० १६, २. १७, ३. ४, ३. ७, ४ ७-८,  
४ १०, ६. ४, ६. ११, ६. १४



पराचि छानि ध्यतृणत् स्वयम्भुस्तस्मात् पराई पर्यात्र मान्तरात्मन् ।  
 कश्चिद्धीर प्रत्यगाहमानमंशदावृत्तचक्षुरमृतत्वामिच्छन् ॥

—कठ० ४ १

हस सुचिपद्मुरन्तरिक्षसद्भोता वेद्विषदतिथिर्वुरोणसत् ।  
 नृपव्वरतदुत्तर द्योमसदवजा गोजा श्रुतजा अविजा श्रुत बृहत ॥

—कठ० ५ २

श्रुमिरेत यदुभिरन्तरिक्ष सामभिर्यत्तत्रवयो वेदयन्ते ।  
 तमोद्कारेणवाऽऽप्यननेनान्वेति विद्वान् यत्तद्दान्तमजरममृतममय पर चेति ॥

—प्रश्न० ५. ७

यत्तद्वरेक्षमप्राह्यमगोत्रमवरांमचक्षु श्रोत्रं तदपाणिपादम् ।  
 गित्य विभु तर्बयत सुसूक्ष्म तदव्यय पद्भूतयोनि परिपश्यन्ति धीरा ॥

—मु० १. १ ६

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौषं मातमचातुर्मास्यमनाप्रपणमतिथिर्बर्जित च ।  
 अहृतमवैत्यदेचमविधिना हृतमालप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥

—मु० १ २. ३

नान्त प्रज्ञ न बहिःप्रज्ञ नोमपत प्रज्ञ न प्रज्ञानघन न प्रज्ञ नाप्रज्ञम् ।  
 अष्टमव्यवहार्यमप्राह्यमलक्षणमवित्ययमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययस्यार प्रश्चोपसर्गं  
 शान्त शिदमद्वैत धतुर्षं मन्यन्ते । स आत्मा । स विज्ञेय ॥

—मा० ७

तवेनसृष्ट पराहृत्यजिघासन् । तदवाचाऽजिघ्रसत् । तन्नाशश्नोव्याचा  
 प्रहीतुम् । स मवर्षेनद् वाचाऽप्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैपान्नमत्रप्यत् ॥

—ऐत० १. ३. ३

एष म आत्माऽन्तर्हृदमेऽणीयान्त्रीहेर्वा यवाद्वा सर्वपाद्वा श्यामाकाद्वा  
 श्यामाकृतश्चक्षुद्वा । एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा-  
 ष्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य ॥

—द्या० ३ १४. ३

यथा सोम्य पुरुष गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत् ।  
स यथा तत्र प्राङ् बोवङ् वाऽथराङ् वा प्रत्यङ् वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष  
आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥

—छा० ६ १४. १

इदं वं तन्मयु दध्यङ्वापर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतद्वृषि. परयन्नधीचत्—  
सद्वा नरा सनये द्वाँस उपमाविष्कृणोमि तग्यतुर्न वृष्टिम् ।  
दध्यङ् ह यन्मदवापर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति ॥

—वृ० २ ५. १६

स होवाच—एतद्दं तदक्षर गागि द्वाहृणा अभिवदन्त्यस्यूलमनष्वहृस्व-  
मदीर्घमस्रोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाग्यनाकारामसगमरसमगन्धमधुःशुकमधोत्रमवा-  
गमनोऽन्तेजस्कमप्राणममुप्रमगात्रमन्तरमवाहृम् । न तदस्नाति किञ्चन । न  
तदस्नाति कश्चन ॥

—वृ० ३ ८. ८

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरं क्षरात्मानावीशते देव एकः ।  
तस्याभिध्यानाद्योजनात् तत्त्वभावाद् भ्रूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति ॥

—श्वे० १ १०

सकल्पनस्पर्शनवृष्टिमोहैर्प्राप्तान्बुबुष्टपा। चात्मविवृद्धिजन्म ।  
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही रूपानेषु क्पाप्यभिसप्रपद्यते ॥<sup>१</sup>

—श्वे० ५ ११

### २.२ ३. पांचाली रीति

विश्वनाथ के अनुसार पांचाली का लक्षण है—

दर्शं शैवंः पुनर्द्वयो ।

समस्तपञ्चवचो वन्द्य पांचालिका मता ॥

—मा० ८० ९. ४

१. अन्यत्र दृष्टव्यः— षट्० ६ १६, मु० २. २. ६, ३. १. ६;  
छा० १ १० ११, २. ६. ७, ४. ६. ३, बृह० १. ५ ३, श्वे० ३. १

उपनिषदो मे प्राप्य कतिपय उदाहरण इत प्रकार दिए जा सकते हैं—

अनेजदेक मनसो जवोपो ननद्वेवा आप्नुवन पूर्वमर्षत ।

तद्वापतोऽन्पानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्मपो मातरिखा दधाति ॥

—ईश० ४

पोतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रिया ।

अनन्दा नाम ते लोकास्तान्म गच्छति ता ददत् ॥

—कठ० १ ३

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामारद्भन्त प्रार्थयस्व ।

इमा रामा सरथा सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्ये ।

आभिर्मत्प्रताभि परिचारयस्व नचिकेतो मरण माऽनुप्राक्षी ॥

—कठ० १ २५

ययोर्णनाभि सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधय सम्भवन्ति ।

यथा सत पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥

—मु० १ १ ७

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठ मान्पच्छ्रेयो वेदयते प्रमूढा ।

ताकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वा इम लोके हीनतर वा विशन्ति ॥

—मु० १ २ १०

भीपाऽन्मावयात पवते भीषा उदेति सूप ।

भीपाऽन्मादग्निरचे द्रश्व मृशुर्धावति पञ्चम ॥

—तै० २ ८

गर्भे नु सन्नन्वेपामवेदह देवानां जनिमानि विश्वा ।

गत मा पुर आपसारिरक्षन्मघ र्षर्णां श्वसा निरदोयम् ॥

—ऐत० २. ५

आत्मा देवानां जनिता प्रजानां हिरण्यदष्टौ ब्रह्मसोऽनसूरि ।

महान्तमस्य महिमानमाद्भुरनद्यमानो यदनन्मति ॥

—छा० ४ ३ ७

एष आत्माऽपहतपाप्मा धिजरो विमृत्युविशोको विजिघत्सोऽपिपास  
सत्यकाम सत्यसकल्प । यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति ययानुशासनम् । य  
यमन्तमभिकामा भवन्ति य जनपद य क्षेत्रभाग त तमेवोपजीवन्ति ॥

—छा० ८ १. ५

स ऐक्षत यदि वा इममभिम<sup>१</sup>स्ते कनीयोऽन्न करिष्य इति । स सया  
वाचा तेनात्मनेद सर्वमसृजत यद्विद किञ्च—ऋचो यजूधि सामानि ऋद्वांसि  
यज्ञान् प्रजा पशून् । स यद्यदेवासृजत ततवत्तुमधिपत । सर्वं वा  
अस्तीति तददितेरदितित्वम् । सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्न भवति य  
एवमेतददितेरदितित्व वेद ॥

—यू० १ २ ५

तद्यथा वृषजलायुक्ता वृषस्यान्त गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसह-  
रति । एवमेवापमालेद शरीर निहत्याधिद्या गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मान-  
मुपसहरति ॥

—वृ० ४. ४ ३

अगावगात् सभवति हृदयादधिजायते ।

स त्वमगरुषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममू मयीति ॥

—वृ० ६. ४ ९

सर्वांगीये सर्वसत्ये बृहन्ते यस्मिन् हसो ध्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।

पृथगात्मान प्रेरितार च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामूनत्वमेति ॥

—श्वे० १ ६

त्रिदन्त स्थाप्य सम शरीर हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिवेश्य ।

ब्रह्मोद्भूषेन प्रतरेत विद्वान् श्रोतासि सर्वाणि भयायहानि ॥

—श्वे० २ ८

अगुष्टमात्र पुदयोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सनिषिष्ट ।

हृदा मनोया मनसाऽभिषलुप्तो य एतद्विकुरमतास्ते भवन्ति ॥<sup>१</sup>

—श्वे० ३ १३

१. धन्यत्र इष्टव्य — ऋ० १.६; मू० २ १.६, ३.१.७; छा० १.७ ५,  
२.२०.२, ३.२.११, ७.४.३, वृह० १.४.५, ४४ १३, श्वे० ४.१, ४.६, ४ ६

## २. ३. पाक

पाक भी कभी काव्यशास्त्र के तन्वो में अपना विशिष्ट स्थान रखता था । यत्रतत्र इस विषय में प्राचीन आचार्यों के मत प्राप्त होते हैं, पर उत्तरकालीन आचार्यों ने पाक की ओर ध्यान नहीं दिया । सर्वप्रथम वामन ने पाक का विवेचन करते हुए कहा है—

आधानोद्धरणे तावद् यावद्दोलायते मनः ।

पदस्य स्थापिते स्वर्ग्ये हन्त सिद्धा सरस्यती ॥

यत् पदानि त्यजन्त्येष परिवृत्तिसहिष्णुतान् ।

त शब्दाभ्यासनिष्णाता शब्दपाकं प्रवक्षते ।

—का० सू० १ ३ १५

तदनन्तर उन्होंने पाक के दो भेद किए—(१) आम्रपाक  
(२) वृन्ताक-पाक ।

काव्यबन्ध में गुणों की स्फुटता तथा पूर्णता आम्रपाक है तथा काव्यरचना में केवल सुप्, तिङ् का सस्कारमात्र होना तथा वस्तुगुण अर्थात् अर्थगुण का विलुप्त होना वृन्ताक-पाक है ।

गुणस्फुटत्वसाकल्प काव्यपाकं प्रवक्षते ।

धृतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते ॥

मुप्तिङसस्कारसारं यत् विलुप्तवस्तुगुणं भवेत् ।

काव्यं वृन्ताकपाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः ॥

—का० सू० ३. २. १५

राजशेखर ने भी काव्यमीमांसा में पाक का विवेचन किया है ।

सततमभ्यागवशात् सुकृत्वे वाक्यं पाकमायाति । कः पुनरयं पाकः ?  
इत्याचार्या । 'परिणाम' इति भगवत् । 'कः पुनरयं परिणामः' इत्याचार्या ।  
'मुपां तिङा च श्व (प्रि ?) या व्युत्पत्तिः' इति भगवत् । तोरास्वमेतत् ।  
'पदनिवेशनिष्कम्पता पाक' इत्याचार्या ।

तदाह —

आवापोद्धरणे तावद्यावहोसायते मन ।

पदाना स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥

‘आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायस्तस्मात् पदानां परिवृत्तिवैमुह्य पाक’ इति वामनीय<sup>१</sup> । तदाह —

यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम् ।

त शब्दन्यायनिष्णाता शब्दपाक प्रवक्षते ॥

‘इयमशक्तितनं पुन पाक’ इत्यवन्तिमुदरी । यदेकस्मिन् वस्तुनि महा-  
शब्दोनामनेकोऽपि पाठ परिपाकवान भवति, तस्माद्दसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धन  
पाक । यदाह—

गुणालकाररीत्युक्तिशब्दार्थप्रयनक्रम ।

स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति ॥

सदुक्तम् —

सति यत्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति ।

अस्ति तन्न विना येन परिचरति वाङ्मय ॥

‘कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिबेद्य पर पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदय-  
प्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहारोपगमसौ’ इति धापावरोप ।<sup>१</sup>

राजशेखर के पाकविषयक उपर्युक्त विषेचन से प्रतीत होता है कि उनका पाकविचार कुछ अशो तक वामन से प्रभावित है । निरन्तर अभ्यास से कवि के वाक्यो में परिपक्वता आती है । अतः, पाक कवि के निरन्तर अभ्यास का परिणाम है, यह मगल का मत है । पाक शब्दाश्रित है या अर्थाश्रित इस विषय पर विचार करते हुए राजशेखर ने हमारे सामने दो पक्ष प्रस्तुत किए हैं । मगल आदि आचार्य इसे शब्द का धर्म मानते हैं । मनुस्मृत्य, वा. तिरुन्नु, ऋग्वेदे, की. श्रोत्र, मगुर, व्युत्पत्ति, पदो. के

१. राजशेखर, वा० मी०, पटना, १९५४, पृ० ४८-५२

प्रयोग में निर्भोक्ता वा नि सन्दिग्धता तथा एक वार लिखे गये पद के पुनः परिवर्तन की आवश्यकता न होना पाक है। इस प्रकार यह पाक शब्द का सौन्दर्य है। परन्तु, अच्युतसुन्दरी के मत में रस के अनुगुण शब्द अर्थ एवं सूक्तियों का निबन्धन पाक है। अतः, पाक केवल शब्द का धर्म नहीं है। महाकवियों के काव्यों में एक के स्थान पर अनेक पाठ मिलते हैं। वे सभी परिपक्व तथा उपयुक्त भी होते हैं। इस दृष्टि से पाक को केवल शब्द का धर्म मानना अनुचित है।

इस विवाद को शान्त करने के लिए राजशेखर ने शब्दपाक तथा वाक्यपाक स्वीकार किए। शब्दपाक में शब्द की रमणीयता तथा वाक्यपाक में अर्थ की विच्छिन्नता होती है।

राजशेखर ने स्वयं पाक के नौ भेद किए हैं— पिचुमन्द पाक, वदर पाक, मृद्वीका पाक, वार्ताक पाक, तिल्लिडी पाक, सहकार पाक, ऋमुक पाक, त्रपुस पाक, नारिकेल पाक। इनमें पिचुमन्द पाक, वार्ताक पाक और ऋमुक पाक सर्वथा त्याज्य हैं। वदर, तिल्लिडीक और त्रपुस मध्यम पाक हैं। मृद्वीका, सहकार और नारिकेल पाक ग्राह्य हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने कपित्थ नामक एक और पाक का भी निर्देश किया है। यह काव्यरचना में कहीं सरस, कहीं नीरस और कहीं मध्यम रूप से अव्यवस्थित रहता है—

अत्रवस्थितपाक पुनः कपित्थपाकमाप्नन्ति ।<sup>१</sup>

पाक के उपर्युक्त भेदों में से कुछ के उदाहरण उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। आगे उनका निर्देश किया जाता है।

### २.३.१. नारिकेलपाक

राजशेखर नारिकेल पाक का लक्षण करते हुए लिखते हैं—

आद्यन्तयोः इवादु नारिकेलपाकमिति ।

—का० मी०, पृ० ५१

१. राजशेखर, ना० मी०, पटना, १९५४, पृ० ५४

इसके कतिपय उदाहरण देखिए—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भाति बुतोऽयमग्नि ।  
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—कठ० ५ १५

यहाँ शब्द तथा अर्थ दोनों का सौन्दर्य आदि से अन्त तक मधुर है। पद आत्रमधुर हैं तथा परिवर्तन का सहन नहीं कर सकते। अर्थ भी सुस्वादु है। अतः राजशेखर की दृष्टि में यह नारिकेलपाक का उदाहरण है।

इसी प्रकार,

१ धोत्रस्य धोत्र मनसो मनो यद्वाचो ह वाच स उ प्राणस्य प्राण ।  
क्षुपरचक्षुरतिमुच्य धीरा प्रेत्यास्मान्लोकामना भवन्ति ॥

—वेन० १ २

यहाँ आत्र मनम् आदि शब्द परिवृत्त्यमह हैं। इनके प्रयोग से एक विशेष शब्द-सौन्दर्य तथा अर्थ-नावण्य प्रकट होता है एवम् आदि में अन्त तक सरसता बनी हुई है।

२ यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर पश्यति तदितर इतर जिघ्रति, तदितर इतर रसयते तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतर शृणोति, तदितर इतर स्मृते तदितर इतर स्पृशति तदितर इतर विजानाति । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्त्वं च पश्यत्तत्त्वं च जिघ्रैत्तत्त्वेन च रसयेत्तत्त्वेन चमभिव-  
देत्तत्त्वं च शृणुयात्तत्त्वेन च भाषीत, तत्त्वेन च स्पृशेत्तत्त्वेन च विजानीयात् येनेदं सर्वं विजानाति तं वेन विजानीयान् ।

—यू० ४ ५ १५

यहाँ पर भी शब्द तथा अर्थ में आदि में अन्त तक माधुर्य विद्यमान होने में नारिकेलपाक विद्यमान है।

२३० अणुसपाक

लक्षण—

आदाद्भुत्तमन्ते माध्यम अणुसपाकम् ।

—ता० मो० पृ० ५१



उदाहरण—

शात्वा देव सर्वपाशापहानि क्षीणे क्लेशजंन्ममृत्युग्रहाणि ।  
तस्याभिध्यानात्तृतीय देहमेवे विरवंश्वर्यं केवल आप्तकाम ॥

—श्वे० १ ११

यहा शात्वा देव सर्वपाशापहानिः से स्वादु पदयोजना का आरम्भ है, परन्तु अन्त में जाकर यह पदयोजना उतनी स्वादु नहीं रही है, अतः इस दृष्टि से यहा त्रपुसपाक है ।

इसी प्रकार,

सत्यमेव जयते नानृत सत्येन यथा विततो देवयानः ।  
येनाक्रमन्त्युपयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परम निधानम् ॥

—मु० ३ १ ६

इस मन्त्र में भी उपर्युक्त विधि से त्रपुसपाक है ।

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् तन्नाशयन्तोत् प्राणेन शहीतुम् ।  
स यद्वैतत्प्राणेनाग्रहैष्यवन्निप्राण्य हृवान्ममत्रप्यत् ॥

—ऐत० १ ३ ४

इस मन्त्र के प्रथम खण्ड में स्वादु सरल पदयोजना है, परन्तु द्वितीय खण्ड में क्लिष्ट तथा जटिल पदयोजना है, अतः त्रपुसपाक है ।

० ३ ३ तित्तिडोपाक

लक्षण—

आद्यन्तयोर्मध्यम तित्तिडोपाकम् ।

—वा० मी० पृ० ५१

उदाहरण—

अग्रंय देव स्वप्ने महिमानमनुभवति । यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति । भूत  
धृतमेवार्धमनुगृणोति । देशदिगन्तरंश्च प्रत्यनुसृत पुनः पुनः प्रत्यनुभवति । दृष्टं  
षादृष्टं च भूत धाम्भूत धानुभूत धाननुभूत च सत्त्वात्तच्च सर्वं पश्यति । सर्वः  
पश्यति ॥

—प्र० ४.५

यहा आदि और अन्त में समान पदयोजना है। अत त्रिन्तिडी-  
पाक है।

### २ ३.४ मृद्धीकापाक

लक्षण—

आदावस्वादु परिणामे स्वादु मृद्धीकापाकम् ।

—का० मी० पृ० ५१

उदाहरण—

यत्तद्रेष्यमप्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षु श्रोत्र तदपाजिपादम् ।

नित्य विभु सर्वगत सुसुद्धम तदव्यय तद्भूतयोनि परिपश्यन्ति धीराः ॥

—मु० १.१ ६

यहा आरम्भ में क्लिष्ट वर्ण-पदयोजना है, परन्तु बाद में सरल  
एव मधुर पदयोजना है, अत मृद्धीकापाक है।

## ३.१. ध्वनिसिद्धान्त

ध्वनि सस्कृत काव्यशास्त्र का महनीय सिद्धान्त है। इसमें काव्य के शरीर से आत्मा की ओर बढ़ने का प्रयास है, जिसकी चरम परिणति रससिद्धान्त में परिलक्षित होती है। काव्य-विशेष के लिए ध्वनि के व्यपदेश का श्रीगणेश आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में किया तथा काव्यस्यात्मा ध्वनि' कहकर उसे काव्य का परमवत्त्व घोषित किया। ध्वनि का सौन्दर्य अर्थ की प्रतीयमानता में है। जब कि वाच्यार्थ स्थिर, स्पष्ट एवं शुष्क होता है, प्रतीयमान अर्थ उज्ज्वल नक्षत्र के समान टिमटिमाता है, मोती के समान चमकता है तथा तरंग के समान चंचल होता है। अर्थ की इस दीप्ति तथा तरंगायमानता में उसका सौन्दर्य छिपा है। कहा भी गया है—क्षणं क्षणे यन्भवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयं ताय । प्रतीयमान की भी यह विशेषता है कि वह भी ललना के लावण्य के समान क्षण क्षण में रमणीय है तथा सहृदय के हृदय को अपनी छटा से मुग्ध करता है। अत एव ध्वनि के प्राण प्रतीयमानार्थ के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव यस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत्तत्प्रसिद्धावपवातिरिक्तं विभाति तावन्पमिवागनाम् ॥<sup>१</sup>

यह प्रतीयमान अर्थ जब काव्य में प्रधानरूप से अवस्थित होता है, तब उसे ध्वनि कहते हैं। यही काव्य का उत्तम प्रकार है। प्रतीयमान की गौणता में भी उसकी रमणीयता रहती ही है, पर उतनी नहीं जितनी उसकी प्रधानता में। अतः गौण-प्रतीयमान काव्य का

मध्यम प्रकार होता है। प्रतीयमान की नगण्यता या अविबक्षा में काव्यत्व हीनकोटि का होता है। अतः वह काव्य का अधम रूप है। इस प्रकार ध्वनिसिद्धान्त में प्रतीयमान अर्थ का इतना अधिक महत्त्व है कि ध्वनिवादी उसके प्रधान-गौण भाव से ही काव्य की कोटियों का निर्धारण करते हैं। जो बात स्पष्ट वह दी जाए, जिसमें कुछ भी छिपा कर न रखा जाए, वह अपने आकर्षण को खो देती है। अतः ध्वनिसिद्धान्त में अर्थ को गूढ रखा जाता है, क्योंकि गूढ ही चमत्कृत करता है। वेद और शास्त्र में ता अर्थ की स्पष्टता तथा यथार्थता अभीष्ट होती है, क्योंकि वहाँ अर्थ के अस्पष्ट रहने से अनर्थ हा सकता है। परन्तु विधाता की मृष्टि से विलक्षण कवि की मृष्टि में यदि लोक तथा शास्त्र के समान सब कुछ स्पष्ट अभिधेय हो जाए, तब वह काव्य ही क्या हुआ? वह तो शास्त्र बन गया। कवि की कल्पना की उड़ान में अर्थ की गूढता तथा अर्थ की तरंग के समान चंचलता नितान्त अपेक्षित है। जैसे तरंग का सौन्दर्य उसकी चंचलता में है उसी प्रकार प्रतीयमान की शोभा उसकी विरचन में है।

आनन्दवर्धन प्रतीयमान के इस मर्म को समझ गए। वेद का ऋषि भी प्रतीयमान के सौन्दर्य के इस मर्म से अवगत था। जब ऋषि वाणी की गूढता के विषय में कहता है—

उत एव परमान् ववसां वाचमुन एव शृण्वन् शृणोत्येनाम् ।

उतो त्वस्मै तन्व विसर्धे जायेव पय उगतो गुमासा ॥

—ऋ० १० ७१ ४

तब वह प्रतीयमान की ही महिमा गाता है। वाणी के वाच्यार्थ को तो सभी समझते हैं। परन्तु उसमें गूढ अर्थ भी छिपा रहता है। उसमें ही सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य का देखने वाले विरले ही होते हैं। परन्तु जिनमें उस सौन्दर्य को देखने की नालसा है, योग्यता है, उनके सामने वाणी अपने गूढ सौन्दर्य को ऐसे प्रकट कर देती है, जैसे जाया नावण्य के दर्शन में उत्सुन पति के सामने अपने आवृत रूप को विवृत कर देती है। इसी प्रकार ध्वनि में भी गूढ अर्थ छिपा रहता है। जो उमका आम्बाद प्राप्त करने में प्रसमर्ध है, उनके लिए वह अर्थ सबूत ही रहता है। जा महृदय होने है, वाच्यानुशीलन के अम्यास

मे विशदहृदय होते हैं, उन-के लिए ध्वनिकाव्य मे प्रतीयमान का सौन्दर्य मलनालावण्य के समान उद्भासित होता है ।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने वैदिक ऋषि के समय से वाणी को गूटता के रूप मे सकेतित प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि के रूप मे प्रतिष्ठित किया और उसे काव्य की आत्मा कहा तथा काव्य का व्यापी तत्त्व स्थिर किया जिसमे काव्य के अन्य अंग—प्रलकार, गुण, रीति, रस सभी समाविष्ट हो गए ।

ध्वनिसिद्धान्त के सस्थापक आनन्दवर्धन ने ध्वनि का लक्षण किया है—

यत्रार्थ. शब्दो वा तमर्षमुपसर्जनोक्तस्वाभी ।

व्यक्त काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभि. कथित ॥

—ध्वन्यालोक. १. १३

जहा शब्द अपने वाच्यार्थ को तथा वाच्यार्थ अपने आपको गौण करके व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराते हैं, उस काव्यविशेष को ध्वनि कहते हैं ।

## ३. २. ध्वनिभेद

ध्वनि के दो प्रमुख भेद हैं—(१) अविवक्षितवाच्य ध्वनि जिसे लक्षणामूलक ध्वनि भी कहते हैं। इसके भी अर्थान्तरसकमित वाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य दो भेद हैं। (२) विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि। इसे अमिधामूलक ध्वनि भी कहते हैं। इसके भी असलक्ष्यक्रमव्यग्य तथा सलक्ष्यक्रमव्यग्य दो भेद हैं। सलक्ष्यक्रमव्यग्य के शब्दशक्तिमूल, अर्थशक्तिमूल और उभयशक्तिमूल—तीन भेद हैं। इनके भी फिर वस्तु से वस्तु वस्तु से अलकार, अलकार से वस्तु तथा अलकार से अलकार आदि भेद होते हैं। इस प्रकार आचार्यों ने ध्वनि के प्रमुख ५१ भेद किए हैं।'

यहा उपनिषदों में उपलब्ध ध्वनि के उदाहरणों का दिङ्मात्र निर्देश किया जाता है।

### ३.२ १. लक्षणामूलक अर्थान्तरसकमितवाच्य ध्वनि

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत्कोऽतीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ।

—केन० ३ ५

यहा 'अग्नि' ने अपने लिए 'जातवेदा' का प्रयोग किया है, अतः मुख्यार्थबाध होने से लक्षणा है। यह पद केवल साधारण अग्नि अर्थ को प्रकट नहीं करता, अपितु 'न केवल भूमि के, अन्तरिक्ष के भी पदार्थों को जलाने की सामर्थ्य वाली अग्नि' इस अर्थ को चोतित करता हुआ अग्नि के सातिशय अभिमान को अभिव्यजित कर रहा है। इस प्रकार 'जातवेदा' पद अपने अर्थ को न छोड़ता हुआ भी 'अभिमानयुक्त अग्नि'

१ भेदी ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ सशणामिधामूलौ ।

अविवक्षितवाच्योऽप्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च ॥

अर्थान्तर सकमिते वाच्येऽत्यन्त तिरस्कृते ।

अविवक्षितवाच्योऽपि ध्वनिर्द्विविध्यमृच्छति ॥

अर्थ को व्यजित कर रहा है। अतः यहाँ लक्षणामूलक अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य ध्वनि है।

इसी प्रकार केन० ३ ८ में भी लक्षणामूलक अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य ध्वनि है।

न वित्तेन तर्पणीषो मनुष्य तप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्वा ।

जीविष्यामो यावदोशिष्यसि त्व वरस्तु मे वरणोद स एष ॥

—कठ० १ २७

यहाँ जीविष्यामो यावदोशिष्यसि त्वन् मे प्रयुक्त 'त्वम्' पद न केवल सामने बैठे यमराज को संकेतित कर रहा है अपितु सम्पूर्ण विश्व पर एकमात्र अकटक राज्य करने वाले यमराज को चोतित कर रहा है। अतः यहाँ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि है।

न साम्पराय प्रतिनाति बाल प्रमाद्यन्त वित्तमोहेन मूढम ।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुन पुनर्वंशमापद्यते मे ॥

—कठ० २ ६

दिवक्षिताभिष्टेयोऽपि द्विभेव प्रथम नत ।

असलहयक्रमो यज्ञ ध्यायो लक्ष्यक्रमस्तथा ॥

(सा० ८० ४ २-४)

शब्दार्थोत्पत्तयोरुत्पत्ते ध्यग्देश्जुस्वानसनिभे ।

ध्वनिसंक्षयक्रमव्यत्यतिविविध कथितो बुधं ॥

(सा० ८० ४ ६)

यस्तुर्वात्तद्वृत्तिर्नेति द्विग्राहं मङ्ग्री मञ्ज ।

कये प्रौढोश्चित्तिद्धो वा तन्निबद्धस्य चेति यद् ।

पञ्चभिर्त्तैर्व्यंज्यमानस्तु यस्तत्त्वकाररूपक ।

अयंशतप्युद्भवो ध्यग्गो याति द्वारसभेवताम् ॥

(सा० ८० ४ ७-८)

इस मन्त्र में 'मे' पद का 'एकमात्र मेरे (यमराज के)' इतना मात्र अर्थ न होकर 'सम्पूर्ण ससार के प्राणियों को, चाहे वे जैसे भी हो, मौत के घाट पहुँचाने वाले, मुझ उचित दण्ड देने वाले यमराज के वश में आते हैं', इतना अर्थ अभिप्रेत है। यहाँ 'मे' पद अपना अर्थ न छोड़ता हुआ भी, यमराज के गुणों के सहित अर्थ का द्योतक है।

इसी मन्त्र में 'वालम्' पद मूर्ख के लिए प्रयुक्त है। 'वाल' का मुख्यार्थ यद्यपि बालक होता है, पर प्रकरण में बालकार्य अन्वययुक्त न होने से अविवेकी अर्थ को द्योतित कर रहा है। उत्तरवर्ती लौकिक साहित्य में भी साहित्यिकों ने मूर्खों के लिए 'वाल' शब्द का ही प्रयोग कई एक स्थानों पर किया है, जो कि उपनिषदों का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। गीता में भी साटपयोगी पृथग् बाला प्रवर्तित न पण्डिता पाया जाता है। अतः यहाँ 'वाल' शब्द 'अज्ञानी' के लिए कवि द्वारा जानबूझ कर रखा गया प्रतीत होता है।

अतः यहाँ अर्थान्तरमक्रमितवाच्य ध्वनि है।

इह चेदवेदीदय सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि ।

भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य घोरा प्रेत्यात्मास्त्रोकाद्यमृता भवन्ति ॥

वेन० २ ५

यहाँ 'भूतेषु भूतेषु' पदों में एक पद का अर्थ प्राणी तथा दूसरे का अनेक है। परन्तु, अनेक अर्थ को बताने वाला 'भूत' शब्द अपने अर्थ का सर्वथा त्याग न करता हुआ, बुद्धि एक अंश में उसे सुरक्षित रखे हुए है। इससे सम्पूर्ण प्राणियों का बोधरूप अर्थ व्यंग्य होने में यहाँ अर्थान्तरसन्नमितपरवाच्य ध्वनि है।

३ २ २. लक्षणामूलक अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि

असुर्या नाम ते शोका अग्रेण तमसाऽऽवृता ।

तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाग्मन्तो जना ॥

—ईश० ३



इस मन्त्र में 'अन्धेन' और 'आत्महन' पदों में लक्षणा है। 'अन्धेन' का मुख्यार्थ है 'चक्षुरहित' और 'आत्महन' का 'आत्मा का नाशक'। पर यहाँ 'अन्धेन' पद 'तमस्' का विशेषण है। 'तमः' चक्षुरहित नहीं हो सकता, एवम् 'आत्मा' का विनाश नहीं किया जा सकता। इस प्रकार मुख्यार्थ का बाध होने से यहाँ दोनों ही पदों ने वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए अपने अपने अर्थों को क्रमशः 'अज्ञान' या 'अदर्शन' एवम् 'अज्ञानी' कर दिया। अपने अर्थों का सर्वथा त्याग करने से यहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है। इससे व्यंग्य है कि मनुष्यों को ज्ञानोपार्जन करना चाहिए।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति मो मन ।

न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिक्ष्यान् ॥

अन्यदेव तद्विदितादधि अविदितादधि ।

इति शुभ्रम पूर्वेण ये नस्तद्व्याचक्षिरे ॥

—कैन० १ ३

यहाँ अविदितादधि में अधि शब्द अपने वाक्यार्थ 'मे' का परित्याग करके 'सर्वश्रेष्ठ' अर्थ को लक्षित कर रहा है। अतः यहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि है। प्रयोजन प्रतिपादक होने से यहाँ इसमें ब्रह्म का अज्ञेयत्व व्यंग्य है।

### ३.२ ३. अभिधामूलक अर्थशक्तिमूलध्वनि

(क) वस्तु से वस्तु-व्यंग्य—

अन्यन्तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रताः ॥

—ईश० ९

यहाँ ज्ञान और कर्म को 'विद्या' और 'अविद्या' पदों द्वारा कहा गया है। दोनों को ही आत्मा की प्राप्ति में आवश्यक बताया गया है। इससे अभिव्यजित है कि आत्म-तत्त्व की प्राप्ति के लिए ज्ञान और कर्म दोनों ही अनिवार्य हैं। इस प्रकार यहाँ वस्तु से वस्तु व्यंग्य है।

केनेषित पतति प्रेषित मन । केन प्राण प्रथम प्रंति युवत ।

केनेषितां वाचमिमा वदन्ति । चक्षु थोत्र क उ देवो युनस्ति ॥

—केन० १ १

यहाँ ✓पत् का सुन्दर प्रयोग किया गया है। ऋषि चाहता तो ✓गम् या ✓धाव् का प्रयोग भी कर सकता था। पर मन की एकदम पराधीनता वतान के लिए ✓पत् का प्रयोग है, जैसे कि कोई व्यक्ति जान-बूझ कर नहीं गिरता, न चाहने पर भी गिर पड़ता है। तथा च, स पतति में जिस प्रकार कर्ता स है, किंच वह व्यापार वाला है, पर वह ऐसे व्यापार वाला कर्ता है जो व्यापार अदृश्य शक्ति द्वारा कराया जा रहा है। दार्शनिक भी पतन का आदिकारण गुरुत्व मानते हैं—आद्यपतना-ऽसमवायि कारणत्व गुरुत्वम् (तत्वंसग्रह)। इसी प्रकार यहाँ मन पतति में कर्ता मन है। पर ऋषि का कथन है कि कौन ऐसी वस्तु है जिसके कारण से मन गिर रहा है। इसके पतन में अन्य कारण अवश्य है। इस पद से मन से अतिरिक्त अन्य वस्तु की सिद्धि व्यंग्य है, जो कि आत्मा ही हो सकता है। अतः यहाँ वस्तु से वस्तु ध्वनि है।

इसी प्रकार, इसी मन्त्र में 'इमाम्' पद भी ऋषि द्वारा विशिष्टार्थों को चोत्तन करने के लिए रखा गया है। यहाँ बिना 'इमाम्' के भी 'वाच वदन्ति' इस प्रकार कहा जा सकता था। केवल छन्द पूर्ति के लिए भी इसे नहीं माना जा सकता। 'ललिता, मधुराम्' पद से भी काम चल सकता था, पर ऋषि का 'इमाम्' विशेषण से 'इस वाणी' (जिसे मैं 'स्वयं व्यक्त कर रहा हूँ') इस प्रकार की विशिष्ट वाणी) को किस की सहायता से व्यक्त कर रहा हूँ, जिस किसी की सहायता है—वह ही आत्मा है, यह व्यंग्य है। अतः यह भी वस्तु से वस्तु व्यंग्य का उदाहरण है।

यदि मन्यसे भुवेदेति दम्भमेवापि नून त्व वेत्य ब्रह्मणो ह्वम् ।  
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वप्य नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥

—केन० २ १

यहाँ भुवेदेति दम्भमेवापि नून त्व वेत्य—यदि तू बहता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ तो निश्चय ही तू ब्रह्म को थोड़ा सा ही जानता है—इससे ब्रह्म की गहनता व्यक्त की गई है। अर्थात् ब्रह्म को जानना अतिवटिन है। जो ब्रह्म को जानने की बात कहते हैं, वे भी

अज्ञान रूप में तैर रहे हैं। ब्रह्म का ज्ञान तो बालमूकास्वादवत् है, जो वाणी का विषय नहीं है। इस प्रकार महा वस्तु से वस्तु व्यग्य है।

तदभ्यद्रवत्तमभ्य वदन्कोऽसौत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ।

—केन० ३ ४

यहां 'अभ्यद्रवत्' पद न केवल अपने वाच्य अर्थ का प्रतिपादन कर रहा है, अपितु यश प्राप्ति के लिए अग्नि की बचनी को भी चोतित कर रहा है। लाक में भी यश प्राप्ति के लिए शीघ्रता की जाती है। अतः यहां वस्तु से वस्तु व्यग्य है।

तस्मिं तृणम् जिदघावेतद्देहि । तदुपप्रेमाय सर्वजवेन तन्न शशाकं दग्धु स क्षत एव निधवृते नंतदशक विजातु यदेतद्यक्षमिति ॥

—केन० ३ ६

यहां 'तृणम्' पद अग्नि की तुच्छता को चोतित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। जब अग्नि ने कहा कि मैं केवल अग्नि नहीं अपि तु जातवेदा हूँ अर्थात् अन्तरिक्ष तक के पदार्थों को भस्म कर सकता हूँ, तो यक्ष ने उसके सामने एक तिनका मात्र रखा। (यक्ष और भी किसी वस्तु का रख सकता था) महा 'तृणम्' के न्यान पर 'काष्ठम्' पद भी रखा जा सकता था, पर यक्ष को एकमात्र उसको नीचा दिखाना अभिप्रेत था, क्योंकि वह तिनके मात्र को पूरी शक्ति से भी नहीं जला सका, यद्यपि वह उसके पास भी गया। इसलिए महा केवल 'तृणम्' से ही नहीं 'सर्वजवेन उपप्रेमाय' तथा 'न शशाक' पदों से भी विशिष्ट व्यग्य निकलता है। जब भयकर आग जलती है, तो आम-पाम के तिनके आग की लपटों से वैसे ही (आग के उनमें पाम जावे बिना भी) भस्मीभूत हो जाते हैं। पर यहां आश्चर्य यह है कि जो अग्नि अपने को 'जातवेदा' कह रहा है उसके सामने यक्ष ने एक छोटा तिनका डाना। आग पूरे जोर से एकदम उसके पास भी गई, पर उसको जला न सकी। इस प्रकार तीनों ही पद सप्रयोजन हैं, और इनमें महा वस्तु से वस्तु व्यग्य है।

देवंरत्रापि विचिकित्सित पुरा न हि सुविज्ञेयमपुरेय धर्म ।

अन्य वर नविकेतो वृणोष्व मा भोषरोत्तोरति मा वृजेनम् ॥

—शठ० १. २१

यहाँ 'मा मोपरात्सी' में 'मा' पद की द्विरुक्ति यमराज की व्याकुलता को अभिव्यजित कर रही है। जिस प्रकार कोई धनी ऋणों को दधाना चाहता है और वह व्याकुल होकर बड़ी आकुलता से छुटकारा पाना चाहता है, इसी प्रकार यमराज नचिकेता की वरविषयक इस ऋण की वापसी से व्याकुल हो रहा है, जो कि 'मा मा' के उच्चारण से प्रतीति में आ रही है। अतः यहाँ वस्तु से वस्तु व्यग्य है।

इमा रामा सरपा सवर्षा न ह्रीद्गता लम्पनीया मनुष्यं ।

आभिर्मत्प्रतामि परिचारयस्व नचिकेतो भरणं माज्नुप्राप्सी ॥

—कठ० १ २५

यहाँ 'इमा' पद से व्यग्य है कि किसी को एक भी अप्परा प्राप्त नहीं होती, तुझ में इन अपनी ही परिचारिकाओं को, जोकि मेरे पास हैं, और सामने, तेरे समीप ही बंठी हैं, तुझे देता हूँ। इस तरह बहुवचन में 'इदम्' शब्द का उपस्थित वस्तु के लिए प्रयोग उपर्युक्त अर्थ का अभिव्यजक है।

इसी मन्त्र में 'मत्प्रतामि' में 'मत्' का प्रयोग भी विगिष्ट प्रतीति का व्यजक है, जिसमें व्यग्य है कि मुझे ही ये प्राप्त हैं, साधारणजनो द्वारा इन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह व्यग्य वस्तु-रूप है। अतः यहाँ वस्तु में वस्तु ध्वनि है।

अजोयंताममृतानामुपेत्य जीयन्मत्वं श्वद्यस्य प्रजान् ।

अभिध्यायन् वर्षारतिप्रमोदानतिदीर्घं जीविते को रमेत ॥

—कठ० १ २८

यहाँ 'को रमेत' पद में प्राणियों की सासारिक जीवन में चिरकाल तक रहने की अनिच्छा चोतित हो रही है अर्थात् कोई भी व्यक्ति दुःख के कटाहों में पड़ने को न्यार नहीं हो सकता है। यहाँ यह वस्तु व्यग्य है कि दूषित सासारिक पदार्थों को भोगने के लिए चिरकाल के जीवन की प्राप्ति अनर्थकारी ही है।

दूरमेते विपरीते विषूची अबिद्या या च विद्येति ज्ञाना ।

विद्याभीष्मिन नचिकेतय मन्वे न त्वा कामा बह्योऽजोमुपत ॥

—कठ० २.४

यहा 'दूरम्' पद विद्या और अविद्या की गम्भीर खाई को द्योतित कर रहा है। इसी प्रकार यही पर प्रयुक्त 'नचिकेतसम्' पद यम की तटस्थता को व्यजित कर रहा है। नचिकेता ने सामने बैठे यमराज को मध्यमपुरुषवाचक पदों से ही सम्बोधित किया, पर यमराज यहा सामने बैठे हुए नचिकेता को मध्यमपुरुषवाची सर्वनाम द्वारा संकेतित न करके अन्यपुरुषवाचक 'नचिकेतसम्' नामपद से सम्बोधित कर रहा है। इससे यह वस्तु व्यजित होती है कि यमराज के हृदय में नचिकेता साधारण बालक नहीं, अपितु असाधारण व्यक्ति है। अतः वह उसका नाम लेने में ही गौरव समझता है, अथवा उसके हृदय में उसके लिए ध्येष्ठ पुरुषों से भी अधिक स्थान विद्यमान है। अतः यहा वस्तु से वस्तु ध्वनि है।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि युह्य ब्रह्म सनातनम् ।

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥

—कठ० ५. ६

यहा 'हन्त' पद में यह वस्तु व्यंग्य है कि यद्यपि मैं नहीं चाहता, पर तुम्हारे बार बार के इस दुराग्रह के कारण तुम्हें इस गुह्य ज्ञान को बताना पड़ेगा ।

यामिन् गु गिरिस्तान् हस्ते विभर्ष्यस्तवे ।

शिवा गिरिस्त्व ता कुश मा हिसी पुरप जगत् ॥

—श्वे० ३. ६

यहा 'इपु' पद से वस्तुत्प ध्वनि है कि इपु (वाण) को शरीर-रहित व्यक्ति धारण नहीं कर सकता। अतः आप (भगवान्) साकार होकर वाण धारण करते रहने हैं। आप हमें उसी त्प को दिखाओ जो माकार है। किन्तु हम रोद्र त्प को नहीं देखना चाहते, अपितु शिव रूप को ही देखना चाहते हैं।

इसके साथ ही यहा 'गिरिस्त्व' पद से यह ध्वनि निकलती है कि दूसरों का कल्याण, रक्षा करना आपका निजी स्वभाव है।

आदि त सयोनित्तित्हेतुः परस्त्रिकातादकसोऽपि दृष्टः ।

त शिखरत्प भवन्तमोऽप्य देव स्वचित्तस्वमुपास्य पूर्वम् ॥

—श्वे० ६. ५

यहा 'स्वचित्तम्यम पद व्यजक है, जिससे तात्पर्याय का ज्ञान हो रहा है कि वह देव जो सम्पूर्ण विश्व के अन्दर व्याप्त है, तुम्हारे अन्दर भी व्याप्त है। अतः मत्सर तथा तुम में कोई भेद नहीं। एकमात्र मायाकृत भेद में फसा हुआ जीव उसको इधर उधर देखता है। अतः सम्पूर्ण विश्व का निर्माता ब्रह्म इसी प्रकार तुम्हारे हृदय में विद्यमान है, जैसे बस्तूरिकामृग की नाभि में सुगन्ध। पर वह मृग सुगन्ध को अपने में न देखकर इधर उधर उसको ढूँढता हुआ नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार विश्वरूप उस परमात्मा का हम अपने में न ढूँढकर इधर उधर देखते हुए, अनेक योनियों में पडकर कर्मबीज से मनते हुए अनेको कष्ट भागत है। यहा ईश्वर को अपने में ही ढूँढो, यह वस्तु व्यंग्य है।

विशेष—

केन उपनिषद् के प्रथम तथा द्वितीय खण्ड में ऋषि विषय का प्रतिपादन स्वयं करता रहा, पर तृतीय खण्ड में यक्ष को माध्यम बनाकर विषय का प्रतिपादन किया गया है। इसका प्रयोजनभूत तात्पर्याय है कि मिमी को भी अभिमान नहीं करना चाहिए, अभिमानो का मिर नीचा होता है। यह ध्यावहारिक ज्ञान बताना ही ऋषि का अभिप्रेत है जो वाच्य न होकर मन्त्रों में यथास्थान व्यंग्यरूप में दिखाया गया है। जैसे—

तस्मिन् त्वयि कि वीर्यमित्यपीद सर्वं दहेय यद् इदं पृथिव्याम् इति ।

—केन० ३ ५

यहा 'सर्वं दहेय यद् इदम् ' पदों से लौकिक पदार्थों की तुच्छता द्वारा अग्नि अपने सामर्थ्य को व्यंग्य रूप से प्रकट कर रहा है।

न होवाच पितर तात कस्मै मा दास्यस्यति । द्वितीय तृतीय त होवाच मृत्यवे त्वा ददामि ।

—कठ० १ ४

यहा ऋषि ने पिता पुत्र के सम्वाद द्वारा मृत्यु के रहस्य तथा आत्म-तन्त्र को गहनता से बताया है।

पुत्र द्वारा बार बार पूछे जाने पर पिता—मृत्यवे त्वा ददामि—तुझे मृत्यु का देता हूँ, इस प्रकार कहता है। यहा त्वा ददामि पदों के पिता भी अर्थ का बोध हो सकता था, क्योंकि ✓का का प्रयोग नचिनेता पहले कर चुका था। अतः 'मृत्यवे' अर्थान् मृत्यु को दूंगा, इतना ही कहना

पर्याप्त था। पर उसके पिता ने मृत्युवे त्वा वदामि इतने पद कहे, जिनसे पिता का क्रोधातिशय व्यजित हो रहा है। अतः महा वस्तु-ध्वनि है।

(ख) अलकार से वस्तु व्यग्य—

अनेजदेक भवतो जयीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्पत् ।

तद्भावतोऽयानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिस्त्वा वधाति ॥

—ईश० ४

आत्मा विचलित न होने वाला है, पर मन से भी तेज चलने वाला है, दौड़ते हुए को दौड़ में हरा देता है। पर जो कही जाय ही नहीं वह कैसे मन से तेज दौड़ सकता है, तथा तज दौड़ लगाने वालों को कैसे दौड़ में जीत सकता है। इस प्रकार यहाँ विरोध होने से विरोधालकार है। विरोध दिखाकर यहाँ परमात्मा की नित्यता तथा सर्वव्यापकता व्यग्य है। अर्थात् वह सर्वत्र व्याप्त होने से कही आता जाता नहीं, तथा जो गतिशील प्राणी है, उनकी अपेक्षा उस स्थान में पहले ही विद्यमान रहता है जहाँ के लिए कोई गमनानुकूल व्यापार करता है। इस प्रकार वह परमात्मा नित्य, कर्तृत्वधर्मरहित, सर्वव्यापक है। किन्तु यह अर्थ वाच्य नहीं, व्यग्य है।

स पर्यगाच्छुद्धमकायमवगमस्तत्रविर शुद्धमपापविद्धम् ।

एविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूदायातप्यतोऽर्यान् व्यदधाच्छास्वतोभ्य सताभ्यः ॥

—ईश० ८

इस मन्त्र में भी परमात्मा के लिए प्रयुक्त सभी विशेषण साभिप्राय हैं। साभिप्राय विशेषण होने के कारण यहाँ परिकर अलकार है जिससे परमात्मा की निर्गुणता अभिव्यजित हो रही है।

श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो मनो यद्वाचो ह वाच स उ प्राणस्य प्राण ।

धनुषश्चशुरतिमुष्य धीराः श्रेत्यास्मात्लोकादमृता भवन्ति ॥

—कै० १० २

यहाँ आत्मा के कानों का भी कान, मन का भी मन इत्यादि रूप से वर्णित होने के कारण आपातत विरोध होने से विरोध अलकार

है। इस विरोध अलंकार से उम परमात्मा का सर्वनिपन्नृत्व वाच्य न होकर व्यंग्य है।

इसी प्रकार, इसी मन्त्र में प्रेत्यात्माल्लोकाद् अमृता भवन्ति—मर वर अमर हो जात है—इस प्रकार एकत्र ही मरणशीलत्व तथा अमरत्व इन दो विरुद्ध धर्मों का अध्याहार होने में विराट् अलंकार है, जिसमें आत्मा की श्रष्टता अभिनक्षित हो रही है कि आत्मा नित्य है, वह मरना नहीं, वह श्रष्ट तत्त्व है, मुक्त होने पर वह स्वरूप में स्थित हो जाता है।

तस्यैव आवेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन्द्रमीमिषदा ३ इत्यपि श्वेतम् ॥

—वेन० ४४

यहां ब्रह्मा की मत्ता को द्योतित करने के लिए विजली की चमक तथा पलक की झपक का उपमान रूप में रखा गया है, अतः मालोपमा अलंकार है। इसमें ब्रह्म का अदर्शन व्यंग्य है। विजली की चमक में भी आखि किमी वस्तु का नहीं दख सकती, अपितु वन्द हो जाती है, तथा पलक मारने पर भी आखि किमी बाह्य वस्तु का ग्रहण नहीं कर सकती, अतः चर्मचक्षुःश्रा म आत्मा का प्रकाश देखना कठिन है। यही तात्पर्य ऋषि का यहां अभिप्रेत है जा मालोपमालंकार से व्यञ्जित हो रहा है।

अनुपश्य यथा पूर्वं प्रतिपश्य तथाऽपरे ।

तस्यमिव मर्त्यं पच्यते तस्यमिवाजायते पुन ॥

—कठ० १६

यहां मनुष्य मेली की तरह पकता है तथा मेली की तरह पुन उत्पन्न होता है, इस उपमानकार में मनुष्य की मृत्यु अवश्यम्भावी वनार्ट गर्ट है, जिसमें नचिकेता अपने पिता का शिक्षा दता है कि 'अब आप मुख यमराज के यहां भेज दोजिए।' यह व्यंग्यार्थ मर्त्य की उपमा से प्रतीत हो रहा है, अतः यहां अलंकार में वस्तुध्वनि है।

अथवाप्यपि बहुशिर्यो न सप्य शृष्वन्तोऽपि बहवो य न विद्युः ।

आगचर्यो वचना कुशमोऽस्य सप्याऽऽचर्यो भाना कुशलानुशिष्ट ॥

—कठ० २७

यहां विरोध अलंकार में आत्मा की दुम्हता रूप वस्तु व्यंग्य है।



न जायते चिद्यते वा विपरिचिन्नाय वृत्तचिन्तनं बभूव कश्चित् ।  
अजो नित्यः शाश्वतोऽप्य पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

—कठ० २.१८

यहाँ भी न हन्यते हन्यमाने शरीरे में विरोध अलंकार है जिससे आत्मा की नित्यता व्यंग्य है। अर्थात् शरीर विनाशी होने पर भी उसमें रहने वाला आत्मा नित्य है।

अशरीर शरीरेत्वनवस्येष्ववस्थितम् ।

महान्तं विष्णुमात्मन मत्या शरीरो न शोचति ॥

—कठ० २.२२

यहाँ पर शरीरो में अशरीरो तथा अनित्यो में नित्यत्प से वर्णन होने से विरोध अलंकार है जिससे ब्रह्म की कारणता व्यंग्य है।

एतस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्या वेद एव स ॥

—कठ० २.२५

यहाँ शौन ऐसा है जो यह जान सके कि वह कौन है और कहां है अर्थात् कोई नहीं इस प्रकार अर्थापत्ति अलंकार है, जिससे आत्मा की समर्थता व्यंग्य है। यहाँ 'ओदन' और 'उपसेचन' पदों को विशिष्टार्थ को द्योतित करने के लिए रखा गया है। जैसे दाल के साथ भात खाने से किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता, वैसे ही उस आत्मा को ब्राह्मणशक्ति और क्षात्र शक्ति को नष्ट करने में तनिक समय नहीं लगता और न कठिनता प्रतीत होती है।

उपसेचन—

यदि भात बिना साग खाया जाए तो थोड़ी कठिनाई अनुभव हो सकती है, अतः उसके माथ साग मिलाया जाता है। ब्रह्म एवं क्षत्र शक्ति के विनाशार्थ यहाँ मृत्यु का सहारा चिया गया है, किन्तु जैसे सहायभूत

माग भी भात के साथ खा लिया जाता है उसी प्रकार मृत्यु को भी ब्रह्म द्वारा नष्ट कर दिया जाता है । अतः यहाँ वस्तु से वस्तु व्यग्य भी है कि ब्रह्मप्राप्ति से मनुष्य जन्म मरण के चक्कर से रहित हो जाता है ।

पञ्चपाद पितर द्वावशाकृति दिव आहु परे अर्थं पुरीषिणम् ।

अधेमे अथ उ परे विचक्षण सप्तचक्रे षडर आहुरपितमिति ॥

—प्रश्न० १११

यहाँ रूपक अलंकार शब्दों द्वारा स्पष्ट होने से वाच्य है, जिसके द्वारा ब्रह्म की सत्ता के प्रति कारणता व्यग्य है ।

वात्यस्त्व प्राणैकश्रुपिरत्ता विश्वस्य सत्पति ।

चयमाद्यस्य दातार पिता त्व मातरिश्च न ॥

—प्रश्न २११

यहाँ एक ही वस्तु (ईश्वर) को विषयभेद से अनेक प्रकार से वर्णित किया गया, जिससे उल्लेख अलंकार वाच्य है और उससे ध्वनित है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् एवम् उपास्य है ।

यथा भुवीप्तात्पावकाद्विस्फूर्तिगा सहस्रश प्रभवन्ते सत्पा ।

तथासराद्विदिधा सोम्य भावा प्रजापन्ते तत्र चंबापियन्ति ॥

—मु० २११

यहाँ वाच्य अर्थ है कि जिस प्रकार अग्नि में से तत्स्वरूप अनेकों चिनगारिया निकलती है, इसी प्रकार अक्षर से अनेकों भाव प्रकट होते हैं । यहाँ अग्नि से चिनगारियों के निकलने के समान ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति दृष्टान्त अलंकार से कही गई है, जिससे तात्पर्य निकला कि प्राण और चिनगारिया में जिस प्रकार अभिन्नता है, ब्रह्म और जीव में भी इसी प्रकार अभिन्नता है । इस प्रकार यहाँ जीव ब्रह्म की एकता ही अलंकार से वस्तु व्यग्य है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽप्यमग्नि ।

तमेव भातमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वंमिदं विभाति ॥

—मु० २२१

यहा प्रतिषेध अलकार है, जिससे ब्रह्म का सर्वप्रकाशकत्व व्यग्य है। इससे उस ब्रह्म की प्रकाशरूपता स्वतः ज्ञात हो जाती है, क्योंकि, जिसमे स्वयं प्रकाश नहीं वह दूसरे को भी प्रकाशित नहीं कर सकता। अतः 'ब्रह्म स्वतः प्रकाश है', यह व्यग्य अर्थ है जो कि प्रतिषेध अलकार से द्योतित है। इस प्रकार यहा अलकार से वस्तु व्यग्य है।

इसी प्रकार मुण्डक ३.२.८ में भी प्रतिषेध अलकार से 'विशुद्ध चित्त द्वारा ही आत्म तत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है', यह व्यग्य है।

बृहच्च तद्विव्यमचिन्त्यएष सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतर विमाति ।

दूरात्सुदूरे तद्विहान्तिके च पर्यत्स्वहेव निहितं गृह्यायाम् ॥

—मु० ३.१.७

'जो बड़े में बड़ा भी है तथा छोटे से छोटा भी, तथा दूर से दूर और पास में पास, वह हृदय में छिपा है।' इस प्रकार यहा एक में ही विरुद्ध धर्मों के वर्णन से विरोध अलकार है, और उससे ब्रह्म की सर्वोत्कृष्टता वस्तु व्यग्य है।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुर्पति दिव्यम् ॥

—मु० ३.२.८

जिस प्रकार समुद्र में कितनी ही नदियाँ मिल जाय पर समुद्र में कोई अन्तर नहीं आता, वह ज्यों का त्यों रहता है, इसी प्रकार उस ब्रह्म में कितने ही जीव मिल जायें उसमें कोई अन्तर नहीं आता। जिस प्रकार समुद्र और नदी एक ही हैं इसी प्रकार ब्रह्म और जीव भी एक ही है, केवल नामरूप का भेद मात्र है। यहा दृष्टान्त अलकार है, जिससे जीव ब्रह्म की एकता व्यग्य है।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपाख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोकार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदस्योकार एव ।

—मा० १

यहा ओकार का वर्तमान-सा वर्णन होने से भाविक अलकार है, जिससे ओकार की उपासना व्यग्य है।

जागरितस्थानो बहि प्रज्ञ सप्ताग एकोनविंशतिमुख स्युत्तभुर्गश्वानर  
प्रथम पाद ।

—मा० ३

यहा आत्मा का पुरुषाकार में सागरूपक से वर्णन है, जिससे आत्मा की अद्वैतता अर्थात् उस आत्मा को इस प्रकार देखने से द्वैत की निवृत्ति हो जाती है, यह व्यंग्य है ।

न स्वदेतेऽप्युच्छिष्टा इति । न वा अजीविष्यमिमानखादिनति होवाच ।  
कामो म उदपानमिति ॥

—छा० १०१०४

इम्य ने कहा—‘क्या ये (कुल्माष) जूठे (उच्छिष्ट) नहीं हैं?’ उसने उत्तर दिया—‘(नहीं क्योंकि अन्यथा) मैं जीता न रहता’, इत्यादि ।

यहा न स्वदेतेऽप्युच्छिष्टा ?—‘ये भी उच्छिष्ट नहीं’, यह सीधा अर्थ है । पर काव्य वक्रोक्ति से ‘क्या ये उच्छिष्ट नहीं ? अर्थात् हैं’, इस प्रकार हो जाता है । इस प्रकार यहा वक्रोक्ति अलंकार है, जिससे व्यंग्य निवृत्तता है कि आपत्ति के समय मनुष्य को उचितानुचित साधनों से प्राण वचा लेने चाहिए ।

दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्यं आस स होवाचाजातरात्रु काय ब्रह्म ते  
श्रवाणोति । स होवाचाजातरात्रु सहस्रमेतस्या घाचि ददमो जनको जनक इति वं  
जना प्रावन्तीति ॥

—वृ० २११

यहा जनक जनक साभिप्राय विशेष्य होने से परिवराकुर अलंकार है, जिससे जनक की अतिशयदानशीलता व्यंग्य है ।

स यथा बुन्दुमेर्हग्यमानस्य न बाह्याच्छब्दाच्छब्दबुधाव् प्रष्टपाय बुन्दुमेस्तु  
प्रहृष्टेन बुन्दुम्यापातस्य वा शब्दो गृहोत ॥

—वृ० २४७

यहा दृष्टान्त अलंकार है, और दृष्टान्त में आत्मा की सर्वत्र व्यापकता व्यंग्य है ।

सर्वंश्यापिनमात्मान क्षीरे सपरिक्वापितम् ।

आत्मविघातपोमूल तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥

—श्वे० ११६

—जो, आत्मविद्या और तप का मूल है तथा जिसमें परम ध्येय आश्रित है, आत्मदर्शी उस सर्वव्यापी आत्मा को दूध में विद्यमान घृत के समान देखता है ।

यहा उपमालकार है, जिससे आत्मा की सर्वत्र व्यापकता व्यंग्य है ।

इन्द्रासि यत्ता ऋतवो घृतानि मृत मग्न्य पच्य वेदा षदन्ति ।

अस्नान् मायो सृजते विश्वमेतत् तस्मिन् चान्यो मायया तनिष्टः ॥

—श्वे० ४ ९

यहा अनेको का एक साथ वर्णन होने से समुच्चयालकार है । समुच्चयालकार से ब्रह्मा की सर्वव्यापकता, शक्तिमत्ता अर्थात् वह ईश्वर अणु-अणु में विद्यमान है, यह व्यंग्य है ।

अज्ञात इत्येव कश्चिद् मोह प्रपद्यते ।

रुद्र यत्ते दक्षिण मुख तेन मा पाहि नित्यम् ॥

—श्वे० ४. २१

यहा साभिप्राय विशेषण होने से परिकर अलकार है और उससे परमेश्वर ही सब का रक्षक है, यह व्यंग्य है ।

अलकार से अलकार व्यंग्य—

यथोदक शुद्धे शुद्धमातिवत् तादृगेव भवति ।

एव मुनेर्बिजात आत्मा भवति गौतम ॥

—कठ० ४. १५

यहा आत्मा द्वारा अपने अविद्यादिजन्य गुणों को छोड़कर पवित्रता, नित्यतादि गुण ग्रहण करना व्यंग्य है, जो कि उपमा अलकारसे प्रतीति में आ रहा है । जहा अपने गुणों को छोड़कर दूसरे के गुणों को ग्रहण करने का वर्णन वाच्य या व्यंग्य रूप से पाया जाय वहा तद्गुण अलकार होता है । यहा उपमालकार से तद्गुण अलकार व्यंग्य रूप से प्रतीति में आ रहा है । इस प्रकार यहा अलकार से अलकार व्यंग्य है ।

अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्टो एष एष प्रतिरूपो बभूव ।

एवस्तथा सर्वमूतान्तरात्मा एष एष प्रतिरूपो बहिरच ॥

—कठ० ५ ९

यहा वाक्यार्थोपमा अलकार द्वारा उस एक ही आत्मा को अनेको में व्यग्य रूप से बताया जा रहा है। इस प्रकार विशेष अलकार व्यग्य है।

वायुर्यंको भुवन प्रविष्टो रूप रूप प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बहिरच ॥

—कठ० ५. १०

तथा—

भूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुर्वर्वाह्यदोषं ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकाद् दुःखेन बाह्य ॥

—कठ० ५. ११

इन मन्त्रों में भी वाक्यार्थोपमा अलकार से विशेष अलकार व्यग्य है।

सोऽयमात्माध्यक्षरमोकारोऽधिमात्र पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ।

—मा० ८

यहा अन्योन्यालकार से विनोक्ति अलकार व्यग्य है कि पाद के बिना मात्रा नहीं तथा मात्रा के बिना पाद नहीं।

स्वप्नस्थानस्तंजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षाद् उभयत्वाद्भोत्कर्षति ह वं ज्ञानसन्तति समानश्च भवति । नास्यान्नह्यवित् कुले भवति य एव वेद ॥

—मा० १०

यहा जो उपासक ऐसा जानता है, वही अपनी ज्ञान-सन्तान का उत्कर्ष करता है, इस प्रकार हेतु अलकार है। हेतु अलकार से दृष्टान्त अलकार व्यग्य है कि जिस प्रकार अकार से उकार उत्कृष्ट है, उसी प्रकार विश्व से तंजस उत्कृष्ट है, या दोनों में समानता है।

एष ग्रह्येय इत्र एव प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पचमहाभूतानि पृथिवी...प्रज्ञान ब्रह्म ॥

—ऐत० ३. ३

यहा एव ही का प्रजापति, देवता, पचमहाभूत आदि कहा गया है, जो कि परस्पर विरुद्ध है, अतः विराघ अलकार है। उससे ब्रह्म की सर्वत्र

व्यापकता सिद्ध हो रही है कि वह एक ही ब्रह्म अपने चेतन स्वरूप से अथवा कारणात्मक रूप से सर्वत्र विद्यमान है। इस प्रकार एक की ही अनेकत्र विद्यमानता व्यग्य होने से विशेषालकार अभिव्यजित हो रहा है।

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्च न मध्ये परिजग्रभत् ।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यत् ॥

—श्वे० ४ १९

तथा—

न सद्गो तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पर्यति कश्चननम् ।

हृषा हृदित्य मनसा य एनमेव विदुरमुतास्ते भवन्ति ।

—श्वे० ४ २०

इन दोनों मन्त्रों में प्रतिषेध अलकार है, और प्रतिषेध अलकार से परमात्मा की शक्तियों का वर्णन तथा उसकी महिमा का वर्णन होने से उदात्त अलकार व्यग्य है।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्वाभ्यधिकश्च दुर्यते ।

परास्य शक्तिर्विबिधं च भ्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानवत्क्रिया च ॥

—श्वे० ६ ८

यहां परिसह्या अलकार है। परिसह्या अलकार से अर्थापत्ति अलकार व्यग्य है कि ये सब पदार्थ विनाशशील मनुष्य में विद्यमान रहते हैं, ब्रह्म में नहीं। वह अज है।

३२४ पद-ध्वनि

अपेन्द्रमद्ब्रह्मयदन्नेतद्विजानीहि किमेतच्चसमिति । तदेति । तदस्य-  
द्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥

—केन० ३ ११

यहां ऋषि को तिरोदधे पद से एकमात्र इतने अर्थ का बोधन कराना अभिप्रेत नहीं कि पक्ष इन्द्र के सामने से छिप गया, अपितु इन्द्र का अत्यधिक अपमान व्यग्य है। अग्नि तथा वायु जब यक्ष के समीप गये तो यक्ष ने कम से कम उनसे बातचीत तो की, भले ही उनकी

परीक्षा ली और वे सफल न हुए। किन्तु यहाँ, यद्यपि इन्द्र इन दोनों देवताओं से श्रेष्ठ था, पर यक्ष ने उमसे वार्तालाप करना तो दूर रहा, उसमें मिलना भी उचित न समझा, जो कि उसका अत्यधिक अपमान था। लोक में भी यदि कोई बड़ा आदमी और उसके साथ दो छोटे आदमी किसी के पास जाए और वह व्यक्ति उन छोटों से तो मिल ले और वार्तालाप कर ले पर बड़े से वार्तालाप करना भी उचित न समझे तो वह उसका अत्यधिक अपमान है। इसी प्रकार यहाँ तिरोदधे पद इन्द्र के अतिशय अपमान को अभिव्यजित कर रहा है। अतः पदगत ध्वनि है।

सा ब्रह्मेति होवाच । ब्रह्मणो वा एतद्विजये महोयध्वमिति ।

ततो ह्येव विदाचकार ब्रह्मेति ॥

—केन० ४ १

यहाँ एतद् मद् से यह ब्रह्म की ही विजय है, न कि अग्नि वायु और इन्द्र की, यह अर्थ व्यंग्य होने से पदगत ध्वनि है।

तद् तद्वन नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् ।

स य एतदेव वेद अग्नि ह्येन सर्वाणि भूतानि सवाध्वति ॥

—केन० ४ ६

यहाँ ✓वन (सम्भवती)+अच से निष्पन्न वन पद ब्रह्म की अतिशय भजनीयता घोषित करता है, अतः पदगत ध्वनि है।

स्वर्गे लोके न भय किञ्चनानि न तत्र त्व न जरया विभेति ।

उभे तीर्त्वाऽज्ञानायापिपासे शोकातिगो भोदते स्वर्गलोके ॥

—कठ० १ १२

यहाँ नचिवेत्ता यमराज का सम्पादित करता हुआ उमके लिए स्वम् पद का प्रयोग कर रहा है। अर्थात् वहाँ स्वर्ग में 'तू' नडा है। जिमका तात्पर्य है कि मृत्यु लोक में ममम अधिन भय तेरा ही बना रहता है। उममें छुटकारा पाना ही यहाँ स्वम् पद के रखने का प्रयाजन है। इस प्रकार स्वम् में चेष्टा अर्थात् उमनी के मनेन या भी भान हा रहा है कि नचिवेता ने यमराज का मनेन करते हुए यह कहा होगा। हमारे अतिरिक्त यहाँ मशर या घुषप् पद का भी प्रयोग किया



जा सकता था, पर त्वम पद में जो सामर्थ्य है वह उनमें न होने से ऋषि द्वारा त्वम् का ही प्रयोग किया गया है। अतः शब्द की महिमा से पदगत वैशिष्ट्य होने से, चमत्कारपूर्ण अर्थ के द्योतन से पदगत ध्वनि है।

एहोहीति तमाहृतय सुवचस सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमान बहन्ति ।

प्रियां वाचमर्भावदन्वयोर्ध्वन्य एष व पुण्य मुकृती ब्रह्मलोक ॥

—मु० १ २ ६

यहाँ एहि एहि पद की द्विरुक्ति अतिशय व्याकुलता को अभिव्यक्त कर रही है, अतः पदगत ध्वनि है।

इसी प्रकार—

अविद्याया बहुधा बतमाना वय कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बाला ।

परकर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुरा क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥

—मु० १ २ ९

यहाँ बाला पद विशिष्टार्थ का व्यञ्जक होने से पदगत ध्वनि है। बाल उमको कहते हैं जिसकी बुद्धि परिपक्व नहीं होती। प्रायः साहित्य में बाल शब्द का प्रयोग अज्ञानी के लिए हुआ है। यहाँ भी इसी प्रकार अभिव्यक्ति होने से पदगत ध्वनि है।

आत्मा वा इदमेक एवाप आसीत् । नान्यत् किञ्चन निष्पत् । स ईक्षत—  
लोकान्मु मुजा इति ।

—ऐत० १ १ १

यह भी पदगत ध्वनि का उदाहरण है। पहले यह संसार एकमात्र आत्मा ही था। यहाँ आसीत् पद का प्रयोग सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व एकमात्र चेतन आत्मा की सत्ता बताने के लिए किया गया है कि इस जगत की उत्पत्ति से पूर्व यह सब कुछ एकमात्र आत्मा (ब्रह्म) ही था, अन्य कोई तत्त्व उस समय न था। यद्यपि आत्मा नित्य होने से, इस समय भी वह सब का कारण होने से, सब में व्याप्त है, पर जैसा शुद्ध स्वरूप उसका पहले था वैसा अब नहीं, अब वह जडात्मिका माया से

मिश्रित है। अतः यहाँ अस्ति का प्रयोग न करके आसीत् का प्रयोग किया गया है, जो कि इस प्रकार ब्रह्म को विजातीय, सजातीय तथा स्वगत भेद से रहित बता रहा है।

### ३ २ ३ वाक्य ध्वनि

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मन ।

न विद्यो न विजानीमो यथेतदनुशिष्यात् ॥

—केन० १ ३

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादपि ।

इति शुभ्रम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचक्षिरे ॥

— केन० १ ४

यहाँ सम्पूर्ण वाक्यार्थ में ब्रह्म जीव की एकता तथा उनका अज्ञेयत्व व्यंग्य है। अर्थात् ब्रह्म के जीव से पृथक् न होने से जीव की अपनी इन्द्रियो का बाह्य वस्तुओं में ही प्रेपण हो सकता है, ब्रह्म में नहीं। अतः चक्षु, वाणी, मन आदि का वहाँ गमन-निषेध बताया गया है। यहाँ पूरे वाक्य से तात्पर्यार्थभूत व्यंग्यार्थ का बोध होने से पूरे वाक्य को ही व्यङ्ग्य माना जा सकता है।

इयोभावा मर्त्यस्य यदन्तर्गतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयति तेज ।

अपि सां प्रीवितमल्पमेव तवैव बाह्यस्तव नृत्यगीते ॥

—कठ० १ २६

इस मन्त्र में तवैव बाह्यस्तव नृत्यगीते इस पूरे वाक्य से सात्त्विक पदार्थों को तुच्छ वताना नचिक्वेता का तात्पर्य है, जो वाच्य न होकर व्यंग्य है।

यही पर, अपि सर्वं जीवितमल्पमेव में अपि इस भाव का व्यङ्ग्य है कि यदि जीवन चिरस्थायी होता तो मनुष्य के तेज को नष्ट करने वाले भोजन किसी प्रकार स्वीकार्य हो भी सकते थे, पर यहाँ तो अग्निदेवता सगुणे न शान्तो व्याधि जंसा हान है। अतः तवैव बाह्यस्तव नृत्यगीते अर्थात् मुझे इनमें से कुछ भी नहीं चाहिए, इस प्रकार की अरुचि सम्पूर्ण वाक्य का तात्पर्यार्थ है।

स होवाचैतद् वै तदक्षर गागि ब्राह्मणा जेसिर्वदन्त्यस्येतमनप्वमहस्वम-  
दीघंमलोहितमस्नेहमच्छापमतमोऽवाच्यनाकाशममगमरत्तमगन्धमधुःखलश्रीवमवा-  
गमनोऽस्तेजस्कमप्राणममुखमगात्रमनन्तरमवाह्यम् न तदस्नाति किञ्चन । न तद्वरनाति  
कश्चन ॥

—वृ० ३ ८ ८

यहा सम्पूर्ण वाक्य मे ब्रह्मा को सबसे पृथक् बताया गया, जिससे  
व्यंग्यार्थ निकला कि ब्रह्मा अज्ञेय है। इस प्रकार वाक्य के वैशिष्ट्य से  
यहा वस्तुध्वनि है।

सा होवाच—ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहू मन्येध्वं पदस्मान्ममकारेण  
मुच्येध्वम् । न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्य जेतेति । ततो ह  
वाचकनव्युपरराम ॥

—वृ० ३ ८ १२

यहा जो ब्राह्मण याज्ञवल्क्य को जीतना चाहते थे और जिन्होंने  
याज्ञवल्क्य का तिरस्कार किया था, गागीं उन्हे याज्ञवल्क्य से हाथ  
जोड़कर छुटकारा पाने को कहती है। हाथ जाड कर छुटकारा पाने से  
व्यंग्य है कि तुम याज्ञवल्क्य से इस बात को क्षमा-याचना करो और  
भविष्य मे किसी का तिरस्कार न करने का वचन करो। यहा सम्पूर्ण  
वाक्य से याज्ञवल्क्य को अज्ञेयता व्यंग्य है।

तिल्लेषु तैल दधनीव सपिराय स्रोतस्वरणीषु चाग्नि ।

एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽस्ती सत्येनैत तपसा योऽनुपश्यति ॥

—श्वे० १-१५

यहा सम्पूर्ण वाक्य से यह व्यंग्य है कि 'वह परमात्म-तत्त्व  
सब के हृदयों मे व्याप्त है, यदि कोई उसको अपने मे ही ढूँढे तो वह  
प्राप्त हो सकता है' अर्थात् आत्मा को प्राप्ति हृदय मे ही है बाहर से  
नहीं।

अग्निर्पद्माभिमध्यते वायुर्पद्माधिच्छ्यते ।

सोमो यत्रातिरिच्यते सत्र सनाप्यते मन ॥

—श्वे० २ ६

यहां प्रत्येक वाक्य से ध्वनि निकल रही है। जैसे—अग्निर्वाग्नि मध्यते से व्यंग्य है कि सर्वप्रथम यज्ञ इत्यादि का अनुष्ठान होता है, उसके बाद, वायुर्वाग्निमध्यते से तात्पर्य निकलता है कि तत्पश्चात् प्राणायाम और तब समाधि होती है, एवम् तदनन्तर महावाक्य का बोध होता है। अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्य तक पहुँचने में व्यंग्य रूप से यहाँ क्रम बताया गया है।

### ३२६ निपात-ध्वनि

केनेपित पतति प्रेषित मन केन प्राणः प्रथम. प्रंति युक्त ।

केनेपितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥

—केन० १. १

यहाँ क उ देवो युनक्ति में क के साथ उ निपात से जिज्ञासा में अत्यधिक प्रबलता द्योतित हो रही है—‘कौन ऐसा देव हो सकता है?’ इस प्रकार उ निपात से अर्थ में चमत्कार एवम् जिज्ञासा की प्रबलता व्यंग्य होने से यहाँ निपात की व्यञ्जकता है।

इह चेदवेदीवथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि ।

भूतेषु भूतेषु विधित्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकाश्मृता भवन्ति ॥

—केन० २. ५

इस मन्त्र में चेत् निपात व्यञ्जक है जिससे प्रतीयमान अर्थ इस प्रकार परिलक्षित है कि ‘ब्रह्म को इसी जन्म में जान लेना ही सबसे बड़ा कर्तव्य है।’ यहाँ दोनों चेत् निपातों से ब्रह्म का ज्ञान कठिन होते हुए भी अवश्य ग्राह्य है, यह वस्तु व्यंग्य है।

स ईक्षत—इमे तु लोकाश्च लोकपालाश्च । अन्नमेभ्यः सृजा इति ।

—ऐत० १. ३ १

यहाँ तु निपात व्यञ्जक है जिससे स्रष्टा की चिन्ता व्यक्त हो रही है कि मैंने इन लोक और लोकपालों की रचना तो कर ली, अब अन्य वस्तुओं की भी स्थापना करनी चाहिए।

यमं तु सन्नन्देषामवेदह देवानां जनिमानि विश्वा ।

शत मा पुर आपसीररक्षन्त्य श्वेनो जवता निरदोषमिति ॥

—ऐत० २. १. ५

यहा तु निपात ऋषि के सामर्थ्य को द्योतित कर रहा है । गर्भे तु गर्भ मे ही मैंने देवताओं के सम्पूर्ण जन्मो को जान लिया था । जन्म लेने के बाद किसी प्रकार की शक्ति को प्राप्त करने से तो साधारण व्यक्ति भी जान गए होंगे या जान सकते हैं, पर मैंने तो गर्भ मे ही इसको जान लिया था । अन्यो की अपेक्षा यह वामदेव की विशिष्ट महिमा को द्योतित कर रहा है । अतः यह भी निपात ध्वनि का ही उदाहरण है ।

यदाऽऽभतस्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्व दीपोपमेनेह युक्त प्रपश्येत् ।

अजं ब्रुवं सर्वतत्त्वविशुद्धं ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपापं ॥

—श्वे० २. १५

यहा तु निपात व्यञ्जक है । इससे आत्मभाव द्वारा ही परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है, अन्य किसी वस्तु से नहीं, यह व्यंग्यार्थ प्रतीति मे आ रहा है ।

स्वभावमेके षड्यो वर्दन्ति काल तयाज्ये परिमुह्यमाना ।

देवस्यैव महिमा तु लोके येनेदं ध्याम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥

—श्वे० ६ १

यहा देवस्यैव महिमा तु लोके मे प्रयुक्त तु निपात व्यञ्जक है, जिससे अर्थापत्ति अलंकार द्वारा व्यक्त है कि यह ईश्वर की ही शक्ति है जो इस प्रकार ब्रह्म-चक्र चला रही है अर्थात् ईश्वर ही सम्पूर्ण विश्व का कारण है ।

### ३.२.७ प्रत्यय-ध्वनि

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्य कर्मभ्य प्रतिधीयते । अथास्यायमितर आत्मा हृतहृत्यो वषोगत प्रेति । स इत प्रयत्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीय जन्म ॥

—ऐत० २ १. ४

इस मन्त्र मे प्रयत् प्र+√इण्+शतृ का रूप है । शतृ प्रत्यय के प्रयोग के कारण जीव के एक शरीर को छोड़ने के साथ-साथ दूसरे शरीर मे प्रविष्ट होने की स्थिति पर बल दिया गया है, अर्थात् एक शरीर से शरीर-त्याग करते ही दूसरी शरीर अपने कर्मों के अनुसार ठीक उसी

प्रकार जन्म ग्रहण करता है जैसे जोक एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती हुई पहले दूसरे स्थान को प्राप्त कर लेती है तब पहला स्थान छोड़ती है। इस प्रकार शत्रन्त प्रयन् पद में यहा व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है।

### ३.२८ प्लुत-ध्वनि

लौकिक साहित्य में साहित्यशास्त्रियों को जो अनेक प्रकार भी व्यञ्जकता प्राप्त होती है, प्रायः वे सभी विधाएँ उपनिषदों में प्राप्त होनी ही हैं। पर उपनिषत्साहित्य में लौकिक साहित्य की अपेक्षा अन्य की भी व्यञ्जकता प्राप्त होती है। कई एक स्थानों पर प्लुतादि द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराना उपनिषत्साहित्य की अपनी विशेषता है। कुछ एक उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

स य एवञ्च । अरमात्सोक्तात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मान-  
मुपसङ्गम्य । एत प्राणमयमात्मानमुपसङ्गम्य । एत मनोमयमात्मानमुपसङ्गम्य ।  
एत विज्ञानमयमात्मानमुपसङ्गम्य । एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्गम्य । इमा-  
स्तोक्ताङ्कामान्नी कामरूप्यनुसवरन् । एतत्साम गायन्नास्ते । हा ३ वु  
हा ३वु हा ३वु ॥

—तं० ३. १०

यहा हा ३ वु में प्लुत से विस्मयातिशय व्यंग्य है।

स होवाचानातशत्रु एतावान् ३ इति । एतावदीति ।

नंतरावता विदित भवतीति ।

स होवाच गार्ग्य उप त्वाज्यानीति ॥

—वृ० २. १ १४

—अज्ञातशत्रु बोला, 'क्या इतना ही है ?' अर्थात् क्या तुम्हें इतना ही ब्रह्म विदित है या इससे कुछ अधिक ?

यहा एतावान् ३ में प्लुत से व्यंग्य है कि जो कुछ तुम जानते हो यह तुच्छ है। इस प्रकार यहा प्लुत के कारण व्यंग्य है।

तान् होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो यो ब्रह्मिष्ठ स एता गा उदजता-  
मिति । ...स ह्येन पप्रच्छ—त्व नु यत् नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसौ ३ इति ॥

—वृ० ३. १. २

उसने उनसे कहा—‘सूज्य ब्राह्मणगण ! जो ब्रह्मिष्ठ हो वह इन गौश्रो को ले जाय ।’ किन्तु उन ब्राह्मणों का साहस न हुआ । पर जब याज्ञवल्क्य अपने शिष्य में गौश्रो को खोलने के लिए कहता है तो ब्राह्मण कुपित होते हैं और याज्ञवल्क्य से पूछते हैं—‘याज्ञवल्क्य ! हम सब में क्या तुम ही ब्रह्मिष्ठ हो ? इस प्रकार यहा ब्रह्मिष्ठोऽसी३ में अंसि पद में प्लुत भर्त्सना को चोतित करता है कि ‘याज्ञवल्क्य तुम्हें धिक्कार है जो तुम इतने अहंकार के साथ इतने बड़े ऋषियों में अपने को ब्रह्मिष्ठ खुद समझ बैठे हो ।’ इस प्रकार मध्यम पुरुष अंसि को प्लुत में प्रयुक्त करके भर्त्सना व्यंग्य है ।

## ४. १. रस-सिद्धान्त

रस शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) पदार्थों का रस—अम्ल, तिक्त आदि (२) आयुर्वेद का रस, (३) साहित्य का रस, (४) मोक्ष या भक्ति का रस। उपनिषदों में रस शब्द ईश्वर या ब्रह्म के लिए भी प्रयुक्त हुआ है—'रसो वै स । रस होवाप लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।' ऐसा प्रतीत होता है कि उसके समानान्तर यह शब्द काव्य में आत्मानन्द के रूप में प्रयुक्त होने लगा। जिस प्रकार ब्रह्म, सत, चित्, आनन्द है, इन तीनों का एकीभाव है, ठीक इसी प्रकार काव्य में वही ब्रह्मानुभव रस है।

रस सिद्धान्त के आदिप्रवर्तक भरत मुनि माने जाते हैं। उनके नाट्य-शास्त्र में विभायानुभावध्यभिचारिसयोगाद् रसनिष्पत्ति<sup>१</sup> इस रस-विषयकसूत्र का उल्लेख मिलता है। बादमें भट्टलालनट, श्रीशंकर, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ये चार आचार्य भरतमूल के प्रसिद्ध व्याख्याकार हुए हैं। इन्होंने मूल में प्रयुक्त सयोग तथा निष्पत्ति शब्दों की अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार व्याख्या की है। इन चारों में आचार्य अभिनवगुप्त का मत सर्वश्रेष्ठ तथा निर्दुष्ट स्थिर हुआ। यही कारण है कि उत्तरवर्ती साहित्यशास्त्रियों ने उन्हीं के मत को स्वीकार किया। आचार्य मम्मट ने अभिनवगुप्त के मत का अनुसरण करते हुए रस की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की—

कारणायथ कार्याणि सहकारिणि यानि च ।

रत्यादे र्थापिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो ॥

१. तं० ब्रह्मानन्दवत्पी ७

२. ना० शा० काव्यमान्वागुचर, पृ० ६३



विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।

द्वयत् स तैर्विभावाद्यै स्याद्विभावो रसः स्मृतः ॥<sup>१</sup>

इसी के अनुरूप आचार्य विश्वनाथ रस की परिभाषा देते हैं—

विभावेनानुभावेन द्वयत् सचारिणा तथा ।

रसनामेति रत्यादि स्याद्विभाव सचेतसाम् ॥<sup>२</sup>

रसगगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने रस के स्वरूप को विशद करते हुए रसविषयक ११ मतों का उल्लेख किया है। परन्तु उनको अस्वीकार करते हुए उन्होंने रसविषयक अपने मन्तव्य को इस प्रकार स्थिर किया—

समुचितमलितसन्निवेशादृशः काव्येन समर्पितं सहृदयहृदय प्रविष्टं-  
स्तदीयसहृदयतामहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिर-  
सौकृतविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यं शक्यन्तत्वादिभिरालम्बनकारणैः,  
चन्द्रिकादिभिर्द्वेषनकारणं, अधृषातादिभिर्कार्यै, चिन्तादिभिर् सहकारिभिरथ,  
समूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिवर्तितानन्दशावरणमानेनात एव  
प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपान-  
न्देन सह गोचरीक्रियमाण प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः ॥<sup>३</sup>

पण्डितराज का रसविषयक यह विवेचन भी अभिनवगुप्त के मत पर आधृत है।

वास्तव में देखा जाए तो आचार्य अभिनवगुप्त के बाद रस की कोई नवीन व्याख्या नहीं हुई। प्रकारान्तर से सभी आचार्य उन्हीं के मत को अपने-अपने शब्दों में कहते आए। इतना प्रथम्य है कि भरतमुनि से पण्डितराज जगन्नाथ तक रस क्या है, इस विषय को लेकर

१ का० प्र०, ४ २७-२८

२ सा० द०, ३ १

३. २० १०, चौखम्बा, पृ० ८०

नोकझोक अवश्य होती रही। आचार्य विश्वनाथ रस के काव्यात्मत्व के प्रबल समर्थक हैं। वे रस के अतिरिक्त यहाँ तक कि ध्वनि को भी काव्य की आत्मा स्वीकार करने को तैयार नहीं। अत एव रसध्वनि से तो उन्हें कोई असहमति नहीं, परन्तु वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि की काव्यात्मकता पर उन्हें आपत्ति है। अत एव उनका परिनिष्ठित काव्य-लक्षण है—

वाक्य रसात्मक काव्यम् ।<sup>१</sup>

## ४. २. रस-विरलेपण

रस के अन्तर्गत न केवल शृंगार, करुण और वीर आदि रसों का ही समावेश है, अपितु रस शब्द से भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति, भावशबलता का भी ग्रहण होता है—

रसमावी तदाभासी भावस्य प्रशमोदयो ।  
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद् रसाः ॥<sup>१</sup>

रसों की संख्या के विषय में आचार्यों में मतभेद है। भरतमुनि ने आठ रस स्वीकार किए हैं—

शृङ्गारहास्यकरुणा शौद्रवीरभयानन्ता ।  
बीमात्ताद्भुतसती चेत्यष्टौ नाद्वये रसाः स्मृता ॥<sup>२</sup>

आचार्य मम्मट ने—

निर्वेदस्यापिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।<sup>३</sup>

कहकर नवम शान्तरस भी स्वीकार किया है।

वाद में आचार्यों ने वात्सल्य, भक्ति आदि अन्य रस भी स्वीकार किए और उनकी संख्या में वृद्धि होती गई।

जहां एक और रस की संख्या का विस्तार होता गया, वहां कुछ आचार्यों ने उसके सकोच की ओर भी ध्यान दिया। भोजराज ने—

रसोऽभिमानोऽहकारः शृङ्गार इति धीयते,  
योऽयंस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयमस्तुते ।

१. सा० ६०, ३. २१६

२. ना० शा०, ६. १६

३. ना० प्र०, ४. ३५

विशिष्टादृष्टजन्माय जग्मिनामन्तरात्मसु ।

आत्मा सम्पगुणोद्भूतेरेको हेतु प्रकाशते ॥<sup>१</sup>

यह कहकर शृंगार को ही मुख्य रस माना और अन्य रसों को उसका ही विस्तार । इसी प्रकार विश्वनाथ के पूर्वज नारायण ने 'अद्भुत' को ही प्रधान रस माना है ।<sup>१</sup> आचार्य अभिनव गुप्त ने मोक्ष के परम पुरपाथ होने के कारण शान्त रस को मुख्य रस स्वीकार किया है ।

उपनिषदों का विषय ब्रह्मज्ञान तथा मोक्ष है । अतः इनमें प्रमुख रूप से शान्त रस है । परन्तु ब्रह्म की अज्ञेयता, सर्वव्यापिता, शक्तिमत्ता, विलक्षणता, सर्वनियंत्रित्व आदि के विचित्र रूप से प्रतिपादन के कारण उपनिषदों में अद्भुत रस भी आ गया है । भग रूप में शृंगार भी कही कही दिखाई देता है । ऋषि की अग्नि, सूर्य आदि देवताओं के प्रति रति के दर्शन से, रस के अतिरिक्त उपनिषदों में भाव भी देखने में आता है ।

### ४ २ १ शान्त रस

साहित्यशास्त्रियों के रस की दृष्टि से उपनिषदों में शान्त रस का विश्लेषण नहीं किया जा सकता, पर मोक्ष विषयक तथा आत्म-विषयक विवेचन होने के कारण उपनिषदों में शान्त रस की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है ।

इस विषय में कुछ एक उपनिषद् दर्शनीय हैं ।

कठोपनिषद् के ऋषि ने यम और नचिवेता के सम्वाद से ससार की अनित्यता तथा ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता का चित्रण किया है । नचिवेता के ये वचन उद्दीपन विभाव के रूप में बितने उपयुक्त हैं—

इयो भावा मार्यस्य ध्वन्तकंतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेज ।

अपि सर्वे जीविनमल्पमेव तद्वेद्यं धाहास्तव नृत्यगीते ॥

—कठ० १ २६

१. शृङ्गारप्रकाश, काव्यमाला, ५ १-२, पृ० ४७४

२ सा० ६०, (तालिसाम सप्ता०) पृ० ४६

यमराज नचिकेता को बार-बार प्रलोभन देता हुआ कहता है—

शताग्र्यं पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।  
भूमेर्महदामृतं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावद्विच्छसि ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वर वृणीष्व वित्तं चिरजीविका च ।  
महामूर्धो नचिकेतस्त्वमेधि कामाना त्वा कामभाजं करोमि ॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामाश्छन्दत प्रार्थयस्व ।  
इमा शमा सरथाः सतूर्पा नहीदृशा लभन्तीया मनुष्यं ।  
आभिर्भङ्गप्रत्ताभि परिचारयस्व . . . ॥

—कठ० १ २३-२५

परन्तु नचिकेता पर उसके इस प्रलोभन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वह जानता है कि ये सभी पदार्थ नश्वर हैं। वह कहता है—

अज्ञोपेताममृतानामुपेत्य जीर्णमर्त्यं बधस्य प्रजानन् ।  
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥

—कठ० १ २८

नचिकेता तो अपने तृतीय वर पर ही दृढ़ है कि उसे मृत्यु का रहस्य ज्ञात हो और शाश्वत ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो।

इस प्रकार यहाँ सांसारिक पदार्थों की क्षणभंगुरता के ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद भाव की परिपुष्टि होने के कारण शान्त रस है। नचिकेता की तृष्णा का क्षय हो गया है। उसमें शम का प्रादुर्भाव हो गया है। वह ब्रह्मानुभूति तथा मोक्ष का अधिकारी है। अतः यमराज उसे मृत्यु का रहस्य समझाता है। यह सम्पूर्ण प्रसंग शान्त रस का कितना उपयुक्त उदाहरण है।

इस सन्दर्भ में रौद्र का भी बीच में उन्मेष है, जबकि नचिकेता के पिता उस पर रष्ट होकर कहते हैं कि 'मैं तुझे यमराज को देता हूँ।' परन्तु यह क्रोध केवल उद्वुद्ध मात्र है और मुख्य रस शान्त का अंग है, उसका पोषक है। इस क्रोध का स्वतन्त्र परिपोष नहीं हुआ है।

इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में भी याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी सम्वाद में शान्त रस की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। जैसे—

न वा अरे पुत्राणा कामाय पुत्रा प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्रा प्रिया भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्त प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्त प्रिय भवति । न वा अरे ब्रह्मण कामाय ब्रह्म प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रिय भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्र प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्र प्रिय भवति । न वा अरे लोकाना कामाय लोका प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोका प्रिया भवन्ति ।

—वृ० २ ४ ५

इस मन्त्र में सासारिक पदार्थों की तुच्छता बताकर आत्मतत्त्व की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ भी वित्त, माता, पुत्र आदि सभी लौकिक पदार्थों की हेयता प्रदर्शित करके निर्वेद या तृष्णा-क्षयमूलक शान्त का ही परिपाय है।

यहाँ तो दिङ्मात्र निर्देश के लिए एक दो उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण उपनिषद्-साहित्य में शान्त रस स्रक्-सूत्रन्याय से अनुस्यूत है।

४२२. अदभुत रस

केनेपित पतति प्रेषित मन,  
केन प्राण प्रथम प्रेति युक्त ।  
केनेषिता वाचमिमा वदन्ति ।  
षसु धोत्र क उ देवो मुनश्चित् ॥

—केन० १ १

यहाँ उपनिषदों का ऋषि आश्चर्य में पड़ा है। वह इस रहस्य को खोलना चाहता है कि यह मन इष्ट वस्तु के प्रति किससे प्रेरित होकर जाता है? मुख्य प्राण किससे जोड़ा हुआ विशेषता से चलता है? इस वाणी को किसकी प्रेरणा से लोग बोलते हैं? और, आख को कौन देव कार्यों में लगाता है?

यह रहस्य और अधिक गहरा हो जाता है, जब ऋषि कहता है—

न तत्र षसुर्गच्छति न वागच्छति नो मन,  
न विद्यो न विज्ञानोमो षर्षंतदनुशिष्यात् ॥

अन्यदेव तद् विदितादयो अविदितादधि ।

..

॥

—केन० १ ३-४

—उस रहस्यमय तत्त्व तक आख नहीं जाती, न वाणी जाती है और न मन जाता है । कोई किस प्रकार इसका उपदेश करे ? हम नहीं जानते, नहीं समझते हैं क्योंकि वह जाने हुए से निराला ही है और अज्ञात से नी ऊपर तथा भिन्न है ।

उस परम रहस्य को उद्घाटित करना इसलिए भी कठिन है कि यह,

धोत्रस्य धोत्र मनसो मनो मद, धात्रो ह वाच स उ प्राणस्य प्राण ।

मनुष्यस्य . . . . . ॥

—केन० १. २

—कान का कान है, मन का मन है । निश्चय से ही वाणी की वाणी है, और वह प्राण का प्राण है, आँख का आँख है ।

उसे कैसे जाना जाए ?

आत्मतत्त्व की इन्द्रियातीत सूक्ष्मता का निर्देश करने के लिए ऋषि ने यहाँ विस्मय के भाव को उद्बुद्ध कर दिया है । वह तत्त्व कैसा है, जिसे हम देख नहीं सकते, सुन नहीं सकते, परन्तु फिर भी यह तत्त्व हमारे मे समाया है । इस प्रकार आत्मतत्त्व की श्रोत्रातीतता, प्राणातीतता आदि के वर्णन से यहाँ अद्भुत रस का परम परिपोष हुआ है ।

इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद् मे भी सूर्य प्राण आदि के वर्णन मे सर्वत्र अद्भुत रस की अभिव्यक्ति होती है । जैसे,

विद्यत्पृथ हृदि जातवेदसं परायण ज्योतिरेक तपन्तम् ।

सहस्ररश्मि शतधा वर्तमान प्राण प्रजालामुदगत्येव सूर्ये ॥

—प्रश्न० १ ८

तथा,

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायते ।

बुभ्य प्राण प्रजास्त्विमा बसि हरन्ति य प्राणं प्रतितिष्ठन्ति ॥

—प्रश्न० २. ७

### ४. ३. भाव

रस के अतिरिक्त उपनिषत्-साहित्य में 'भाव' की भी सुन्दर निष्पत्ति दिखाई देती है। आचार्य विश्वनाथ ने प्रधानभूत सचारी, देवादिविषयक रति तथा उद्बुद्धमात्र स्थायी—इन तीनों को भाव की सजा दी है।<sup>१</sup>

इस दृष्टि में उपनिषदों में ऋषि की देवादिविषयक रति के रूप में भाव के दर्शन होते हैं। जैसे—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव धनुनानि विद्वान् ।

युयोध्यस्मग्जुहुराणमेनो भ्रूयिष्ठा ते तम उक्ति विधेम ॥

—ईश० १८

इस मन्त्र में उपनिषद् के ऋषि की अग्निविषयक रति का वर्णन होने के कारण भाव है।

स तग्निग्नेवाऽऽकृते म्निप्रभाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम् ।

—वेन० ३ १२

इस मन्त्र में उमा के लावण्य के वर्णन से रति का उद्बोध मात्र होने लगता है, परन्तु आगे विभावानुभावादि की योजना न होने से उमका परिपोष नहीं हुआ। इस प्रकार यहाँ केवल रति स्थायी भाव के आलम्बन उमा के वर्णन द्वारा रति का उद्बोध मात्र होने के कारण भाव है।

अथ हैन मार्गो वाचकनवी पप्रच्छ—पात्रवल्चेति होवाच । पविदं सर्वमप्स्योन च प्रोत च, कस्मिन्नु छत्वाप भोताश्च प्रोताश्चेति ? वाचो मार्गोति । कस्मिन्नु छत्तु वापुरोताश्च प्रोताश्चेति ? अन्तरिक्षलोकेषु मार्गोति । कस्मिन्नु छत्वन्तरिक्षलोकाश्च प्रोताश्चेति ? गन्धर्वलोकेषु मार्गोति । कस्मिन्नु छत्तु गन्धर्व-

१ सञ्चारिण प्रधानानि देवादिविषया रति ।

उद्बुद्धमात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥



सोका ओनास्य प्रोताश्चेति ? आदित्यलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु छत्वादित्यलोका  
ओतास्य प्रोताश्चेति ? चन्द्रलोकेषु गार्गीति । ... कस्मिन्नु एतु प्रजापतिलोका  
ओतास्य प्रोताश्चेति ? ब्रह्मलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु एतु ब्रह्मलोका ओनास्य  
प्रोताश्चेति ? स होवाच गार्गी । मासतिप्राशीर्मा ते सूर्धा व्यपन्तदनतिप्ररन्या वी  
देयनामतिपृच्छति । गार्गी । मासतिप्राशीरिति । ... ॥

—बृह० ३ ६-१

यहा गार्गी का वितर्क कि अन्ततोगत्वा यह सब किसमे ओत प्रोत  
है, इन सब का अविच्छाता कौन है ? यह प्रधान रूप से अजित है ।  
अतः यहा बिनकंभाव की सुन्दर अभिव्यक्ति हो रही है ।

इसी प्रकार,

युजते मन उत युजते धियो विमा विप्रस्य बृहते विपरिवत ।

वि होत्रा यद्ये बयुनाविदेक इग्मही देवस्य सवितुः परिप्लुतिः ॥

—श्वे० २. ४

इस मन्त्र मे ऋषि की सवितृविषयक रति व्यक्त होने के कारण  
भाव है ।

तथा,

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराशपापकारिणी ।

तया नस्तनुजा शनमया गिरिशन्ताभिवाकशीहि ॥

—श्वे० ३. ५

इस मन्त्र मे भी रुद्रविषयक रति की अभिव्यक्ति से भाव है ।

इसी प्रकार श्वे० २ १७, ३ १ तथा ३ ४ मे भी देव-विषयक  
रति हाने मे भाव माना जा सकता है ।

उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि उपनिषदो में शान्त एव  
अद्भुत रस तथा भाव पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान हैं ।

## ५.१ श्रीचिंत्य का परिचय

श्रीचिंत्य का विचार भरतमुनि के समय से ही प्रचलित था, पर काव्यशास्त्र में सिद्धान्त के रूप से उसकी स्थापना आचार्य क्षेमेन्द्र ने की। श्रीचिंत्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—

उचित प्राहुराचार्या सदश किल यस्य यत् ।

उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥

—श्री० वि० च० ७

जो जिसके सदृश है, अनुकूल है, वह उचित है। गले में हार, कटि में मेखला, हाथ में ककण उचित है, क्योंकि हार का उचित स्थान गला मेखला का कटि तथा ककण का हाथ है। ये आभूषण उचित स्थान पर धारण किए हुए ही शोभावर्धक होते हैं। इनके धारण में व्यतिश्रम कर देने पर अनौचित्य हो जाता है। हार को कटि में, ककण को कर्ण में तथा मेखला को गले में धारण करने से अनौचित्य के कारण उपहास होता है। जो वस्तु जिस स्थान पर उचित है उसे उसी स्थान पर रखने से मुन्दरता घाती है। स्थान-व्यतिश्रम से वह भूषा के बदले दोष बन जाती है। जैसे क्षेमेन्द्र कहते हैं—

कण्ठे मेखलाया नितम्बजसके तारेण हारेण वा

पाशो नूपुरघण्टेन चरणे केयूरपाशेन वा ।

शौच्येण प्रणते रिपो कृष्णया नायान्ति के हास्यताम्

श्रीचित्येन विना शब्दं प्रतनुते नातट्टितिनो गुणा ॥

—श्री० वि० च० ६

जो बात कटक घुण्टनादि लौकिक अलंकारों के श्रीचिंत्य के सम्यग्ध में है, वही काव्य में गुण, अलंकार, रीति आदि काव्यांगों के

## ५.२. औचित्य के भेद

औचित्य काव्य में सर्वत्र व्याप्त है। जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने पद, वाक्य, प्रबन्ध, उपसर्ग, निपात आदि की व्यञ्जकता के आधार पर ध्वनि के भेद किए हैं, उसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने भी औचित्य के अनेक भेद प्रदर्शित किए हैं। जैसे—

(१) पदौचित्य (२) वाक्यौचित्य (३) प्रबन्धौचित्य  
(४) कारकौचित्य (५) लिंगौचित्य (६) वचनौचित्य (७) विशेषणौ-  
चित्य इत्यादि ।

क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्ती आचार्यों ने अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि और रस के रूप में जिस काव्य-सौन्दर्य का विवेचन किया था, उसे इन्होंने औचित्य के विभिन्न भेदों के अन्तर्गत समाहृत कर लिया तथा औचित्य को व्यापक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया। जैसा उन्होंने कहा—

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणैःश्लक्ष्णै रसे ।  
त्रियायां कारके त्रिगे वचने च विशेषणे ॥  
उपसर्गे निपाते च काले देशे कृते व्रते ।  
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसपदे ॥  
प्रतिभाषामवस्थायाम् विचारे नाम्न्येषामिवि ।  
काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं ध्यापि जीवितम् ॥

—श्री० वि० च० ८-१०

भारतीय वाङ्मय के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि औचित्य की ओर केवल उत्तरवर्ती कवियों ने ही ध्यान दिया हो ऐसी बात नहीं, अपितु वैदिक ऋषियों तथा उपनिषद्वादीन ऋषियों ने भी इस दिशा में पूर्ण ध्यान दिया। उनकी रचनाओं में स्थान स्थान पर इन नियमों का पूरा पालन किया गया ताकि वही पर अनौचित्य की गंध भी न आने पाए। इस दिशा में उपनिषदों के अध्ययन में जो देयने में आया, उससे इस तथ्य की पूर्णतः पुष्टि होती है। उपनिषद्वादीन ऋषियों ने

किस प्रकार औचित्य का पालन किया, इसके कतिपय उदाहरण आगे प्रस्तुत हैं ।

५.२ १ पद-घोचिरय

केनेपित पतनि प्रेषित मन केन प्राण प्रथम प्रति युक्त ।

केनेपिता वाचम् इमाम् वदन्ति चक्षु श्रोत्र क उ देवो पुनरिति ॥

—केन० १ १

इस मन्त्र में केनेपिता वाचम् इमाम् वदन्ति वाक्य में इमाम् वाचम् में इमाम् पद के बिना भी अर्थ ज्ञात हो सकता था कि 'किसकी प्रेरणा से हम वाणी बोलते हैं ?' किन्तु इमाम् पद ने आकर एक अन्य ही चारुता उत्पन्न करते हुए वाणी पर चार चाद लगा दिए, और वाणी साधारण न रहकर अनेकविध गुणयुक्त हो गई, तथा पशुपक्षियों की वाणी से भी उमका पार्थक्य हो गया । ऋषि द्वारा प्रयुक्त यह पद पूर्णरूपेण औचित्य का निर्वहण करता हुआ सहृदयों के हृदयों को आनन्दित कर रहा है ।

इसी प्रकार,

तस्मै तृण निदधायेतद्देहि । तदुपप्रेषाय सर्वज्वेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निवृत्ते नैतदशक विज्ञातु यदेतच्छमिति ।

—केन० ३ ६

यहां यक्ष द्वारा अग्नि की परीक्षा का वर्णन है । यक्ष के पूछे जाने पर अग्नि पहले काफी गप्प मार चुकी है कि मैं जातवेदा अर्थात् 'न केवल भूलोक के अपितु अन्तरिक्ष के भी सभी पदार्थों को जलाने में समर्थ हूँ ।' यक्ष उसकी परीक्षा लेता है, उसके सामने तृण फेंकता है । यहा तृण शब्द भिन्न तुच्छ हो पर अग्नि को खूब मिट्टी पलीत करने में समर्थ हो रहा है, तथा अग्नि के शत्रुओं को प्रसन्न करने में भी समर्थ है । ऋषि यद्यपि काष्ठम इत्यादि का भी प्रयोग कर सकता था, पर उसे अग्नि की अनिश्चयहीनता दिखलाना इष्ट था, अतः अग्नि के सामने तिनका मात्र ही फेंका । पर अग्नि की सामर्थ्य का क्या कहना ! वह उसके पाप जाकर भी उसको नहीं जला सकी । इस प्रकार तृण पद यहा अग्नि के असामर्थ्य को प्रकट करने में अपना औचित्य प्रदर्शित कर पाठकों को भी आनन्दित कर रहा है ।

एवमेव,

स तस्मिन्नेवाऽऽकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानाम् उमां हैमवतीम्  
तां होवाच किमेतच्छमिति ॥

—केन० ३. १२

यहा हिमालय की पुत्री के लिए हैमवती पद का प्रयोग सचमुच हिमालय को भी आनन्दित करने वाला है। 'पर्वतपुत्री' जैसे शब्दों का प्रयोग यहा हो सकता था, पर हैमवती पद ने हिमालय की पुत्री के साथ स्वर्णमयी का जा अर्थ प्रदान किया, वह विलक्षणता को दिखा रहा है।

और भी,

तद्व तद्वन नाम तद्वनमित्पुपासितप्पम् । स य एतदेव वेदाभि ह्येन सर्वाणि  
मूतानि सवाद्यन्ति ॥

—केन० ४ ६

यहा वन पद का प्रयोग ऋषि द्वारा विशिष्ट चमत्कार को पैदा करने के हेतु ही प्रयुक्त किया गया है। पाणिनि के अनुसार ✓वन् सभक्तौ धातु से वन की निष्पत्ति है। ऋषि द्वारा यहा ✓भञ् धातु का प्रयोग भी किया जा सकता था। किन्तु, भञ् धातु में भक्ति-भाव का वह औचित्य विद्यमान नहीं जो वन धातु के प्रयोग में आता है।

स्वर्गे लोके न भय बिचिन्तास्ति न तत्र त्व न जरया विभेति ।

उभे लीर्त्वाशनापापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥

—यठ० १ १२

यहा नचिन्ता भूलोक की अपेक्षा स्वर्गलोक की विशेषता बताते-वताते स्वर्ग में जहा अनेक पदार्थों का निषेध करता है, वहा यम का भी निषेध करता है कि 'वहा तू (मृत्यु) भी नहीं'। कि तु, यम का निषेध वह 'भवान्' इत्यादि पदा से भी कर सकता था। पर उसने त्वम् पद का ही प्रयोग किया जो कि यमराज की निरखुशता का स्पष्ट रूप से बताता हुआ सम्पूर्ण मन्त्र में चमत्कृति पैदा कर रहा है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में भय उत्पन्न करने वाले यम की त्वम् पद से कहने पर चमत्कारपूर्ण औचित्य से नचिन्ता अपने भाव को व्यक्त करने में सफल हो जाता है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयं घोरा पण्डितमन्यमाना ।

दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ॥

—कठ० २ ५

यहाँ अज्ञानियों के विषय में ऋषि अपने विचार प्रकट करता है। अज्ञानी अपने अज्ञान को छिपाने के लिए किस प्रकार दनदनाते हैं, इसकी अभिव्यक्ति के लिए ऋषि ने दन्द्रम्यमाणा पद का प्रयोग किया। चाहे वे कितने ही दनदनाएँ, पर ऋषि द्वारा प्रयुक्त यह पद उनको मूर्खता प्रकट कर, सहृदयों के हृदय में जो चमत्कृति पैदा कर रहा है उससे कवि का यह प्रयोग सर्वथा औचित्य का निर्वाह कर रहा है।

एकैक जाल बहुधा विकुर्वन्स्मिक्षेत्रे सहस्रत्येष देव ।

भूपः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुर्वते भूहातया ॥

—श्वे० ५ ३

यहाँ ऋषि ने जिस चतुराई से जाल शब्द का प्रयोग किया उससे केवल पाठक ही नहीं, अपितु अनेक टीकाकार भी अनेकविध भाष्य करने के जजाल में फँसे हुए दिखाई देते हैं। सचमुच जाल जब पानी में फँका जाता है, तो मछलियों को क्या पता कि यह हमें फँसाने के लिए है। वे तो उसमें बन्ध हुए लोहे के गोत्रों को अपना खाद्य समझती हैं और झट से उस ओर दौड़कर उसमें फँस जाती हैं। इसी प्रकार यह सत्सार—मायाजाल—भी सम्पूर्ण प्राणियों को जिस चतुराई के साथ फँसाता है, उसे व्यक्त करने के लिए ऋषि द्वारा प्रयुक्त यह पद सर्वथा औचित्य का निर्वाह करता हुआ इस मन्त्र में चमत्कृति उत्पन्न कर रहा है।

### ५ २ २ वाक्य-औचित्य

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयं घोरा पण्डितमन्यमाना ।

दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ॥

—कठ० २ ५

यहाँ अविद्या में विचरण करने वाले अज्ञानियों द्वारा अपने को ज्ञानी समझ कर दूसरों को उपदेश दिए जाने की स्थिति का वर्णन करते हुए ऋषि ने दोनों के लिए बहुत उचित ढंग से अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा वाक्य का प्रयोग किया है। औचित्य तो यही है कि कहीं चौराहे पर भीड़-

भडाके के बीच एक अन्धा यदि दूसरे अन्धे का हाथ पकड़कर पार कराने का दम्भ भरे तो क्षण भर में उन दोनों की क्या स्थिति होगी ? यह बात वही उपस्थित जनसमुदाय से छिपी न रहेगी । इसी प्रकार अज्ञानियों द्वारा अज्ञानी जनता को सही मार्ग पर ले जाने का दम्भ भरने से दोनों की स्थिति क्या होगी ? उसका सुन्दर चिह्न ऋषि ने उचित रूप में यहाँ खींचा है, जो कि पूर्णतः चमत्कृत पैदा करता हुआ मन्त्र को सहृदयों के हृदय का हार बना रहा है ।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

ध्रुस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पयस्तत कवयो वदन्ति ॥

—श्लो० ३ १४

यहाँ ऋषि प्रतिपल अज्ञान में जागकर ज्ञान की ओर उन्मुख होने के माय माय ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग की स्थिति का भी वर्णन कर रहा है । ऋषि ने बड़ी सूझबूझ से उम मार्ग को छूरे की धार कहा है । वह भी निशिता अर्थात् तेज छूरे की धार । वैसे तो छूरे की माधारण धार पर चलना ही कठिन है, उम पर भी वह तेज हो तो उसका कहना ही क्या ? इसी प्रकार उस मार्ग पर जाना तो दूर रहा, सुनते ही कितने तो भयभीत हो जायेंगे । पर टरने की कोई बात नहीं । ऋषि ने बड़े ही औचित्य के साथ इसका निर्वाह किया कि तेज छूरे की धार के समान कठिन होने पर भी उम मार्ग पर गमन किया जा सकता है । पर कब ? यदि कोई मोते-जागते उम पर चलने का अभ्यास करे । जिन्होंने अभ्यास किया है वे छूरे की पैनी धार पर भी बड़ी सरलता से चन पड़ते हैं । इस प्रकार ऋषि द्वारा प्रयुक्त वाक्य साधकों को उस कठिन मार्ग की ओर प्रेरित करता हुआ यहाँ चमत्कृत उत्पन्न कर रहा है । यही यहाँ औचित्य है, जो कि सम्पूर्ण वाक्य में प्रोक्त प्रोक्त है ।

### ५.२ ३. असकार-औचित्य

अनुपम्य यथा पूर्वं प्रतिपम्य तथाऽपरे ।

सत्यमिदं मयं पच्यते सत्यमिवाजायते पुन ॥

—श्लो० १ ६

यहाँ मयं उपमेय तथा सत्य उपमान है । उपमेय-उपमानभाव से ऋषि द्वारा दोगों का साम्य जिन औचित्य के माध्य दिग्गया गया,

तथा उससे जो मनुष्य की विनाश क्षोभता का ज्ञान हुआ, वह एक विचित्रता लिए हुए है। दैनंदिन व्यवहार में आने वाले सत्य की उत्पत्ति तथा विनाश से मनुष्य की उत्पत्ति तथा विनाश को ऋषि द्वारा किस अनोखे ढंग से समझाया गया है। जगलो में रहने वाला ऋषि इसी प्रकार के उपमान उपस्थित कर सकता था। यदि वह अन्य उपमान उपस्थित करता तो वहा वह औचित्य न रहता।

इसी प्रकार,

यस्य ब्रह्म च क्षत न उभे भवत ओदन ।

मृत्युर्यस्योपसेवन क इत्या वेद यत्र स ॥

—कठ० २ २५

यहा ऋषि, परमात्मा की शक्ति के वर्णन में जिस औचित्य से ब्रह्म और ध्व के साथ ओदन और मृत्यु के उपसेवन की उपमानता का वर्णन करता है, उससे स्वभावतः मन्त्रार्थ में चमत्कृति पैदा हो रही है। सम्पूर्ण धर्मों के आश्रय ब्राह्मण, और सारे विश्व के रक्षक क्षत्रिय, दोनों जिसके लिए ओदन अर्थात् पके हुए चावलो के समान है। इतना ही नहीं सारे समार को भयभीत कर देने वाली मृत्यु भी जिसके लिए शाकादि के समान है, ऐसा वह तत्त्व है। जिन्होंने दाल के साथ भात को खाया है वे अनायास ही समझ गए होंगे कि दाल-भात को खाने में व्यक्ति को तनिक भी कठिनाई नहीं पड़ती। वह जिस आनन्द तथा मरलता से उसे खाता है उसके आनन्द को दाल भात को खानेवाला ही जानता है। ऋषि ने अपने जीवन में ऐसा अनुभव न जाने कितनी बार किया होगा, माय ही अन्य व्यक्तियाँ ने भी। पर ऋषि की उस नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा द्वारा उनका उपयोग यहा ब्रह्म की शक्ति के प्रदर्शन में जिस विचित्रता के साथ हुआ है वह विचित्रता ऋषि के इस उपमा-औचित्य को दाद देती है।

अगुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा

सदा जनानां हृदये समिपिष्ट ।

त स्याच्छरीरात्प्रवृहेःसंजादिवेपीका धर्मण

त विद्याच्छुषममृत त विद्याच्छुषममृतमिति ॥



यहां जीव के हृदय में स्थित अगुष्ठमात्र अन्तरात्मा को हृद्देश से पृथक् करते के लिए जिम ढग में उपमालवार का सहारा लिया गया, वह एक ऋषि के लिए उचित है। मूँज से सीक को जिन्होंने पृथक् होते देखा होगा वे समझ गए होंगे कि यद्यपि मूँज सीक पर चिपकी रहती है, तथापि जब उसका प्रयत्न कर लिया जाता है तो सीक का वह शुद्ध रूप सामने आ जाता है। इसी प्रकार वह अन्तरात्मा शरीर से सम्बन्धित होता हुआ भी मरना से पृथक् किया जाता है। इस प्रकार सीक और मूँज की उपमानता का औचित्य इस मन्त्र में प्राण फूँक रहा है।

अरा इव नाभो प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

ऋचो यजूषि सामानि यज्ञ क्षत्र ब्रह्म च ।

—प्रश्न० २ ६

आज के युग में भले ही यह बात अटपटी लगे कि एक बवि ढग प्रकार बेलगाड़ी के अगो के उपमेय-उपमान भावों को ग्रहण करके पाठकों का कोई वस्तु समझाए। पर उम समय का ऋषि जब न मोटर थी न कार, यदि नित्यप्रति, सभी के जीवन में प्रयुक्त होने वाली बेलगाड़ी के अगो द्वारा प्राण तथा अन्य वस्तुओं के अगागिभाव को समझाता हुआ दीव्यता है तो वह औचित्य ही है। नाभि में अरे जिस ढग में जुड़े रहते हैं, उग पर आधारित होने है, उसी प्रकार प्राणों पर अन्य वस्तुओं की आधारता का उपमा द्वारा वर्णन पूर्णतः औचित्य का निर्वाह करता हुआ अर्थ में विच्छिन्ति पैदा कर रहा है।

यथोर्णनामि मृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोपघय समवन्ति ।

यथा सान पुर्यात्वे शलोमानि तथाश्चरात्समवतोह विश्वम् ॥

—मु० १ १ ७

यद्यपि मक्खो द्वारा जाला बनाया जाना सभी के द्वारा देखा जाता है, पर अक्षर ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति होने की बात को इस प्रकार समझाया जाना एक अपूर्वता है। ब्रह्म द्वारा मृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म के लिए जो उपाय बंदी गई है, वह एतदप स्वयं के अनुभव होने से, इनमें पूर्णतः औचित्य का निर्वाह हो रहा है। एकमात्र चेतन ब्रह्म मृष्टि को उत्पन्न कैसे करता है? वेदांती हम दिशा में विवर्तवाद का नारा उगाते तो हैं, पर समझाया है ऋषि ने। जिम प्रकार जाले के

प्रति मकड़ी चैतन्य की दृष्टि से निमित्त कारण है, और निमित्त कारण होने से उसने चेतनता आदि गुण जाले में नहीं आते, और शरीर रूप से उपादान कारण होने से, शरीर के जडता इत्यादि गुण उसमें आ जाते हैं, इसी प्रकार ब्रह्म चैतन्य की दृष्टि से ससार के प्रति निमित्त तथा भाषा की दृष्टि से उपादान कारण है। इस प्रकार इतने गम्भीर अर्थ को केवल मकड़ी की उपमा से समझाने में ऋषि ने जिन अलंकार-औचित्य को अपनाया उससे दार्शनिकता के साथ साथ साहित्यिकता भी इस मन्त्र में अपना विशिष्ट स्थान बना गई।

अहं ब्रह्मस्य रेखिवा । कीर्ति पृथ गिरेखिब । ऊर्ध्वं पवित्रो वाजिनोव  
स्वमृतपस्मि । इविण्ण<sup>७</sup> सबचंसम् सुमेघा अमृतोऽक्षित ।

—सं० १ १०

यहां त्रिशकु का वेदानुवचन आत्मा की श्रुतता तथा गरिमा को पर्वत के शिखर के उपमान से वर्णित पाठको के सामने उसका चित्र-सा खींच रहा है। प्रथम तो पर्वत ही विशाल होते हैं, उसमें भी उसके शिखर ही तो उनकी ऊंचाई और भी अधिक होगी ही। उपमालंकार का कितना सुन्दर औचित्य ऋषि की बुद्धि में कल्पित हुआ है।

तिलेषु तंल दधनोव सर्पिरापः स्रोत स्वर्णोषु चाग्नि ।

एवमात्मात्मनि गूह्यतेऽसौ सत्येनं तपसा योजुपश्यति ॥

—श्वे० १ १५

तिलों में तेल, दही में घी, स्रोतों में जल तथा काष्ठ में अग्नि की उपमा से आत्मा की आत्मा में सत्ता बताना ऋषि की अपनी सूझ-बूझ है। उदाहरणों की यह चमत्कृति दर्शन जैसे नीरस विषय को भी साहित्यिकता प्रदान कर सहृदयों को इस ओर उन्मुख कर रही है। अतः उपमानों का यह औचित्य कमनीय कान्ता के कलेवर पर यथास्थान पहने अलंकारों की छटा की याद दिलाता है।

द्विह्यन्त स्थाप्य सम शरीर हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिवेश्य ।

ब्रह्मोद्भवेन प्रतरेत विद्वान् श्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥

—श्वे० २ ८

यहां ब्रह्म रूपी उडुप (नौका) द्वारा भयानक श्रोतों को पार करने का उपदेश सासारिक व्यक्तियों के लिए सुन्दर औचित्य का निर्वाह

कर रहा है। यहाँ स्रोतों को पार करने के लिए उड्डुप का सहारा लेना उचित रूप से कहा गया है। क्योंकि स्रोत का तात्पर्य है छोटी नदिया, और उड्डुप छोटी नौका होती है। अतः स्रोतों को पार कराने में उड्डुप समर्थ हो जाती है तो सामारिक बंधनों से विरक्ति दिलाने में आत्मज्ञान समर्थ हो जाता है।

प्राणान्प्रपीड्येह स पुत्रवेष्ट क्षीणं प्राणं नासिकयोच्छ्वसति ।

दुष्टाश्चपुत्रमिव बाहमेन विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्त ॥

—श्वे० २ ९

यहाँ मन को बश में करने का उपदेश है। आहार-विहार द्वारा निरोध कर जब प्राणशक्ति क्षीण हो जाय, तब मन की वृत्तियाँ शीघ्र ही बशीभूत हो जाती हैं। उसके लिए दुष्ट अश्व का उपमान वहाँ औचित्य के साथ दिया गया है। विगड़े हुए घोड़े को कैसे बशीभूत किया जाता है, यह एक सारथि वड़ी अच्छी प्रकार से जानता है। उस को भी पहले शरीर में क्षीण करना पड़ता है। इस प्रकार दुष्ट अश्व को बश में करने के समान मन का बश में करने की बात को जिम ढंग से प्रस्तुत किया गया उससे यहाँ और भी अग्निक चमत्कार झलक रहा है।

यथैव विम्ब मृदयोपलिप्त तेजोमय आजते तत्सुषोतम् ।

तद्वात्मतत्त्व प्रसमीक्ष्य देहो एक वृताथो भवते धीतशोक ॥

—श्वे० २. १४

—मृत्तिका से मलिन टुप्रा सोने या चादी का टुकड़ा शुद्ध करने पर जैसे अपने शुद्ध स्वरूप को धारण कर लेता है, इसी प्रकार देहघाते जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके वृत्तवृत्त्य हो जाता है।

मचमुच शरीर क्या है? एकमात्र मृत्तिका। इस प्रकार शरीर के लिए मृत्तिका तथा जीव के लिए मुवर्ण इत्यादि का प्रतीक देना ऋषि की अपनी कवित्व शक्ति का सामर्थ्य है, जिमने सामने वेदान्त के गहन तत्त्वों को समझाने के लिए इन प्रकार के उपमान उचित रूप से अहमहमिकया उपस्थित हो रहे हैं। मच यात तो यह है कि अन्म वस्तुओं पर भले ही मिट्टी का प्रभाव हो जाय पर मुवर्ण पर मिट्टी का कदापि प्रभाव नहीं होता। मिट्टी में निम्न मुवर्ण के टुकड़े को माफ करो तो वह एक-दम अपने चमकीले स्वरूप को धारण कर लेता है। इसी प्रकार देह के

अन्दर विश्राम होने पर भी जीव पर देह के गुणों का कोई प्रभाव नहीं। ऋषि ने इस सरल उपमेय-उपमान भाव के द्वारा जिस गहन तत्त्व को समझाने का यत्न किया उससे यहाँ अर्थ में साहित्यिकता का पुट तो आया ही है, उसके साथ-साथ यह औचित्य का भी सुन्दर उदाहरण बन गया।

घृतात्पर मण्डमिवातिमूक्षम ज्ञात्वा शिव सर्वभूतेषु शूढम् ।

विरवस्यं क परिवेष्टितार ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपारां ॥

—श्वे० ४ १६

यहाँ ऋषि द्वारा प्रयुक्त घृत और मण्ड के समान शिव का स्वल्प उपस्थित करना एक विशेषता रखता है। नित्य प्रति गृहस्थियों द्वारा दधि इत्यादि के मन्थन तथा मक्खन से घी निकालने की प्रक्रिया देखी जाती है। पर, ऋषि ने उन्हीं उपमानों से जिस गहन तत्त्व को जिस औचित्य से समझाया वह ज्ञानियों के अनुकूल होने के कारण हृदय को चमत्कृत कर देने वाली अपूर्व ही चारुता को प्रकट करता है।

## ५२४. विशेषण औचित्य

तस्मिं तृण निश्चावेतद्देहि । तदुपप्रेषाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धु स तत एव निबभूते नंतदशक विजातु यदेतदभिमिति ॥

—केन० ३. ६

जब यक्ष अग्नि के सम्मुख एक तिनका जलाने के लिए डालता है, और कहता है कि 'ले, जला इसको', अग्नि एकदम बड़े जोर के साथ उस तिनके के पास जाती है। यहाँ सर्वजवेन क्रियाविशेषण ने अग्नि की जो दुर्यंति की, वास्तव में अपने मुँह से अपनी बड़ाई करने वालों की ऐसी दुर्यंति का वर्णन उचित ही है। ऋषि केवल जवेन इतना मात्र भी कह सकता था, पर सर्व ने उसके साथ जुड़कर इस दिशा में औचित्य का जो निर्वाह किया और अर्थ को चमत्कारपूर्ण बनाया तथा अग्नि के सामर्थ्य को तुच्छ धताया, उसका कोई अन्य उदाहरण नहीं। तिनका-मात्र जलाने के लिए जोर से ही नहीं, पूरे जोर से आग का उसके पास जाना उसके लिए लानत के सिवाय और क्या हो सकता है? ऋषि को यही बताना अभिप्रेत है। इसी में विशेषण का औचित्य पूर्ण है।

मा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीपध्वमिति ।

ततो हेव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥

—वेन० ४. १

अग्नि, वायु तथा इन्द्र के पारस्परिक झगड़े में हैमवती देवी द्वारा मध्यस्थता करने पर उस द्वारा सुनाए गए निर्णय की मानो यह प्रति-  
लिपि है। ब्रह्मणो विजय — 'ब्रह्म की विजय हुई है' इतने मात्र से ही निर्णय  
दिया जा सकता था। पर ऋषि ने सोच समझ कर यहाँ एतव पद को  
विजये का विशेषण बनाकर माना अग्नि इत्यादि के मुँह पर औचित्य  
की चपत मारी है कि बिना एतव विशेषण जोड़ इनका अपमान नहीं  
हो सकता। अत एतव विशेषण द्वारा जिस औचित्य से चमत्कारपूर्ण  
अर्थ का प्रादुर्भाव हुआ, वह इस प्रकार है कि 'यह ब्रह्म की ही विजय  
है। यह हमारी ही विजय है, यह हमारी ही महिमा है, यह तो तुम्हारा  
मिथ्या अभिमान ही है।'

तदेतत् प्रियं पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽयस्मात्प्रबन्धस्मादन्तरतर यदयमात्मा ।  
स धोऽन्यमात्मन प्रियं बुधाणं क्षुपानं त्रिषु रोत्स्यतीतीश्वरो ह तयं व स्यादात्मान-  
मेव प्रियमुपासीत । स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुक्  
भवति ।

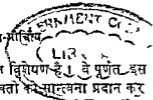
—बृ० १ ४. ८

जो आत्मात्पि प्रिय की उपामना करता है, वह प्रमायुक् होता  
है। यहाँ प्रमायुक् विशेषण जिस औचित्य के माय ऋषि द्वारा रचा  
गया, वह एक विशेष ही अर्थ की प्रतीति करा रहा है। प्रमायुक् में अ  
प्रत्यय है, जो तच्छील अर्थ में हाता है। ऐसी स्थिति में पदार्थ अपने  
स्वभाव का एकदम त्याग नहीं सकता, इसलिए प्रमायुक् नहीं होता।  
यहाँ प्रमायुक् कथन में प्राणादिया का आत्यन्तिक अमरण विवक्षित नहीं,  
अपितु मही समझना चाहिए कि वह दीर्घजीवी हो जात है। इस प्रकार  
यह ध्याता मा विशेषण यह औचित्य में विस्तृत ज्ञान का द्योतन होने से  
यहाँ चमत्कृत पंदा कर रहा है।

या ते इदं ज्ञाया तनूरधोराज्यापकाशिनो ।

तया मस्तनुवा शन्ममया गिरिसात्तामिद्यावतीहि ॥

—श्वे० ३. ५



यहां तनु दिवा और शान्त विशेषण है। वे पूर्णतः इस प्रसंग में श्रीचिंत्य का निर्वाह करते हुए भक्तों को सान्त्वना प्रदान कर रहे हैं कि ठीक है कि वह पर्वत पर रहता है; पर वहां रहते हुए भी वह कठोर नहीं हो गया, अपितु पर्वत पर रहते हुए भी जन-जन के कल्याण में रत रहता है। वह रुद्र अवश्य है, पर उसकी मूर्ति शिवा है घोरा नहीं, अधोरा है। अधोरा से तात्पर्य अधिच्छादि से रहित अधिद्यादि से रहित होने पर काम, मोघ, द्वेष इत्यादि भावों से रहित होने से कल्याणमयी है। इसलिए गिरिस्थान् भी कहा गया है। इस प्रकार विश्व का कल्याण चाहने वाले ऋषि द्वारा उस रुद्र के लिए इस प्रकार के विशेषण, उसके (रुद्र के) गुणों में चमत्कृति प्रदान कर रहे हैं। अतः विशेषणश्रीचिंत्य का यह सुन्दर उदाहरण चमत्कृत्याघायक है।

#### ५२.५ लिंग-श्रीचिंत्य

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत् ।

तेन त्वत्तेन भुञ्जीया मा गृध कस्यस्विद धनम् ॥

—ईश० १

यहां यत् किञ्च में सामान्य में नपुंसक लिंग का प्रयोग समग्र ब्रह्माण्ड के चित्र को उपस्थित कर रहा है, जो कि पुलिंग अथवा स्त्रीलिंग के प्रयोग से सम्भव न था। इस प्रकार जिस चमत्कारपूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति यहां हुई है वह लिंग के श्रीचिंत्य का ही परिणाम है।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽपीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यवर्षीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ।

—केन० ३. ४

यहां तद् अभ्यद्रवत् में तद् यक्ष के लिए सर्वनाम है। यक्ष पुलिंग है। पर यहां ऋषि ने पुलिंग का प्रयोग न करके नपुंसक का सामान्य में प्रयोग किया है। ज्योही अग्नि के लिए कहा गया कि 'देखो सामने जा वस्तु खड़ी है तुम उसके पास जाओ', अग्नि उसके पास गई। निश्चय है कि अग्नि को यह ज्ञान नहीं था कि यह कौन है। यदि उसको यह ज्ञान होता कि वह इतना सामर्थ्य युक्त है तो उसके सामने डींग न मारती कि 'मैं केवल अग्नि ही नहीं अपितु जातवेदा हूँ।' ऋषि ने उसकी इस अनभिज्ञता को प्रकट करने के लिए यहां सामान्य में नपुंसक लिंग का प्रयोग किया है, जो कि आपाततः भले ही

विशिष्टार्थवाची प्रतीति न हो रहा हो, पर जब सहृदय इस पर विचार करते हैं तो निश्चय ही उनको इसमें लिंगौचित्य के कारण चमत्कृति-पूर्ण भाव की प्रतीति अनुभव होती है।

तस्मिन्त्वयि कि षीर्यमित्यपोद सर्वं वहेय यद् इद पृथिव्यामिति ।

—वेन० ३ ५

यहां पक्ष द्वारा पूछे जाने पर कि 'वताग्रो कितनी शक्ति रखती हो?' अग्नि दनदनाते हुए उत्तर देती है, 'ससार में जो कुछ है सब को जला सकती हूं।' यहा माना अग्नि ने इसमें अपना अपमान समझा कि इमने (यक्ष ने) मुझ से ऐसा प्रश्न क्या किया। अतः अपने पराक्रम को बताने के लिए यद् इदम् पद का प्रयोग अग्नि द्वारा किया गया। अर्थात् ससार में जो कुछ है मेरे लिए वह तुच्छ है, नगण्य है, मैं सभी को समान देखती हूं। यहा तत्र कि तुम (यक्ष) भी इस समय इस पृथिवी पर ही विद्यमान हो, अतः तुम्हारी भी उसी में गणना की जा सकती है, वस समझ लो कि तुम्हारे समेत सब कुछ जला सकती हूं। इस प्रकार इस नपुमक लिंग में प्रयुक्त यद् इदम् पद से जिस अर्थ-वैचित्र्य की प्रतीति हा रही है, वह म्वात अन्य लिंग में प्रयुक्त पद द्वारा न होती। अतः अग्नि के अहंकार को व्यक्त करने में यह नपुंसक में प्रयुक्त पद पूर्ण सहायता प्रदान करके अपना स्थान उचित रूप से बनाए हुए है।

## ५ २ ६ यक्षन औचित्य

वेनेदित पतति प्रेषित मन, केन प्राण प्रपम प्रंति पुस्त ।

वेनेपितां वाचनिमां वरति चक्षु ओत्र न उ देवो युनक्ति ॥

—वेन० १ १

यहां प्राण शब्द को बहुवचन में ऋषि द्वारा बड़े औचित्य के साथ प्रयुक्त किया गया है। भले ही ऋषियों को प्राण शब्द में बहुवचन अपेक्षित रहता हो, पर ऋषि को यहा प्राण शब्द की बहुवचनता अनौचित्य के मार्ग पर गीच लायेगी। ऋषि उम तत्त्वं वी जिज्ञामा उत्पन्न कर रहा है जो शरीर के विभिन्न अंगों का प्रेरित करता है। उनमें में प्राण भी एक है। पर अन्य प्राण—अपान, ध्यान, उदान, समान—तो शिमी प्रकार धारण किए भी जा सकते हैं, किन्तु वह प्रधान प्राण, बिना चेतन के धारण नहीं किया जा सकता। इगतिग यहा पाचो प्राणों की स्थिति

के विषय में प्रश्न न करके एकमात्र प्रधान प्राण के विषय में प्रश्न होने से प्राण में एकवचन उचित है, जो कि बहुवचन की अपेक्षा एकवचन में ही ऋषि के भाव को अभिव्यक्त करने में समर्थ होकर चमत्कारपूर्ण अर्थ की प्रतीति करा रहा है ।

तस्मिन्स्वपि किं वीर्यमित्यपीद सर्वं दहेय यदिद पृथिव्यामिति ।

—केन० ३ ५

यहां यद् इदम् में निग-गत वैचित्र्य तो है ही, पर वचन-गत वैचित्र्य उसमें चार चाद लगा रहा है । नपुसकलिग में प्रयुक्त होने पर भी यदि यानि इमानि इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग हो जाता तो मानो काव्य की आत्मा का ही हनन हो जाता । बहुवचन में वह भाव तथा वह उक्ति-वैचित्र्य कहा, जो एकवचन में निहित है । अतः वचनगत औचित्य ने कवि के उस भाव को और भी विचित्रता के साथ प्रकाशित कर दिया जिसको ऋषि यहां दिखाना चाहता था ।

इमा रामाः सरथा सतूर्या न हीदृशा लम्बनीया मनुष्यं ।

आभिर्मत्प्रतामि परिचारयस्व नचिकेतो मरण याजुप्राक्षी ॥

—कठ १ २५

यहां यम और नचिकेता का सम्वाद है । नचिकेता ने यम से आत्म-तत्त्व बताने के लिए कहा और सोचा कि आज ही तो मौका है जब इनका रहस्य खुलेगा कि यह आत्मा मरने के बाद कहा जाता है । पर यम इम रहस्य को न बताकर नचिकेता को इसके विनिमय में ससार के सभी पदार्थों को देने के लिए तैयार है । जब उसने देखा कि नचिकेता कुछ भी नहीं चाहता तो यम ने अपना एक तीर और चलाया, वह था अप्सराओं की प्राप्ति । कौन ऐसा होगा जो ससार में रह कर शृङ्गार से वंचित रहे । नचिकेता भले ही वचन है, पर यमराज यह भली भांति समझता है कि उसने युवा भी होना है । अतः यम अपने प्रासाद में उपस्थित अप्सराओं की ओर संकेत करता हुआ नचिकेता में कहता है— 'देख ये सामने बंठी हुई हसीना हैं, तू जितनी चाहे ले ले । ये एकमात्र मेरे द्वारा ही उपभोग्य हैं, और किसी के द्वारा नहीं ।'



यहां यम ने इमा रामा में बहुवचन का प्रयोग किया है। यह यम की उदारता नहीं कि वह एक के स्थान में अनेक अप्सराएं देना चाहता है, अपितु यह उस समय का औचित्य है। यम ने उसकी इच्छा पर छोड़ दिया कि एक नहीं, दो नहीं, अपितु जितनी चाहे अप्सराएं ले जा। इसमें यम की उदारता प्रकट नहीं हो रही, अपितु आत्म-तत्त्व को न बताने की उसकी भावना प्रकट हो रही है। उसके दिल में मलिनता है। इस प्रकार यहां बहुवचन जिम चमत्कारपूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति कर रहा है, उसको एक या द्विवचन प्रकट नहीं कर सकता था।

एको हि एदो न द्वितीयाय तस्युयं इमात्लोकानोगत ईशानोभि ।

प्रत्यङ्जनास्तिरठति सत्सुधोचान्तबाले समृज्य विश्वा भुवनानि गोपा ॥

—श्वे० ३ २

यहां भुवनानि में बहुवचन ब्रह्म की उस सामर्थ्य को चमत्कारपूर्ण ढंग से पाठको के सामने उपस्थित कर रहा है, जिसे ब्रह्म की अद्वितीय शक्ति का भी बोध हो और पाठको के हृदय में चमत्कृति भी उत्पन्न हो।

### ५ २ ७ प्रत्यय-औचित्य

गर्भे नु सन्नखेषामवेदमह देवाना जनिमानि विश्वा ।

शत मा पुर आयसौररक्षन्छ श्येनो जवता निरदीयमिति ॥

गर्भं एवंतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥

—ऐत० २. १ ५

इम मन्त्र में कहा है कि गर्भ में शयन करता हुआ ही वामदेव बोला। यहां च् शीङ् + शानच् का शयान रूप प्रत्यय-गत औचित्य है। प्रथम तो यह वैशिष्ट्य है कि कोई गर्भ से ही ऐसा बोले। साधारणतः तो बच्चे गर्भ में बाहर आकर बहुत समय तक नहीं बोलते। पर मान लिया कि उनमें विलक्षणता थी, इसलिए गर्भ में ही बोल पड़े। कपिल को भी क्रुद्ध ऐसा ही जान गर्भ में ही गया था। पर यहां तो गर्भ में भी वे 'मो-मे' रह थे। ऋषि यहां जानच् का प्रयोग करते आलोचना में बच गया। वे पूरी तरह गा नहीं रह थे, अपितु मो-मे रह थे। इस प्रकार वामदेव की विशिष्टता बताने के त्रिण ऋषि द्वारा प्रयुक्त शानच् प्रत्यय निष्पन्न गन्ध यहां एक विलक्षण अर्थ की प्रतीति करा रहा है।

५.२.८. निपात-श्रीचिंत्य

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीपटवमिति । ततो ह्येव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥

—केन० ४ १

यहा वा निपात एव के अर्थ मे प्रयुक्त है । चाहे कुछ हो एक बार तो इस वा ने ब्रह्म का पलडा भारी तथा देवताओ का सिर नीचा कर ही दिया । इस मन्त्र मे ऋषि द्वारा प्रयुक्त वा निपात देवताओ का पतन तथा ब्रह्म का यश दिखाता हुआ दिग्गिष्ट अर्थ की प्रतीति करा रहा है कि ब्रह्म की ही यह विजय है, न कि तुम्हारी अर्थात् देवताओ की ।

दृप्तवालाविहीनूचानो गार्ग्य आस । स होवाचाजातशत्रु कारयम—ब्रह्म ते श्वापीति । स होवाचाजातशत्रु —सहस्रमेतरया वाचि बभूव, जनको जनक इति वं जना धावन्तीति ॥

—बृ० २ १ १

यहा पर वं निपात जनक की प्रसिद्धि को उतनी ही विचित्रता के साथ प्रकट कर रहा है जितनी प्रसिद्धि जनक शब्द की द्विरुक्ति । यह ठीक है कि जनक दानी के रूप मे प्रसिद्ध हैं, पर वं ने उसमे सोने मे मुगन्ध वाला कार्य करके जिस चमत्कारपूर्ण ढंग मे श्रीचिंत्य का निर्वाह किया, सहृदयो का हृदय उससे आप्लावित हो उठता है ।

पदाऽऽमतत्त्वेन तु ब्रह्मत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तं प्रपश्येत् ।

अजं ध्रुवं सर्वतरुर्बविसृष्टं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापं ॥

—श्वे० २ १५

यहा आत्म-तत्त्व से ही परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है, इस भाव की अभिव्यक्ति मे तु निपात ने ऋषि को सहायता की है । स्यात् ऋषि को तु रखते समय स्वयं भी इसका ध्यान न रहा होगा । तु निपात ने उनके मुँह पर भानो चपेट मारी है, जो परमात्मा को आत्मा के अतिरिक्त मन व इन्द्रिय से जानने की चेष्टा करते हैं । अतः तु निपात ने जिस चतुराई से मैदान मे आत्मा के विरोधियों को दूर भगाया उससे श्रीचिंत्यपूर्ण जिस अर्थ की प्रतीति यहा हो रही है, वह क्या बिना तु निपात के संभव थी ?

अजात इत्येष कश्चिद्भूय प्रपद्यते ।

यद् यत्ते दक्षिण मुख तेन मां पाहि नित्यम् ॥

—श्वे० ४ २१

यहा अजात के साथ इति निपात अपना पूर्ण सौहार्द दिखाता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है । यह ठीक है कि ब्रह्म अजात है, पर इति न यहा उसकी सहायता की है । अजात को किसी के साथ लटना नहीं पटा कि एकमात्र मैं ही अजात हूँ, और अजात हाने से नित्य हूँ । अपितु इति न यह सिद्ध कर दिया कि 'आत्मा ही एक मात्र नित्य है, अन्य सब कुछ अनित्य' । अतः इति जिम औचित्य में अपना कार्य सम्पादन कर रहा है, उससे उसकी उपस्थिति पाठकों के मन को रजित करने वाली है ।

स्वभावमेके कवयो वदन्ति काल तयाऽप्ये परिमुह्यमाना ।

देवस्यैव महिमा तु सोके येनेद भ्राम्यते ब्रह्मचरम् ॥

—श्वे० ६ १

यहा महिमा के साथ विराजमान तु निपात उचित म्यान पर पटा हुआ अपि द्वारा वर्णित ब्रह्म की शक्ति का औचित्य प्रदर्शित कर रहा है ।

ठीक है इस मसार के प्रति क्या कारण हो सकता है, इसके उत्तर में सभी अपने अपने विचारों के जगत में विचरण कर सकते हैं । काल स्वभाव इत्यादि का इस मैदान में खींच कर लाया जा सकता है । पर यहा तु निपात इसका निणय कर देता है । यद्यपि भगवान् सामर्थ्यवान् है, पर मच्च यह है कि यहा तु न भगवान् के उस सामर्थ्य को, जिम में उसकी मसार के प्रति कारणता मिट्ट हो जाय, अत्यधिक सहायता प्रदान की है कि 'यह कार्य कुछ मात्र पर यह ता देन की ही महिमा है कि वह इस चक्र का चक्रा रहा है ।' इस प्रकार उचित म्यान पर प्रयुक्त यह तु निपात सभी विवक्षा का दूर करके ईश्वर मात्र के लिए मैदान मांग कर रहा है जिममें यहा अर्थ में एक विचित्रिती गी आ गई है ।

५२.६ नाम-ओचित्य

ऋषंमूलोऽवाकशाख एषोऽश्वत्थ सनातन ।  
 तदेव शुक तद्ब्रह्म तदेवाऽमृतमुच्यते ।  
 तस्मिन्लोका भिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।  
 एतद्वै तत् ॥

—कठ० ६ १

यहाँ अश्वत्थ नाम पिप्पल के लिए तथा इसके साथ-साथ ससार के लिए दिया गया है। यह नाम ससार की अनित्यता को जितने उचित ढंग से प्रतीति करा रहा है, स्यात् ही अन्य कोई नाम करा सके। श्व तिष्ठतीति 'श्वत्थ', न श्व तिष्ठतीति 'अश्वत्थ'। कितनी सूझबूझ से यह नाम ग्रपनाया गया है। ससार को यही तो अनित्यता है कि वह कल रहे या न रहे। वीढ़ो ने तो उसको प्रतिपल ही बदलने वाला माना है। पर अश्वत्थ नाम ने जहाँ ससार की परिवर्तनशीलता धोतित की, वहाँ वीढ़ो के हाथ से उसको वचा लिया, क्योंकि इस अश्वत्थ के मूल, शाखा इत्यादि विद्यमान है। अतः अश्वत्थ नाम ससार की जिम चमत्कारपूर्ण ढंग से व्याख्या कर रहा है, उसमें ऋषि की उस भावना का ज्ञान होता है कि वह ममार को किंग दृष्टि से देखना है, तथा कितनी सरलता से सासारिक जनो को उसका ज्ञान कराता है।

यामियु गिरिसन्त हस्ते विमर्ष्यस्तवे ।

शिवो गिरिन् ता कुरु भा हिसोः पुरुष जगत् ॥

—श्वे० ३. ६

यहाँ शिव के लिए गिरिन् नाम दिया गया है। गिरिं त्रायते इति गिरिन् । जो उन पहाड़ो की भी रक्षा करने वाले है जो कि जड हैं, तो फिर वे शकर अपने भक्तो की रक्षा क्यों नहीं करेंगे, अपितु अवश्य करेंगे। लोक में भी जो पत्थर-हृदयो तक की सहायता करता हों, उनकी मत्पाण-कामना करता हो, वह संहृदयो की भला सहायता न करेगा ? इस प्रकार गिरिन् नाम शकर के कार्य के ओचित्य को जिस ढंग में प्रस्तुत कर रहा है उससे अर्थ में एक विशिष्ट चमत्कार आ गया है।

## ५२१० क्रिया-भोचित्य

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्प्राणं जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्यस्त्विद् धनम् ॥

—ईश० १

ऋषि ने जिम खूबी के साथ यहा गृध् धातु को उचित स्थान पर प्रयुक्त किया है, उससे मन्त्रार्थ में महद्दयो के हृदय को आह्लादित करने वाली चमत्कृति दिखाई देती है। यहा ✓याच इत्यादि धातु का भी प्रयोग किया जा सकता था पर अन्य धातुओं में ऋषि के अभिप्रेत अर्थ का प्रकट करने की सामर्थ्य ही कहा। ऋषि का तो अभिप्राय है कि भागना तो दूर रहा, त मागने की इच्छा भी मत कर। अर्थात् किमी दूसरे के धन की इच्छा करना भी अज्ञान है, दोष है।

यमनसा न मनुते येनाहमंतो मतम ।

तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते ॥

—केन० १ ६

यहा मनुते का मनस के साथ उचित प्रयोग अर्थ में विच्छिन्नता प्रदा कर रहा है। ✓ज्ञा इत्यादि धातुओं में यहा उम अर्थ को उत्पन्न करने का वह सामर्थ्य रहा जो मनुते में प्रतीत हो रहा है। यद्यपि मन का काम मनन करना है, उमका वह धर्म है पर आत्मा के सामने श्रीरों की ता क्या, मन भी अपने काय को नहीं कर सकता। 'ज्योही वह आत्मा को जानने की चेष्टा करेगा स्वयं समाप्त हो जायेगा। क्योंकि, आत्मा सर्वोपरि है और वहा तक पहुँचने पहुँचते मय की सत्ता समाप्त हो जाती है—इसी अर्थ का प्रकट करने के लिए ऋषि द्वारा मनुते का प्रयोग वडी सूक्ष्मता के साथ किया गया है।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्बोऽग्नीत्यग्निर्वा अहमस्मीयन्नमीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ।

—वेन० ३ ४

परिचय ना मभी एव दूसर का पूछन है, पर पूछने का भी धरना धरना दग हाता है। जिमने लिए हृदय में पर्याप्त स्थान हो उससे त्रिद दूसरों को प्रकार की क्रिया और जिमने लिए उपेक्षाभाव या इनभाव हो उमने लिए और ही क्रिया का प्रयोग होता है।

यहा भी जब अग्नि यक्ष के पास गई तो वह पूछती है, 'तू कौन है ?' यहा मध्यमपुरुष एकवचन की क्रिया अग्नि के निरादर के लिये प्रयुक्त की गई, जो कि ऋषि के भाव को बड़े चमत्कारपूर्ण ढंग से प्रकट कर रही है ।

इसी प्रकार, इस मन्त्र में अभ्यद्रवत् क्रिया अग्नि के मन की व्याकुलता प्रकट कर रही है । ऐसा लगता है जैसे वह बड़ी तेजो से दौड़कर गई हो । वास्तव में ऋषि को यहा अग्नि के मन की व्याकुलता बतानी ही इस क्रिया से अभिप्रेत है । अन्यथा गमनार्थक अन्य धातुओं में अग्नि की व्याकुलता प्रकट करने का वह सामर्थ्य कहा ? अतः ऋषि किसी दूसरी धातु का यहा प्रयोग करके अपने को व्याकुल नहीं बनाना चाहता ।

तस्मै तृणं निदधावेतद्देहि । तदुपप्रेषाय सर्वं जवेन । तन्न शशाक  
वण्डुम् । स तत एव निवृत्ते । नैतदशाक विजातु यदेतच्छामिति ॥

—केन० ३. ६

देवारी अग्नि यक्ष द्वारा फेंके गए एक छोटे से तिनके को जलाने के लिए बड़े वेग के साथ एकदम उराके निकट भी गई और पूरा जोर लगाने पर भी तिनके को नहीं जला सकी—तन्न शशाक । अग्नि ने कितना जोर लगाया होगा, पर तिनके का कुछ न बिगाड सकी । शशाक इस अर्थ की पूर्णतः प्रतीति करा रहा है । अतः उचित स्थान पर प्रयुक्त यह क्रियापद चमत्कृतिपूर्ण अर्थ की प्रतीति करा रहा है ।

इसी प्रकार केन० ३ = तथा ३ ११ में भी क्रिया-औचित्य है ।

अथाप्यात्म यदेतद् गच्छतोष च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्षण सकल्पः ।

—केन० ४. ५

कितने आश्चर्य की बात है कि जो ऋषि अभी अभी, बार-बार पीछे कई मन्त्रों में अभि+द्रव् धातु का प्रयोग करता चला आ रहा था (द्रष्टव्य : केन० ३ ४, ३ ८, ३ ११) वही अब उसको छोड़कर गन् धातु को अपना नेता है । किन्तु यहा गन् धातु का जो औचित्य है, वह इव् या अन्य धातु का कहा । मन ब्रह्म की ओर दौड़कर नहीं जाता । उसकी क्या सामर्थ्य जो वह दौड़कर ब्रह्म के समीप पहुँच जाय ।

वह तो 'जाता हुआ-मा' प्रतीत हो रहा है। अभी बेचारा प्रयत्न कर रहा है। नफनता तो अभी बहुत दूर है। यहाँ मन के उस शन-शन ब्रह्म की ओर उन्मुक्त होने के व्यापार को द्योतित करने के लिए ही गन् धातु का प्रयोग किया गया है जो कि इस मन्त्र में चमत्कृतिपूर्ण प्राण डाल रहा है।

इसी उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में कवि ने मन के साथ पन् धातु का प्रयोग किया था। वहाँ मन के अतिरिक्त किसी दूसरे (आत्मा) की मत्ता दिखाना ऋषि का अभिप्राय था। अतः पत्नि क्रिया का प्रयोग किया। क्योंकि पन् धातु में जो गिरने का भाव है, उसमें किसी दूसरी वस्तु की कारणता अवश्य रहती है। भले ही वह कारण स्पष्ट ज्ञात न हो रहा हो, वहाँ प्रेरणात्मक वस्तु अवश्य रहेगी। अतः केन प्रेषित पतति मन इस प्रकार कहा गया। किन्तु यहाँ गच्छतीव मन में मन स्वयं जाना हुआ प्रतीत हो रहा है। मन का ब्रह्म की ओर बलात् प्रेरित नहीं किया जा रहा है। उसमें अब ऐसी स्वाभाविकता आ गई है कि बाह्य विषयो से हटकर आत्मा की ओर प्रवृत्त हो रहा है। यम का इन प्रकार स्वतः ही आत्मा की ओर प्रवृत्त होना ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होना है। इस प्रकार गच्छति क्रियापद जिम औचित्य के साथ यहाँ रखा गया है, उसी विलक्षणता के साथ वह प्रवृत्त अर्थ यहाँ प्रकट कर रहा है।

यस्याग्निहोत्रमर्षमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाश्रयणमतिशिवर्जितम् ॥

अदृतमर्षस्वदेवमविधिना हुनमासप्तमासतस्य लोकात् हिनस्ति ॥

—मु० १ २ ३

वारण के होने हुए कार्य अवश्य हो जाय, यह कोई नियम नहीं। यहाँ प्रवरण में ऋषि इसी का जोरदार शब्दों में कहना चाहता है कि यदि मन्थन प्रकार में काम किया जाय तो निश्चयरूपण उसका फल प्राप्त होता है, पर जिन लोकों की मायक प्राप्ति चाहता है उनकी प्राप्ति के अनुरूप ही काम हो। बल अग्निहोत्रादि कर्मों द्वारा उन लोकों की प्राप्ति न होकर निश्चयन विनाश हो जाता है। अतः हिनस्ति क्रिया का प्रयोग अर्थविचारों रूप अर्थ का प्रकट करने के लिए है, अर्थात् अवश्य ही नाम पर देना है। —मु० शाकरभाष्य

यदा पश्य पश्यते दक्षमवर्णं वर्तारमोशं पुष्यं ब्रह्मण्योनिम् ।

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनं परमं साम्यमुपैति ॥

—मु० ३ १ ३

यहा ईश्वर की प्राप्ति के बाद किस प्रकार जानी पाप और पुण्य का त्याग देता है, इसका बड़े उचित ढंग से ऋषि वर्णन करता है। ऋषि ने यहा वि + √धूञ् + ल्यप् का प्रयोग किया है। यैसे त्यक्त्वा का भी प्रयोग हो सकता था, पर त्यक्त्वा में वह विलक्षणता कहा जो कि वि + √धूञ् + ल्यप् में है। वस्तु का धुनना किस प्रकार होता है, यह तो किमी धुनिये से पूछा कि वह किस प्रकार रुई को अलग-अलग कर देता है। अतः यह क्रियोचिन्त्य का सुन्दर उदाहरण है।

इसी प्रकार—

तमभ्यतप्तसशमितप्तस्य मुञ्ज निरभिद्यत ययाण्ड मुखाद्वाग्वाचोऽग्नि  
नासिके • शिशनाद्रेतो रेतम आप. ।

—ऐत० १ १ ४

इस मन्त्र में निरभिद्यत श्रिया ब्रह्म से मृष्टि की उत्पत्ति को याथातथ्येन बता रही है। विराट् पुरुष के आदेश से, तप करने पर उसमें अण्ड के समान मुख उत्पन्न हुआ। इसका तात्पर्य हुआ कि जिन प्रकार किमी वस्तु के फटने से उसके अन्दर की वस्तु बाहर आ जाती है, उसी प्रकार ईश्वर ने अपने अन्दर पहले से ही श्रोत श्रोत समार की कारणभूत उस अण्डाकार वस्तु को प्रकट किया। यहा उस वस्तु की उत्पत्ति के लिए कारण-सामग्री का निषेध स्वतः ही क्रिया द्वारा हो गया।

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन् हसो भ्राम्यन्ते ब्रह्मचक्रे ।

पुष्यगहमग्नं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्तत्रस्नेनाऽप्युतत्वमेति ॥

—श्वे० १ ६

यहा घञ् धातु का कर्म में प्रयोग एन्मात्र पाठको को भ्रम में डालने के लिए नहीं, अपितु जीव-विषयक भ्रांति को दूर करने के लिए उपयुक्त स्थान पर हुआ है। जीव स्वयं नहीं घूमता, अपितु उसको



घुमाने वाला कोई अन्य ही है। जीव का यही तो लक्षण है कि जहां ईश्वर स्वतन्त्र है, वहां जीव परतन्त्र। वह कर्म करने में तो स्वतन्त्र है, पर फल भोगने में परतन्त्र। इस ब्रह्मचक्र में नाना योनियों में उसको घुमाया जाता है। वह भला इतना सज्जन कहा कि स्वतः ही शूकर-कूकर की योनियों में विचरण करे। उसका वश चले तो वह सर्वदा नन्दन वन में ही विचरण करता रहे। अतः जीव की इस परवशता, तथा कर्मयोग की अनिवार्यता को द्योतित करने में भ्रम् धातु का यह रूप यहाँ श्रौचित्य का ही निर्वाह नहीं कर रहा, अपितु चमत्कार-पूर्ण अर्थ का प्रतिपादन भी कर रहा है।

## ६.१- उपनिषदों का गद्य

प्रत्येक भाषा के साहित्य में गद्य और पद्य, दो प्रकार का काव्य उपलब्ध होता है । आचार्य वामन ने भी माध्यम की दृष्टि से काव्य के भेदों का विवेचन करते हुए कहा है—

काव्य गद्य पद्य च ॥<sup>१</sup>

संस्कृत भाषा में भी प्रारम्भ में अर्थात् वैदिक साहित्य में लेकर अथावधि कवियों ने गद्य तथा पद्य दोनों माध्यमों से रचना की है । बाद में काव्य में एक और प्रकार प्रचलित हुआ, जिसे चम्पू नाम दिया गया । इस रचना में यद्यपि गद्य की ही बहुलता होती है, तथापि यत्न-तत्प पद्य भी कवि जोड़ देता है ।

उपनिषदों के अदलोकन में प्रतीत होता है कि यद्यपि उस समय के ऋषियों में पद्य लिखने की प्रवृत्ति अप्रिक थी जो कि वैदिक साहित्य के प्रभाव तथा मौखिक परम्परा के कारण चली आ रही थी, तथापि गद्य-रचना में भी उनको गति कम न थी । उपनिषदों में लौकिक साहित्य में विकसित गद्य की सभी विधाओं के रूप प्राप्त होते हैं, भले ही ये स्वल्प मात्रा में हों ।

वामन ने गद्य को तीन भेदों में विभक्त किया है—

गद्य वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायं च<sup>२</sup> ॥

१. काव्यालंकारसूत्र, १ ३. २१

२. वही, १. ३. २२

और इनके लक्षण निम्न प्रकार से दिए हैं—

पद्यभागाद् वृत्तगन्धि ॥

अनाविद्धललितपद चूर्णम् ॥

विपरीतमुत्कृष्टिकाप्रायम् ॥

—वाचस्पत्यकारसूत्र, १ २ २३, २४, २५

पर, आचार्य विश्वनाथ ने गद्य रचना को चार प्रकारों में विभक्त किया है। वे इस प्रकार लिखते हैं—

वृत्तगन्धोविहित गद्य मुक्तक वृत्तगन्धि च ॥

भवेदुत्कृष्टिकाप्राय चूर्णक च वृत्तगन्धिम् ।

आद्य समासरहित वृत्तभागयुत परम् ॥

अन्यदीर्घसमासाद्य तुर्घं चाल्पसमासकम् ॥

—साहित्यदर्पण, ६ ३३०, ३३१

अर्थात् छन्दोबन्धन में रहित रचना गद्य कहलाती है, और समास-रहित गद्य मुक्तक, तथा छन्द की गन्धि में युक्त वृत्तगन्धि कहलाता है। दीर्घसमासप्राय तथा उद्वट पदों से युक्त उत्कृष्टिकाप्राय एवं अनाविद्ध अर्थात् दीर्घसमासहीन और ललित अर्थात् अनुत्कृष्टपद्युक्त गद्य चूर्णक अथवा चूर्ण कहलाता है। किन्तु विश्वनाथ की इस परिभाषा के आधार पर उपनिषदों में गद्य वे इन चार प्रकारों की उपलब्धि न होकर वामन के अनुसार तीन प्रकार के गद्य का ही रूप प्राप्त होता है।

बुद्ध एक उपनिषदों में गद्य का प्रयोग विन्तुल नहीं हुआ, जैसे ईश और वट में। बुद्ध में नाममात्र को ही गद्य मिलता है, जैसे वेन, मुडक, माडूक्य और श्वेताश्वतर में। प्रश्न, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में गद्य प्रचुर मात्रा में तथा विविध रूपों में मिलता है।

यद्यपि अन्य उपनिषदों में गद्य और पद्य का मिश्रण है, पर बृहदारण्यक में गद्य और पद्य, दोनों इम रूप और इतनी मात्रा में मिलने हैं कि इमे उत्तरवर्ती चण्डू काव्या का मूल माना जा सकता है।

उपनिषदो मे प्राप्त गद्य के उपर्युक्त रूपों के कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

### ६११. चूर्णक गद्य (अल्पसमास या समासरहित)

(क) मोर्जममानाद्रूर्ध्वमुत्क्षमन्त इव । तस्मिन्नुत्क्षामत्यधेतरे सर्व एवोत्क्षामन्ते । तस्मिन्श्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते । तद्यथा मसिका मधुकरराजानमुत्क्षामन्त सर्वा एवोत्क्षामन्ते । तस्मिन्श्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते । एव वाङ्मनश्चक्षु भोज च । ते प्रीता प्राण स्तुन्वन्ति ।

—प्रश्न० २ ४

(ख) यत्र सुप्तो न कचन कामं कामपते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुपुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूत प्रज्ञानघन एवाऽऽनन्दमयो ह्यानन्दमुक्, चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीय पाद ॥

—मा० ५

(ग) वेदमनुष्याऽऽचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सोः । सत्यान् प्रमदितव्यम् । धर्मान् प्रमदितव्यम् । कुरालान् प्रमदितव्यम् । भूतान् न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मानुदेवो भव । पितुदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । दान्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । दान्यस्माकं सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि । नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयास्तो ब्राह्मणा । तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रशंसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । सविदा देयम् ॥ अथ यदि ते कर्मविकिकित्ता वा वृत्तविकिकित्ता वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणा समशिन । युक्ता आयुक्ता । अलूक्षा धर्मकामा स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथा । अपाभ्याहपातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः संमशिन । युक्ता आयुक्ता । अलूक्षा धर्मकामा स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथा । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चंतदुपाग्यम् ॥

—तै० १. ११

उपर्युक्त गद्यभाग भुक्तक गद्य का आदर्श होने के अतिरिक्त अनुप्रानमय, प्रवाहशील एवं प्राजत गद्य का भी सुन्दर उदाहरण है। इसमें वाप के शुभनामोपदेश की मग्न तथा उपदेशात्मक प्रवृत्ति का पूर्ण-रूप भी स्पष्ट लक्षित होता है। और भी देखिए—

(घ) कोऽप्यमाभेति वयमुपास्महे । कतरः स जात्मा ? येन वा परमनि,  
येन वा शृणोति, येन वा गच्छात् जिप्रति, येन वा वाच ध्याकरोति, येन  
वा स्वादु चास्वादु च विजानाति । यदेनद्दृष्टव्यं मनश्चतन् । संज्ञानमा-  
ज्ञान विज्ञान प्रज्ञान मेघा दृष्टिर्धूमिर्मनीषा जूतिः सृतिः सक्त्यः क्तुरमु-  
कामो वसा इति सर्वाण्येवंतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥

एष ब्रह्मा । एष इन्द्र । एष प्रजापति । एते सर्वे देवाः । इमानि  
च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतीष्येनाग्नीमानि च  
क्षुद्रमिधार्णोश्च बीजानीतराणि चैतराणि चाण्डजानि च जारजानि च  
स्वेदजानि बोद्धिग्जानि चाग्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेद प्राणि-  
जानि च पत्तत्रि च मत्स्य स्यात्वरम् । सर्वं तन् प्रज्ञानेवम् । प्रज्ञाने  
प्रतिष्ठितम् । प्रज्ञानेवो लोकः । प्रज्ञा प्रतिष्ठा । प्रज्ञान ब्रह्म ॥ स एनेन  
प्रज्ञेनामनात्माल्लोकादुत्त्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामान्नाप्त्वा-  
ऽमृत मयश्चवन् मयश्चवन् ॥

—एत० ३ १-४

उपर्युक्त गद्यगण्ड में कुछ वाक्य छोटे-छोटे हैं तथा कुछ बहुत लम्बे भी। परन्तु ये वाक्य लम्बे होने पर भी उद्वेगक नहीं, अपितु मुगठित गद्य के रूप में प्रतीत होते हैं। यहाँ अममन् तथा अकृत्रिम एवं अनु-प्रानात्मक तथा रचिरर वाक्या द्वारा आध्यात्मिक विषय को मग्न शैली में प्रस्तुत किया गया है। शार्ङ्गिक मन को चूर्णक गद्य द्वारा सहज रीति में प्रस्तुत करने की दिशा में श्लेषि की यह पद्धति गहन विषय को अनापान ही हृदयाम करा देती है। यही इस उपनिषद् के गद्य का मोष्टक है।

(ङ) तस्य च ध्रुव स्यादन्वराध्य । अद्भि सोम्य शृणुते तेऽभ्युत्तमन्त्रिचक्षुः ।  
लेत्रगा सोम्य शृणुते गन्धुनमन्त्रिचक्षुः । भामूना सोम्येमा सर्वा प्रजा  
महापनना नःप्रतिष्ठा । यथा नु यन्तु सोम्येमास्त्रिचक्षुः देवता पुर-  
शाय त्रिर्वात्रिर्देवं वा भवति तदुच्यते पुरस्तादेव भवति । अस्य सोम्य

पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सपद्यते, मन प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्या देवतायाम् ॥

—छा० ६ ८ ६

त य एषोऽग्निर्मतवात्म्यमिव सर्वम् । तत् सत्यम् । स आत्मा । तस्वमसि । ॥

—छा० ६ ८ ७

(च) बल वाच विज्ञानाद् भूय । अपि ह शत विज्ञानवनामेको बलवाना-  
कम्पयते । स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवति । उत्तिष्ठन् परिचरिता  
भवति । परिचरन्नुपसत्ता भवति । उपसोऽन् द्रष्टा भवति श्रोता भवति  
मन्त्रा भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति धिताता भवति । बलेन वै  
पृथिवी तिष्ठति । बलेनान्तरिक्ष बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या  
बलेन पशवश्च वपसि चतुर्गवन्स्पतय श्वापदान्याकोटपतगपिपोलकम् ।  
बलेन लोकस्तिष्ठति । बलमुपास्वेति ॥

—छा० ७ ८ १

(छ) तो होचतुयं आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युविशोको विजिघ्रितो-  
ऽपिपास सत्यकाम सत्यसकल्प सोऽन्वेष्टव्य स विजिज्ञासितव्य ।  
स सर्वाश्च लोकानाप्नोति सर्वाश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य  
विज्ञानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते ॥

—छा० ८ ७ ३

छान्दोग्य उपनिषद् से उद्धृत चूर्णक गद्य के उपर्युक्त भागों में अनुप्रासात्मक शैली का अवलम्बन किया गया है । इसके अतिरिक्त यहाँ माधुर्य गुण तथा वैदर्भी रीति की भी झलक मिलती है । उपनिषदों में प्रायः एसी व्याख्यात्मक शैली के दर्शन होते हैं जो कि वाञ्छल नहीं । गद्य के ऐसे अश परवर्ती काल में विकसित प्राजल गद्य के पुरोगामी प्रतीत होते हैं ।

(ज) आत्मवेदमप्र आतोदेक एव । सोऽकामयत जगता मे स्यादथ प्रजायेय ।  
वित्त मे स्यादथ कर्म कुर्वीति । एतावान् वै काम । नेच्छश्च नातो  
भूयो विन्देत् । तम्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते—जाया मे स्यादथ  
प्रजायेयाथ वित्त मे स्यादथ कर्म कुर्वीति । स याददप्येतेयामेकैक न  
प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते । तस्यो वृत्स्यता । मन एवास्यात्मा ।  
याजाया । प्राण प्रजा । चक्षुर्मानुष वित्तम् । चक्षुया हि तद्विन्दते ।

धोत्र इवम् । श्रोत्रेण हि तच्छृणोति । आत्मैवास्य कर्म । आत्मना हि कर्म करोति । ...

—वृ० १ ४. १७

- (झ) \*\* न वा अरे पत्यु कामाय पति प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति । न वा अरे जायाय कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो भन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मंत्रेपि । आत्मनो वा अरे दानेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्वं विदितम् ॥

—वृ० २ ४ ५

- (ञ) ब्रह्म त परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद । क्षत्र त परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मन क्षत्र वेद । लोकास्तु परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो लोकान् वेद । देवास्त परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान वेद । भूतानि त परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो भूतानि वेद । सर्वं त परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मन सर्वं वेद । इद ब्रह्मेद क्षत्रमिमे लोक । इमे देवा इमानि भूतानीद सर्वं यदयमात्मा ॥

—वृ० २ ४ ६

ऊपर उद्धृत गद्यांश के अनुशीलन में स्पष्ट होता है कि बृहदारण्यक का गद्य मुपनिषिद्धि है। यद्यपि इसमें गद्यग्रन्थ लम्बे हैं, पर वाक्य छोटे और हृदयावर्जक हैं। अधिकतर गद्यरचना मरत तथा ललित है। भाषा मधुर एवं भावानुग्रहक है। इस प्रकार यह पारदर्शी गद्य है। वाक्या की याजना मशिनष्ट और जटिल न हाकर भी परम्पर प्रथित तथा ओजस्वी है। यहाँ यद्यपि पदा की पुनरुक्ति हुई है, पर इसमें अर्थ का पापण ही होता है। अतः यह दाप नहीं है।

बृहदारण्यक में मुन्दर गद्य के उदाहरण हमें २ ४ ७ में नेर ०.४ १८ तथा ० ५ १ में ० ५ १५ तक भी निरन्तर मिलते हैं।

त्रैविज साहित्य में जिस प्रकार कामरत्ता में चरता हृषीकेश शरम्भरी में जारर मुद्रिमित एक मुनरित तथा परिनिष्ठित दिव्यार्द देना है, इसी प्रकार उपनिषत्कालीन गद्य बृहदारण्यक में पूर्णरूपण

विकसित एव परिनिष्ठित दिखार्द देता है। तथा च, बृहदारण्यक में गद्य के तीनो रूपो—चूर्णक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्रथम—के दर्शन होते हैं।

### ६.१२. वृत्तगन्धि गद्य (पद्यात्मक)

पद्याशो से युक्त अथवा पद्यसमान गद्य वृत्तगन्धि कहलाता है। ऐसे गद्य में वस्तुतः कोई छन्द नहीं होता, पर वृत्त अथवा छन्द की गन्धि रहती है। पाठको को आपातत इसमें पद्य की प्रतीति होती है। गद्य के इस रूप के भी दर्शन कुछ उपनिषदों में कहीं कहीं मिलते हैं। यथा,

केनेपित पतति श्रेषित मन केन प्राण प्रथम प्रति पुरत । केनेपिता  
वाचमिमां वदन्ति चपु श्रोत्र क उ देवो युनक्ति ॥

—केन० १ १

प्रश्नोपनिषद् में इस प्रकार के गद्य के पर्याप्त मात्रा में दर्शन होते हैं। कतिपय उदाहरणों को यहाँ देखा जा सकता है—

अथाऽऽदित्य उदयन् पृथ्वीं दिशः प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु  
सनिधत्ते । यदृक्षणा पृथ्वीं चो यदुदीची यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं  
प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सनिधत्ते ॥

—प्रश्न० १ ६

प्रजापतिरचरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे । भुभ्य प्राण प्रजास्त्विमा वन्ति  
हरन्ति य प्राणं प्रतितिष्ठसि ॥

—प्रश्न० २ ७

पायूपस्थेऽपानम् । चक्षु श्रोत्रे मुवतासिक्वाम्पः प्राण स्वय प्रातिष्ठते ।  
मध्ये तु समान ।

—प्रश्न० ३ ५

स यथा सोम्य वपासि वासोबृक्ष सप्रतिष्ठन्ते । एव ह वं तत्सर्वं पर  
आत्मनि सप्रतिष्ठते ॥

—प्रश्न० ४ ७



उपर्युक्त मन्त्रों में ऐसी लयात्मकता है जिससे यह गद्य पद्य-मा पढ़ा जा सकता है। लौकिक साहित्य में इस प्रकार के गद्य का अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब पद्य से गद्य में निम्नने की प्रवृत्ति हुई होगी, तो प्रथम इस प्रकार का ही गद्य लिखा गया होगा। अतः यह गद्य, गद्य और पद्य के बीच की कड़ी को जोड़ता हुआ प्रतीत होता है।

### ६ १ ३ उत्कलिकाप्राय गद्य (उत्कटपदयुक्त)

चूर्णक से विपरीत गद्य उत्कलिकाप्राय कहलाता है, जो दीर्घ-समास तथा उत्कट पदा म युक्त होता है। उपनिषदों में दीर्घ समासों का तो प्रायः अभाव है, पर लम्बी लम्बी सन्धियों तथा क्लिष्ट पदों के कारण उत्कट तथा जटिल रचना के यत्र-तत्र दर्शन होते हैं। यथा,

(क) नान्त प्रज्ञ न बहि प्रज्ञ नोभयत प्रज्ञ न प्रज्ञानघन न प्रज्ञ नाप्रज्ञम् ।  
अदृष्टमन्यबहार्थमप्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेशमेकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चो-  
पज्ञम शात शिवमर्द्धत चतुर्यं मन्यन्ते । स आत्मा । स विज्ञेयः ॥

—मा० ७

(ख) तदेतत्सृष्ट पराटपञ्चिषासत् । तद्वाचाऽजिघृक्षत् । तन्नाशकनोद्वाचा  
पठोतुम् । तद्दर्शनं वाचाऽप्रैष्यदभिव्याहृत्य हेवान्ममवप्यत् ।<sup>१</sup>

—ऐत० १ ३ ३

(ग) प्रजापतिलोकानभ्यतपत् । तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्तपसो विद्या सप्रास्वयत् ।  
तामभ्यतपत् । तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि सप्रास्वयन्त भुभुव  
स्वरिति ॥

—छा० २ २३ २

(घ) पुरा माप्यदिनस्य शकनस्योपाकरणस्यनेनाऽऽग्नीध्रोपस्योदरमुप उप-  
प्रिय स रोद्र सामाभिवायति ॥

—छा० २ २४. ७

१ इसी प्रकार की रचना एतरेय० १ ३४ ग १.३ ६ तक निरन्तर मिलती है।

- (ड) त हीवाच—एतद्वै तदक्षर गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्यूलमनस्त्रहस्व-  
मदीर्घमन्तोहितमस्नेहमस्त्र्यापमतभोऽवाप्यमाफाशमसगमरसमगन्धमद्यक्षुष्क-  
मध्रोत्रमवागधनोऽतेजस्कमप्राप्तममुखमगात्रमन्तरमबाह्याम् । ...

—वृ० ३. ८ ८

- (च) यत्र वा अभ्यदिव स्यात् तत्रान्योऽन्यत् तत्रपेदन्योऽन्यगिजप्रेदन्योऽन्यत्र-  
सपेदन्योऽन्यत्रवेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्नोऽयन्नन्योऽतान्योऽन्यत् स्पृशेदन्यो-  
ऽन्यद्विजानीयान् ॥

—वृ० ४ ३ ३१

## ६. २. निष्कर्ष

उपनिषदों के गद्य का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि उपनिषदों का गद्य प्रायः अल्पममाभात्मक एव अनुप्रासमय चूर्णक गद्य की कोटि का है। इसके पद मधुर तथा वाक्य छोटे और सरल हैं। दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचन के कारण ऋषियों की शैली रवभावतः व्याख्यात्मक, विवरणमयी और विश्लेषणपूर्ण है। अनेक स्थलों में उपनिषदों की शैली उपदेशात्मक हो गई है, जैसे कि तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली के अनुवाक ११ में।

उपनिषदों के गद्य-भागों में अनेक स्थलों में एक पद, वाक्य अथवा वाक्यांश की आवृत्ति हुई है। उपनिषद्कारों ने यद्यपि इस प्रकार में आवृत्ति अपने भाव को स्पष्ट करने के लिए अथवा अर्थ के पोषणार्थ की होगी, पर इस कारण उन स्थलों पर गद्य अरुचिकर तथा उद्वेजक प्रतीत होता है, और अपरिष्कृत भी। जैसे, तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली के नवम अनुवाक में १७ वार स्वाध्यायप्रवचने पद की आवृत्ति की गई है।<sup>१</sup> इसका दो एक वार प्रयोग करके गद्य को नीरस होने से बचाया जा सकता था। इसी उपनिषद् की ब्रह्मवल्ली के अष्टम अनुवाक में ते वे शतम् की १० वार श्रोत्रियस्य चाक्रामहतकस्य की १० वार, आनदा पद की ६ वार तथा मनुष्यगन्धर्वानाम्, देवगन्धर्वानाम्, पितॄणां विश्वोक्ताणाम्, आजानजानां देवानाम् आदि पदों की दो दो वार आवृत्ति हुई है जो कि परिहार्य थी। इस अनावश्यक पुनरुक्ति के कारण इस अनुवाक की रचना एकमुरापन लिए है, और अरोचक ही नहीं उवाच भी हो गई है।

१ शतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । मानश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजां च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजानिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ।

यही दोष तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्की के अनुवाक २ से अनुवाक ५ तक पाया जाता है। इस प्रसंग में अधोहि भगवो ब्रह्मेति । त होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा वाक्य की प्रत्येक मन्त्र में उमी क्रम से आवृत्ति हुई है। तथा, -- ब्रह्मेव छत्विमानि भूतानि जपन्ते, जातानि जीवन्ति, प्रथन्त्यभिसचिन्तन्ति और विजिज्ञासस्व की बार-बार आवृत्ति भी अखण्ठी है। सातवें, आठवें तथा नवें अनुवाको में भी पदों की आवृत्ति हुई है। अपने भाव को विशिष्ट भाषा में अभिव्यक्त करके ऋषि अपनी रचना को सुन्दर व आकर्षक बना सकता था।

ऐतरेयोपनिषद् के १ ३ ३-१० मन्त्रों में अजिघृक्षत्, प्रहीतुम्, अप्रहृष्यत्, अत्रप्स्यत् पदों की लगभग एक दर्जन बार एक ही स्थान पर आवृत्ति से जहाँ यह गद्यभाग गरिष्ठ प्रतीत होता है, वहाँ रचना शिथिल और बोझिल भी हो गई है।<sup>१</sup>

ऐतरेय० १ २ ४ में प्राधिगत् पद की सात बार तथा १ ३ ११ में मरि पद की आठ बार निरर्थक आवृत्ति हुई है। और, जहाँ स्पष्टता के हेतु पद प्रयोग आवश्यक था वहाँ वे सर्वथा प्रयुक्त नहीं किए गए। जैसे, ऐत० १ ३ १२<sup>३</sup> में अचक्षत् क्रियापद की तीन बार आवृत्ति की गई है जब कि एक ही बार के प्रयोग से भाव स्पष्ट हो सकता था। और यही मस्तक, कंठ और हृदय का निर्देश करने के लिए बेचल अपम्

१. तदेतत्सृष्टं पराऽऽत्यजिघासत् । तद्वाचाऽजिघृक्षत् । तन्नाशकनोद्वाचा प्रहीतुम् । तर्धनद् वाचाऽप्रहृष्यदभिसचिन्तन्त्वाद्वाह्य हैवान्ममत्रप्स्यत् ॥३॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् । तन्नाशकनोत् प्राणेन प्रहीतुम् । स यर्धनत् प्राणेनाप्रहृष्यदभिसचिन्तन्त् हैवान्ममत्रप्स्यत् ॥४॥

तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत् । तन्नाशकनोच्चक्षुषा प्रहीतुम् । स यर्धनत्चक्षुषाऽप्रहृष्यद् हुत्वा हैवान्ममत्रप्स्यत् ॥५॥ इत्यादि ।

२. तस्य त्रय आवततयास्त्रय स्वप्ना अयनायमयोऽयमावतयोऽयमावतय इति ।

सर्वनाम का ही प्रयोग किया गया है, जिससे मूलपाठ अस्पष्ट एवं सन्दिग्ध हो गया है।

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् १ ७ की छ पक्तियों में सात वार ऋच्यध्रुव नाम की पुनरुक्ति है। इसी उपनिषद् का प्रपाठक २ तो सारे वा साग पृथ्वी हिंकार प्रस्ताव, प्रतिहार, निघन, अपराह्न, मध्य-दिन, जघन आदि नीरम पदा की आवृत्ति से भरा पडा है, अतः वही रचना अपरिष्कृत लगती है।

## ६-३. कथात्मक तथा नाटकीय गद्य

शास्त्रीय दृष्टि से चूर्णक, वृत्तगन्धि तथा उत्कलिकाप्राय गद्य के अतिरिक्त उपनिषदों में कथात्मक तथा नाटकीय गद्य का रूप भी उभरता दिखाई देता है।

### ६.३.१. कथात्मक शैली

तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्की में ब्रह्मप्राप्ति का मुख्य साधन पञ्चकोशविवेक दिखलाने के लिए वरुण और भृगु का आख्यान दिया गया है। आत्मतत्त्व का जिज्ञासु भृगु अपने पिता वरुण के पास जाता है। पुन-पुन सन्देह होने और पुन-पुन वरुण के आदेशानुसार तप द्वारा उसने निर्द्वय रूप से जाना कि आनन्दो ब्रह्मेति।

कथा-शैली का जो रूप तैत्तिरीय उपनिषद् में प्रस्फुटित हुआ, वही छान्दोग्य उपनिषद् में पल्लवित होता दीखता है। इस उपनिषद् में उपासना और ज्ञान का विवेचन है। इन दोनों विषयों को सुगमता से समझाने के लिए स्थान स्थान पर कई आख्यायिकाएँ दी गई हैं। इन कथा-गद्दति में उन गहन विषयों के हृदयगम होने में सहायता-प्राप्ति के अतिरिक्त कई प्रकार की शिक्षाएँ भी मिलती हैं। प्रथम अध्याय में इभ्य ग्राम में रहने वाले उपस्ति की कथा है। उपस्ति कुशल कर्मकाण्डी थे। एक वार कुरुदेश में, जहाँ वे रहने थे, ओले और पत्थरों की वर्षा के कारण ऐसा अकाल पड़ा कि उन्हें कई दिनों तक निराहार रहना पड़ा। जब प्राणमकट उपस्थित हुआ तो उन्होंने एक हाथीवान में कुछ खाने को मागा। उसके पास कुछ उडद थे, परन्तु वे उच्छिष्ट थे। इसलिए उन्हें देने में उसे हिचक हुई। परन्तु उपस्ति ने उन्हें को माग कर अपने प्राणों की रक्षा की। जब हाथीवान उच्छिष्ट जल भी देने लगा तो उपस्ति ने 'यह उच्छिष्ट है', ऐसा कहकर निषेध कर दिया। इस पर जब हाथीवान ने शका की कि क्या जूठे उडद खाने में उच्छिष्ट-भोजन का दोष नहीं हुआ ? तो वे बोले—

न वा अजीविष्यभिसानयादन् ... कामो मे उदपातम् ।

इस प्रकार उच्छिष्ट जन का निषेध करके उपनिषि ने यह आदर्श उपस्थित कर दिया कि मनुष्य आचार मन्वन्धी नियमों की उपेक्षा तभी कर सकता है जब कि उसका विना प्राणरक्षा का कोई दूसरा उपाय ही न हो ।

किसी भी कल्याणकारी विद्या का ग्रहण करने के लिए मनुष्य का कितना त्याग, तप, मवा, मत्य, विनय आदि की आवश्यकता है— यह बात छान्दाग्य उपनिषद् में जानश्रुति की कथा, मत्यनामजावान की कथा श्वनवनु की कथा तथा अश्वपति की कथा द्वारा प्रदर्शित की गई है ।

गद्य का यह क्यात्मक रूप यद्यपि प्रौढता नहीं, तथापि रोचक, सुप्रसिद्ध विषय एव माहृष्य है । इस क्यात्मक गद्य की भाषा सरल है और वाक्य छोट छोट हैं । अनावश्यक विस्तार या पुनर्वक्ति भी नहीं है । शैली भी जटिल न होकर अदृष्टिम है ।

### ६ ३ २. नाटकीय अथवा सबादात्मक शैली

उपनिषदा के श्रुतियाँ न ब्रह्मतत्त्व, ज्ञान, उपासना आदि का उपदेश ज्ञानामु शिष्या का प्रश्नात्तर रूप में दिया था । इस कारण इन मन्वन्धीय मन्वादा का हाना स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी था ।

प्रश्नापनिषद् में मन्वन्धी, भागव, कौमल्य, गार्ग्य, मत्यनाम और मुकशा के प्रश्नात्तरात्मक मवाद, तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवर्ती में भृगु-वार्गण मवाद, छान्दाग्य उपनिषद् १ ८ में शितक, दान्म्य और प्रवाहण का उद्गीथविषयक मवाद, छान्दाग्य ० ४ ४ में मत्यनाम जवाना तथा हारिद्रुमन गौतम का वार्तालाप, बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य-गार्गी, याज्ञवल्क्य मंत्रधी, तथा जनक-याज्ञवल्क्य मवाद इस शैली के प्रमुख उदाहरण हैं । छान्दाग्य और बृहदारण्यक उपनिषदा का श्रुतिज्ञान भाग मवादों में ही है । छान्दाग्य उपनिषद् में जानश्रुति रत्न, अश्वपति श्रोपमन्थक, अश्वपति-मत्ययज्ञ, अश्वपति इन्द्रद्युम्न, अश्वपति जन, अश्वपति-बृद्धित, अश्वपति उद्दानर आदि के मवाद तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य-आतभाग, याज्ञवल्क्य भृगु, याज्ञवल्क्य उपनिषि, याज्ञवल्क्य-कहान, याज्ञवल्क्य धारणि, याज्ञवल्क्य शाकन्ध आदि के मवाद द्रष्टव्य हैं ।

मनुष्यों के परस्पर मवाद के प्रतिरिक्त छान्दोग्य उपनिषद् ५ १ में अपनी अपनी श्रष्टता स्थापित करते हुए वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि का, तथा इसी प्रकार वृहदारण्यक ६ १ में अपनी श्रष्टता के लिए विवाद करते हुए वागादि प्राणा का भी, ब्रह्मा के पाम जाकर पारम्परिक सवाद मिलता है ।

उपनिषदा में प्राप्त उपयुक्त नाटकीय अथवा सवादात्मक शैली के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं —

१ मंत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य — उद्यास्पन् वा अरे अहमस्मात् स्थानारस्मि । हन्त तेजसा कात्यायन्याऽन्त करवाणीति ।

सा होवाच मंत्रेयी—यन्तु म इय भगो सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथ तेनामृता स्यामिति ।

नेति होवाच याज्ञवल्क्य । मयंबोधोपकरणवना जीवित तथैव ते जीवित स्यात् । अमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेनेति ।

सा होवाच मंत्रयो—येनाह नामृता स्या किमह तेन कुर्याम् । परेष भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति ।

त होवाच याज्ञवल्क्य — प्रिय बन्दारे न ततो प्रिय भाषते । एह्यास्त्व । व्याख्यास्यामि ते । व्यावसायस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ।

—पृ० २ ४ १ ४

२ ते हेमे प्राणा अहं ध्येयते विवदमाना बह्य जग्मु । तदोचु — को नो पतिष्ठ इति । तदोवाच—यस्मिन्व उत्पान्त इदं गरीर पापीमो मन्यते स यो वसिष्ठ इति ॥

वायोच्चक्राम । सा सबन्धर प्रोप्यागत्योवाच—इयमसकत मद्दे जीवितुमिति । ते होचु — यथाऽन्ता अवदन्तो वाचा प्राणन्त प्राणेन परयन्त इवभूया शृण्वन्त श्रोत्रेण विद्रासो मनसा प्रजायमाना रेतसंबमजीवित्नेति । प्रविचेता ह वाक् ॥



क्षुर्होच्चक्राम । तत्सवत्सर प्रोप्यागत्योवाच—कथमशकत मद्गते जीवितुमिति । ते होचु—यथाऽन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्त प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्त श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसंवमजीविष्येति । प्रविवेश ह चक्षु ॥

श्रोत्र होच्चक्राम । तत्सवत्सर प्रोप्यागत्योवाच—कथमशकत मद्गते जीवितुमिति । ते होचु—यथा बधिरा अशृण्वन्त श्रोत्रेण प्राणन्त प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसंवमजीविष्येति । प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥

मनो होच्चक्राम । तत्सवत्सर प्रोप्यागत्योवाच—कथमशकत मद्गते जीवितुमिति । ते होचु—यथा मुग्धा अविद्वांसो मनसा प्राणन्त प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्त श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसंवमजीविष्येति । प्रविवेश ह मन ॥

रेतो होच्चक्राम । तत्सवत्सर प्रोप्यागत्योवाच—कथमशकत मद्गते जीवितुमिति । ते होचु—यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्त प्राणेन वदतो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्त श्रोत्रेण विद्वांसो मनसंवमजीविष्येति । प्रविवेश ह रेत ॥

अथ ह प्राण उत्प्रमिष्यन् यथा महासुहृष सग्यथ पद्भ्वीशशक्नु सद्बृहेदेव ह्वेमान प्राणान सववर्त् । ते होचु—मा भगव उत्प्रमी । न चं शक्यामस्त्यद्गते जीवितुमिति । तस्यो मे वलि कुन्देति । तथेति ॥

मा ह वागुवाच—यद्वा अह यत्तिष्ठोऽस्मि त्व तद्वसिष्ठोऽसीति । यद्वा अह प्रतिष्ठोऽस्मि त्व तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षु । यद्वा अह सपदस्मि त्व तत्सपदसीति श्रोत्रम् । यद्वा अहमायतनमस्मि त्व तदायतनमसीति मनो यद्वा अह प्रजानिरस्मि त्व तत्प्रजानिरसीति रेत । तस्यो मे त्रिमन् कि वास इति । यदिव किंचा श्वभ्य आ कृमिभ्य आ बीटपतगेभ्यस्तत् तेऽन्नम् । आपो याम इति । न ह वा अस्यानन् जग्य भवति, नानन्नं प्रतिगृहीत, य एवमेतद्वनस्यान्न वेद । तद्विद्वांसो श्रोत्रया अगप्यन्त आचामन्तपशित्वाऽऽचामन्ति एतमेव तदनमनान् कृवन्तो मयन्ते ॥

ग्रौपनिपदिक गद्य की इस नाटकीय शैली से स्पष्ट होता है कि उपनिषद्-कालीन यह शैली सहिताकालीन सवादात्मक शैली तथा लौकिक संस्कृत में लिखित नाटकीय शैली के बीच की वह कड़ी है, जो दोनों को जोड़ती है। लौकिक संस्कृत के नाटको का सम्बन्ध एकदम सहिताकालीन कथात्मक या नाटकीय सवादात्मक शैली से न होकर उपनिषद्कालीन इस नाटकीय शैली से रहा होगा। इस प्रकार सहिताकाल में अकुरित नाटकीय विधा उपनिषद्काल में पल्लवित हुई, और लौकिक संस्कृत में विशालवृक्ष के रूपा में पनपी। अतः लौकिक नाटकीय शैली का जो सीधा सम्बन्ध वेद में प्राप्त 'यम यमो सवाद' इत्यादि से जोड़ते हैं, वे उपनिषद्कालीन इस शैली को भूले हुए हैं।

उपर्युक्त विवेचन से गद्य-रचना की प्रत्येक शैली का उत्तरवर्ती साहित्य पर पूरा प्रभाव परिलक्षित होता है।



## उपसंहार

इस अध्ययन में सिद्ध होता है कि उपनिषद् साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है तथा इनका काव्यात्मक अध्ययन इनमें निहित गहन दर्शन को समझने में महायुक्त हो सकता है। तथा च, प्रतीत होता है कि परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य के सभी तत्त्वों के बीज इनमें विद्यमान हैं।

उपनिषदों के ऋषि वास्तविक कवि थे। वे लक्षणग्रन्थों के अभाव में भी, ब्रह्मज्ञान की मस्ती में, सुन्दर काव्य-रचना कर गए। प्लेटो ने भी कहा है कि "सभी धार्मिक तथा आध्यात्मिक काव्यों का मूल 'उन्मादक देवी उत्प्रेरणा' है। इन महान् काव्यों के रचयिताओं ने काव्यरचना में उत्कर्ष किसी कला के नियमों का पालन करके प्राप्त नहीं किया था, अपितु आनन्दमय ईश्वरीय ज्ञान की मस्ती में मधुर गीत गाए थे।"

अतः इस कथन में अनिश्चयवित्त न होगी कि,

वेदोऽस्ति काव्यमूलम् ।

---

१ "The authors of those great poems do not attain to excellence through the rules of any art but they utter beautiful melodies of verse in a state of inspiration, and, as it were, possessed by a spirit not their own"

(Plato in his *Ion* quoted by R D Ranade in *A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy*, Oriental Book Agency, page 9, Poona, 1926)

परिशिष्ट

## (क) उपनिषदों के उपमान

किमी भी अभिव्यक्ति को सुन्दर रूप देने तथा उसे बोधगम्य बनाने के लिए उपमानों का अत्यधिक महत्त्व है। ऋग्वेद से लेकर आज तक सभी कवि अपनी उक्ति को उचित उपमानों से अलंकृत करते आए हैं। कालिदास के उपमान तो प्रसिद्ध ही हैं, परन्तु उपनिषदों के ऋषि भी उपयुक्त उपमानों की योजना में किसी में कम नहीं हैं। ऋग्वेद के समय से उन्हें उपमान-योजना की सुव्यवस्थित परम्परा धरोहर के रूप में मिली और वही परम्परा कालिदास आदि परवर्ती कवियों को प्राप्त हुई। जिस प्रकार ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के उपमान सार्वजनिक जीवन के विविध क्षेत्रों से चयन किए गए हैं, उसी प्रकार उपनिषद् के ऋषि ने भी अपने आध्यात्मिक चिन्तन तथा गहन दर्शन को बोधगम्य तथा सुन्दर बनाने के लिए अपने समय के वातावरण से ही उपयुक्त उपमानों को ग्रहण किया है। ये उपमान बहुधा ऐसे पदार्थ हैं जो ऋषि के जीवन में प्रतिदिन व्यवहार में आते थे, जैसे यज्ञ, अग्नि, हवि, चरु आदि अथवा जो उस समय के वातावरण में जन-साधारण के दर्शन तथा अनुभव का विषय थे, जैसे कि आकाश-मण्डल में उदीयमान सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तथा भूमण्डल में प्रवहमान नदियाँ, उन्नत पर्वत, वृक्ष, पशु, पक्षी, याता-यात के साधन अश्व, रथ आदि तथा व्यवहार में आने वाले अन्य पदार्थ जैसे क्षुर, पाश, मुज, इषीवा आदि। इन उपमानों को हम स्थूल रूप में पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) दिव्य, (२) वनस्पति, (३) जीवजन्तु, (४) दैनिक व्यवहार में आने वाले पदार्थ तथा (५) अन्य।

### १. दिव्य

सूर्य

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः ।

—कठ० ५. ११

वज्र

महद्भयं वज्रमुद्यतम् ।

—कठ० ६. २

मरीचि

यथा गार्ग्यं मरीचयोऽङ्गस्यान्तं गच्छतः ।

—प्रश्न० ४. २

रश्मि

एवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोको गच्छन्तीम चामु च ।

—छा० ८ ६ २

द्यौ

यथा द्यौरिन्द्रण गभिणी ।

—बृ० ६ ४ २२

विद्युत्

यथा मृद्विद्युत्तम् ।

—बृ० २ ३ ६

## २. वनस्पति तथा अन्य प्राकृतिक पदार्थ

अश्वत्थ

ऊर्वमूलोऽत्राकशाख एपोऽश्वत्थ सनातन ।

—कठ० ६ १

भुज इषोषा

भुजादिवेपीका धैर्येण ।

—कठ० ६ १ १७

वश

अमी वा आदित्यो देवमधु । तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवश ।

—छा० ३ १ १

घ्रीहि यष, सर्पेष, श्यामाक तण्डुल

एष म आत्मान्तर्हृदयऽणीयाऽत्रीहेर्वा यवाद्वा सर्पपाद् वा श्यामा-  
वाद्वा श्यामावतण्डुलाद् वा ।

—छा० ३ १४ ३

सस्य

सम्यमित्र मर्त्यं पच्यते ।

—कठ० १ ६

पुण्डरीक

तस्य ह्रिनस्य पुरुषस्य रूप यथा पुण्डरीकम् ।

—बृ० २ ३ ६

वृक्ष, पर्णं, त्वष्, रस शकल, कीनाट, दाह

यथा वृक्षो वनस्पतिन्तर्धेव पुरुषाऽमृषा ।

तस्य सामानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका वहि ॥

त्वच एवास्थ रुधिर प्रस्पन्दि त्वच उत्पट ।  
 तस्मात्तदातृष्णात् प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात् ॥  
 मासान्वस्य शकराणि किनाट स्नाव तस्मिन् रम् ।  
 अस्यीन्यन्तरतो दारुणि मञ्जा मञ्जीपमा कृता ॥

—बृ० ३ ९ २८

वृक्ष

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येवास्तेनेद पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।

—श्वे० ३ ९

ग्रास्र, उदुम्बर, पिप्पल

तद्यथा ग्रास्र वोदुम्बर वा पिप्पल वा वन्धनात् प्रमुच्यते ।

—बृ० ४ ३ ३६

घोषघ्न

यथा पृथिव्यामोषघ्न सम्भवन्ति ।

—मु० १ १ ७

अपूप (मधुकोश, तु० शाकर)

तस्य द्यौरेव तिरस्नीनवशोऽन्तरिक्षमपूप ।

—छा० ३ १ १

उदक

यथोदक दुर्गे वृष्टम् ।

—कठ० ४ १४

अग्नि

अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्ट ।

—कठ० ५ ९

वायु

वायुर्यथैको भुवन प्रविष्ट ।

—कठ० ५. १०

ज्योति

अगुष्ठमात्र पुरुषो ज्योतिरिवाधूमक ।

—कठ० ४ १३

नदी, समुद्र

नद्य स्यन्दमाना समुद्रायणा. समुद्र प्राप्वास्त गच्छन्ति ।

—प्रश्न० ६ ५

ऊर्मि, घ्रावतं (भवर), घोष

पचस्रोतोन्बु पचयोन्पुग्रवत्रा पचप्राणोमि पचवुद्भ्यादिमूलाम् ।

पचावर्ता पचदु खौघवेगा पचाशद्भेदा पचपवामिधीम ॥

—श्वे० १ ५

गिरि

कीर्त्ति पृष्ठ गिरेरिव ।

—तै० १ १०

छाया, आतप

छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ।

—कठ० ६ ५

तमस (अन्धकार)

मृत्युर्वे तम ।

—वृ० १ ३ २८

### ३. जीवजन्तु

मक्षिका, मधुरुर

तद्यया मक्षिका मधुकरराजानमुत्त्रामन्तम् ।

—प्रश्न० २ ४

वयासि

स यथा सोम्य वयासि वासोवृक्ष सप्रतिष्ठन्ते ।

—प्रश्न० ४ ७

पादोदर (सर्प)

यया पादोदरस्त्वचा विनिमुंध्यते ।

—प्रश्न० ५ ५

ऊर्णनाभि

यथोर्णनाभि नृजते गृह्णते च ।

—मु० १ १ ७

तन्तुनाभ

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभि प्रधानजं स्वभावतो देव एव स्वमायुणोति ।

—श्वे० ६. १०

मुपर्णा (पक्षी)

द्वा मुपर्णा सयुजा सखाया ।

—मु० ३ १ १



श्येन (बाज)

श्येनो जवसा निरदीयम् ।

—ऐत० २ ५

प्रवि (भेड), इन्द्रगोप

यथा पाण्ड्वाविकम्, यथेन्द्रगोप ।

—वृ० २ ३ ६

तृणजलायुका

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यात्त गत्वा ।

—वृ० ४ ४ ३

धेनु

वाच धेनुमुपासीत ।

—वृ० ५ ८ १

ह्य (घोडा)

इन्द्रियाणि ह्यानाहु ।

—कठ० ३ ४

ऋपभ

तस्या प्राण ऋपभो मनो वत्स ।

—वृ० ५ ८ १

महामत्स्य

तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसचरति पूर्वं चापरं चैवमेवाय  
पुरुष एतावुभावन्तावनुसचरति ॥

—वृ० ४. ३ १८

हस

प्राणेन रक्षन्नुवर कुलाय वहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा ।

स ईयतेऽमृतो यत्र काम हिरण्मय पुरुष एकहस ॥

—वृ० ४ ३ १२

### ४. दैनिक व्यवहार में आने वाले पदार्थ

सृका

सृका चैमामनेवरूपा गृहाण ।

—कठ० १ १६

पाश

स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य ।

—कठ० १ १८

उडुप

ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतासि सर्वाणि भयावहानि ।

—श्वे० २ ८

प्लव

प्लवा ह्यते अदृढा यज्ञरूपा ।

—मु० १ २ ७

अन (शकट)

तद्यथाऽन सुसमाहितम् ।

—बृ० ४ ३ ३५

रथ

आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमव तु ।

—कठ० ३ ३

प्रग्रह

भन प्रग्रहमेव च ।

—कठ० ३ ३

क्षुर

क्षरस्य धारा निशिता दुरत्यया ।

—कठ० ३ १४

आदर्श

यथाऽऽदर्शं तथाऽऽत्मनि ।

—कठ० ६ ५

धनु शर

धनुगहीत्वौपनिषद महास्त्र शरम् ।

—मु० २ २ ३

अऽमा

यथाऽऽमानमापणमृत्वा विध्वसते ।

—द्या० १ २० ८

अधवृगल (द्विदल अन्न वा एक दन तु० अन्न)

नम्मादिदमधवृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्य ।

—बृ० १ ४ ३

माहारजन वास (कुमुभे स रगा वस्त्र)

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूप यथा माहारजन वास । —बृ० २ ३ ६

सं-घबलित्य (नमक वा टुकडा)

म यथा संघबलिन्य उदरं प्राप्नोति ।

—शु० २ ४ १२

**घात्रैषा**

यथाद्रैघारग्नेरभ्याहितात् । —वृ० २ ४ १०

**अरणी**

हिरण्मयी अरणी याम्वा निर्मन्थतामश्विनी । —वृ० ६ ४. २२

**समिद्ध (यज्ञ)**

मम समिद्धेऽह्वीपी प्राणापानौ त आददे । —वृ० ६ ४ १२

**पद्बीशशकु (पाव वाघने का खूटा)**

यथा गुह्य पद्बीशशकून् । —छा० ५ १ १२

**दधि**

तिलेषु तैल दधनीव सर्पि । —श्वे० १ १५

**सर्पि, क्षीर**

सर्वंन्यापिनमात्मान क्षीरे सर्पिरिवापितम् । —श्वे० १. १६

**दीप**

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्व दीपोपमेनेह युक्त प्रपश्येत् ।  
—श्वे० २ १५

**श्रोदन**

यस्य ब्रह्म च क्षत्र च उभे भवत श्रोदन ।  
मृत्युर्यस्योपसेचन क इत्या वेद यज्ञ स ॥ —कठ० २ २५

**मण्ड (मांड)**

धृतात्परं मण्डमिवात्मसूक्ष्म ज्ञात्वा शिव सर्वभूतेषु गूढम् ।  
—श्वे० ४ १६

**चक्र**

देवस्यैव महिमा तु लोके येनेद भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् । —श्वे० ६ १

**घर्म**

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवा । —श्वे० ६ २०

अर	अरा इव रथनाभो सहता यत्र नाड्य ।	—मु० २. २ ६
समिद्	तस्यादित्य एव समिद्रश्मय ।	—बृ० ६. २. ९

### ५. विविध

अन्ध	अन्धैर्नैव नीयमाना यथान्धा ।	—कठ० २. ५
गर्भ, गर्भिणी	गर्भं इव मुभूतो गर्भिणीभि ।	—कठ० ४ ८
द्वार, पुर	नवद्वारे पुरे देही हसो लेलायते वहि ।	—श्वे० ३ १८
माता, पुत्र	मातेव पुत्रान् रक्षस्व ।	—प्रश्न० २. १३
राजा, सेनापति, सून	तद्यथा राजान प्रिययामन्तमुग्राः प्रत्येनम ममायन्ति ।	—बृ० ४ ३. ३८
वेशस्कारी (स्वर्णकार)	तद्यथा वेशस्कारी वेशसो भालानपादाय ।	—बृ० ४४.४
सेतु	अमृतम्य पर सेतु दग्धेन्धनमिवानलम् ।	—श्वे० ६. १९
आराम	बुद्धेर्गुणेनाऽऽत्मगुर्णन चैव आराममात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट ।	—श्वे० ५ ८

मास, अहर्जरम् (संवत्सर, तु० शंकर)

यथाप प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम् । —तै० १. ४

अण्ड

तस्याभितप्तस्य मुख निरभिद्यत यथाण्डम् । —ऐत० १ १. ४

शरीर के अंग (शिर, पुच्छ, सकथी, गार्श्वं, पृष्ठ, उदर, उर)

स त्रेधाऽऽत्मान व्यकुरुत । आदित्य तृतीय, वामु तृतीयम् । स एष प्राणस्वेधा विहित । तस्य प्राची दिक् शिरोऽसौ चासी चेमी । अथास्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौ चासौ च सकथ्यो । दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे । शौ पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुर । —बृ० १ २ ३

स्तन

य एष स्तन इवालम्बते । —तै० १. ६

केश

ता वा अस्यंता हिता नाम नाह्यो यथा केश सहस्रधा भिन्न-  
स्तावता अणिम्ना तिष्ठन्ति । —बृ० ४ ३. २०

## (ख) छन्द

काव्य का यद्यपि व्यापक अर्थ में प्रयोग बहुत प्राचीन समय से होता आया है किन्तु आग चलकर इसका अर्थ समुचित होकर एक मात्र छन्दावद्ध रचना के लिए ही होने लगा, जिससे आज व्यवहार में इस शब्द का प्रयोग पद्यवद्ध कविता के अर्थ में ही विशेष रूप से होता है। काव्य के लिए जा मुख्य तत्त्व गिनाए गए हैं, उनमें छन्द का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है।

छन्द का अर्थ है छन्द्यति आह्लादयति इति छन्द अर्थात् जो पाठका का प्रसन्न करता या आनन्द दता है, वह छन्द है।

नित्यप्रति व्यावहारिक जीवन में देखा जाता है कि लय तथा ताल के साथ की जाने वाली रचना न केवल मनुष्य को ही, अपितु पशु पक्षियों तक का मुग्ध करने वाली होती है। यही कारण है कि जब आनन्दविभार हाकर ऋषिया ने सर्वप्रथम अपने हृदय के उद्गारों को अभिव्यक्त किया, तो वे उद्गार छन्दावद्ध ही थे।<sup>१</sup> सम्पूर्ण ऋग्वेद, जो कि विश्व के साहित्य में सर्वश्रेष्ठ और आदिम ग्रन्थ माना जाता है, उसकी रचना छन्दोवद्ध ही है। आदिकवि वारमीकि ने भी ऋषि मिथुन में से एक का व्याध द्वारा मारे जाने पर, दूसरे का करुण श्रन्दन सुनकर उमस करुणाद्रचित हाकर, व्याध का जो शाप दिया वह छन्दावद्ध ही था।<sup>२</sup>

छन्द का वेद में पङ्गा में स्थान दिया गया है और उससे वेद का पैर माना गया है।<sup>३</sup> काव्यशास्त्र के आदिम आचार्य भरत मुनि के मत

- १ अग्निमीले पुरोहित यज्ञस्य देवमुत्विजम् ।  
होतार रत्नघातमम् ॥ (गायत्रीछन्द)
- २ मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम शाश्वती समा ।  
यत ऋषिमिथुनादेवमवधी काममोहितम् ॥ (वा० रा०)
- ३ छन्द पादो तु वेदस्य ।

से तो सम्पूर्ण वाङ्मय छन्द ही है।<sup>१</sup> काव्य के विषय में तो कहना ही क्या है। उपनिषद्, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, कथा-साहित्य, इतिहास, पुराण, ज्योतिष, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र आदि विषयों को भी सर्वप्रथम छन्दोबद्ध ही रचा गया है। इसने छन्द का व्यापक माहात्म्य तो सिद्ध होता ही है, साथ ही भारतीय जीवन के विभिन्न अंगों के नियमित और व्यवस्थित रूप की धार भी स्पष्ट सकेत मिल जाता है। यही कारण है कि क्या लौकिक क्या वैदिक, दोनों प्रकार के ही कवियों ने बड़े आदर के साथ छन्दों का अपनाया। छान्दोग्य उपनिषद् में एक प्रसंग आया है, जिसमें छन्द के अर्थ, प्रयोजन, सामर्थ्य तथा माहात्म्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।<sup>२</sup>

## १. छन्दों के भेद

छन्द दो प्रकार के पाये जाते हैं—वैदिक तथा लौकिक। वैदिक छन्दों की सत्या सीमित रही है। वैदिक छन्दों में अक्षरों के आधार पर उनकी गणना की जाती है। गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती इत्यादि छन्द अक्षरभेद से ही भिन्न-भिन्न हैं।

लौकिक छन्द वर्णिक तथा मात्रिक भेद से दो प्रकार के माने जाते हैं। कवल मात्राया के आधार पर माने जाने वाले मात्रिक तथा मात्रा और वर्णों की समानावृत्ति पर माने जाने वाले वर्णिक छन्द कहलाते हैं। आर्या इत्यादि मात्रिक और इन्द्रवज्रा इत्यादि वर्णिक छन्द हैं।

## २. उपनिषदों में छन्दोयोजना

छन्दों की दृष्टि से जब उपनिषदा का अध्ययन किया जाता है तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक तथा लौकिक साहित्य के बीच

१. छन्द हीनो न शब्दोक्ति, न छन्दः शब्दवर्जितम् ।

(नाट्यशास्त्रम्)

२. देवा ये मृत्योश्चिन्वतस्त्रयो विद्यां प्रावितान् । ते छन्दोभिरच्छादयन् ।

परेभिरच्छादयन्तच्छन्दसां छन्दस्तवम् ।

(ऽ० १.४.२)

छन्द इत्यादि की बड़ी जोड़ने वाले उपनिषद् ही हैं। वैदिक छन्दों को छोड़कर एकदम लौकिक छन्दों की रचना नहीं हुई, अपितु वैदिक से धीरे धीरे लौकिक छन्दों की ओर प्रवृत्ति हुई। यही कारण है कि उपनिषदों में कई एक ऐसे छन्द मिलते हैं जो लौकिक तथा वैदिक छन्द का मिश्रित रूप ही हैं। कुछ एक उपनिषदों में तो लौकिक छन्द वैदिक से एकदम पृथक् हो गए हैं। पर केन इत्यादि उपनिषदों में न वैदिक छन्दों का ही शुद्ध रूप प्राप्त होता है, न लौकिक का। यथा—

श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो मनो यद् वाचो ह वाच स उ प्राणस्य प्राण ।

अक्षुपश्चक्षुरतिमुच्य धीरा प्रेत्यास्मात्लोकादमृता भवन्ति ।

—केन० १ २

यहाँ श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो मनो यद् इस पाद में इन्द्रवज्रा छन्द है। किन्तु, अगले पाद वाचो ह वाच स उ प्राणस्य प्राण में एक वर्ण बढ जाने से इन्द्रवज्रा समाप्त हो गया है।

इसी प्रकार—

स तस्मिन्नेवाऽऽकारो स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुभा हैमवतीम् । तां  
होवाच किमेतव्यक्षमिति ॥

—वेन० ३ ९

इसमें आपातत वैदिक छन्द की प्रतीति भले ही हो, पर उसके लक्षण नहीं घटते। वही-वही केवल उच्चारण के भेद से छन्द की स्थिति ठीक बँठ जाती है। जैसे—

काल स्वभावो नियतियदुच्छा मृतानि योनि पुष्टय इति विगत्यम् ।

सयोग एषा न त्वात्मभावाद् आत्माऽप्यनीश मुषुदु ष्टेतो ॥

—श्वे० १ २

यहाँ केवल द्वितीय पाद में मुष्येति इस प्रकार छन्द की दृष्टि से हाना चाहिए, तथा तृतीय पाद में न तु आत्मभावाद् इस प्रकार पढ़ने पर इन्द्रवज्रा छन्द ठीक बँठ जाता है।

बठ, श्वेताश्वतर, मुण्डक इत्यादि उपनिषदों में कई एक छन्द मंत्रों या लौकिक ही प्राप्त होते हैं। उपनिषद्-साहित्य का प्रारम्भ



भी लौकिक साहित्य के समान अनुष्टुप् छन्द से ही होता है । ईश उपनिषद को यदि उपनिषदों में सर्वप्रथम माना जाय, तो निश्चय ही,

ईशा वात्स्यमिद सर्वं यद्विद्विज जगत्या जगत् ।  
तेन त्यक्तेन भुञ्जीषा मा गृध कस्मद्विबुधनम् ॥

—ईश० १

यह मन्त्र छन्दोबद्ध ही है ।

धीरे-धीरे ऋषियों की प्रवृत्ति गद्य की ओर हुई और फलतः पद्य के साथ गद्य में भी रचना होने लगी । इसका परिणाम यह निकला कि पद्य और गद्य के बीच की रचना न पद्य ही रह सकी न गद्य । वह रचना पद्यात्मक गद्य के रूप में सामने आई, जो आगे चलकर गीति-साहित्य का आधार बनी ।

उपनिषदों में उपलब्ध लौकिक छन्दों के कतिपय उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं ।

### अनुष्टुप्

श्लोके षष्ठ मुहूर्त्तौ सर्वत्र तद्यु पचमम् ।  
द्विचतुष्पादयोर्द्वैत्य सप्तम दीर्घमन्वयो ॥

उदाहरण—

असुर्या नाम ते श्लोका अग्न्येन तमसाऽऽवृता ॥  
तास्ते प्रेत्यामिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना ॥

—ईश० ३

### इन्द्रवज्रा

इन्द्रवज्रा का लक्षण करते हुए लिखा गया है कि—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ य ।

इन्द्रवज्रा में दो तगण, जगण और दो गुरु होते हैं । जैसे—

आरभ्य कर्माणि पुणान्वितानि,  
भावाश्च सर्वान् विनियोजयेत् ।  
तेषामन्नाद्ये कृतकर्म नाश,  
कर्म क्षये याति स तत्त्वतोऽन्य ॥

—श्वे० ६ ४

यहाँ यद्यपि प्रथम पाद के अन्त में गुरु होना चाहिए था, पर पादान्तस्थो विकल्पेन के सिद्धान्तानुसार छन्द में आवश्यकतानुसार पादान्त वर्ण ह्रस्व भी गुरु एव गुरु भी ह्रस्व मानने की मान्यता से यहाँ कोई दोष नहीं ।

### उपजाति

इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा का मिश्रित रूप ही उपजाति छन्द कहलाता है । कठोपनिषद् तथा इवेताश्चतर में इसके अनेको उदाहरण प्राप्त हैं । यथा—

स वृक्षकालावृतिभिः परोऽग्नेः  
 यस्मात् प्रपञ्च परिवर्ततेऽयम् ।  
 धर्मावह पापनुद भगेश,  
 ज्ञात्वाऽऽत्मस्यममृत विश्वधाम ॥

—श्वे० ६०६

यहाँ पहले पाद में उपेन्द्रवज्रा तथा दूसरे पाद में इन्द्रवज्रा होने में उपजाति छन्द है ।

इसी प्रकार,

काली कराली च मनोजवा च  
 मुलोहिता या च मुधुग्रवर्णा ।  
 स्फुलिगिनी विश्वरची च देवी  
 लेतापमाना इति सप्त जिह्वा ॥

—मु० १२४

तथा,

स्वप्नान्त उच्चायचमीयमानो  
 रूपाणि देव बुद्धे यदृनि ।  
 उतेष स्त्रीभिः सह भोरमानो  
 जशदुने यापि भयानि पापन् ॥

—यू० ४३१३

इन मन्त्रों में भी उपजाति छन्द है ।

वशस्थ

वशस्थ का लक्षण इस प्रकार है—

जतो तु वशस्थमुदीरितं जरो ।

उदाहरण—

समे शुचौ शर्करावह्निवात्का  
 विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।  
 मनोनुकूले न तु चक्षुषीडने,  
 गृहानिवात्नाश्रयणे प्रयोजयेत् ॥

—श्वे० २. १०

जैसे पहले लिखा जा चुका है एक वर्ण के अथवा ह्रस्व, दीर्घ मात्रा के परिवर्तन में उपनिषदों में कई एक छन्दों की योजना ढंढी जा सकती है जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है यहाँ केवल 'शर्करा' के 'रा' में मात्रा के ह्रस्व होने से छन्द पूर्ण हो जाता है ।

## (ग) सूक्तियां

अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।	—ईश० ११
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यम्यापिहित मुखम् ।	—ईश० १५
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।	—वेन० २. ४
सस्यमिव मर्त्यं पच्यते मस्यमिवाऽऽजायते पुन ।	—कठ० १. ६
शोनातिगो भोदते स्वर्गत्रोके ।	—कठ० १. १२
अपि सर्वं जीवितमत्पमेव ।	—कठ० १ २६
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य ।	—कठ० १ २७
जीर्यन् मर्त्यं क्वधस्य प्रजानन् ।	—कठ० १ २८
अतिदीर्घं जीविते का रमेत ॥	—कठ० १ २८
न ह्यध्रुवै प्राप्यते हि ध्रुव तत् ।	—कठ० २ १०
महान्त विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति ।	—कठ० २. २२
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य ।	—कठ० २. २३
उत्तिष्ठन् जाग्रत प्राप्य वरान् निरोधत ।	—कठ० ३ १४
तपसा चीयते ब्रह्म ।	—मु० १ १ ८
घन्धनैव नीयमाना यथाग्धा ।	—मु० १ २. ८
मर्त्यमेव जयति नानृतम् ।	—मु० ३ १ ६
नायमात्मा बलहीनेन लभ्य ।	—मु० ३ २ ४
अन्नेन वाच सर्वे प्राणा महीयन्ते ।	—तै० १. ५
परोक्षप्रिया इव हि देवा ।	—ऐत० १. ३. १४
यो वै भूमा तत्पुत्रम् ।	—द्या० ७. २३. १

ग्राहारशुद्धी सत्त्वशुद्धि ।	—छा० ७ २६ २
असतो मा सद् गमय ।	—वृ० १ ३ २८
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।	—वृ० १ ३ २८
मृत्पोर्मांमृत गमय ।	—वृ० १ ३ २८
अमृतस्वस्य तु नाऽऽप्तास्ति विलन ।	—वृ० २ ४ २
पापकारी पापो भवति ।	—वृ० ४ ४. ५
नान्य पन्था विद्यतेऽन्याय ।	—श्वे० ३ ८

# अनुशीलित ग्रन्थ-सूची

## BIBLIOGRAPHY

### १. प्राचीन साहित्य

#### ११ वेद और उपनिषद्

अपर्ववेदसंहिता, वैदिक मन्त्रालय, प्रजपेय, मवत् २००१

ऋग्वेदसंहिता, " " सवत् १९९८

यजुर्वेदसंहिता, " " मवत् १९९९

सामवेदसंहिता, " " सवत् २००४

ईशादिविज्ञोत्तरातोपनिषद्, बम्बई, १९४८

ईशोपनिषद्, श्रीमच्छंकराचार्यकृत भाष्यसहित, भीता-प्रेस, गोरखपुर, सवत् १९९४

एकादशोपनिषत्संग्रह, स्वामी सत्यानन्द, लाहौर, सवत् १९९५

ऐतरेयब्राह्मण, पूना, १९३०

ऐतरेयोपनिषद्, श्रीमच्छंकराचार्यकृत भाष्यसहित, भीता-प्रेस, गोरखपुर, १९९४

कठोपनिषद्, " " " "

केनोपनिषद्, " " " "

छान्दोग्योपनिषद्, " " " "

तैत्तिरीयोपनिषद्, " " " "

प्रश्नोपनिषद्, " " " "

गृह्यसारण्यकोपनिषद्, " " " "

माण्डूक्योपनिषद्, " " " "

मुण्डकोपनिषद्, " " " "

श्वेताश्वरतरोपनिषद्, " " " "

## १२ काव्यशास्त्र

अग्निपुराण, सपा० मनसुखराय मोर, बलवता, १९५७

अभिनव भारती, भरत नाटशास्त्र पर अभिनवगुप्तकृत टीका, सपा० आचार्य  
विश्वेश्वर, दिल्ली १९६०

अलंकारकौस्तुभ, कविकर्णपूरकृत, सपा० शिवप्रसाद भट्टाचार्य, राजशाही (बंगाल),  
१९२६

अलंकारसर्वस्व, रय्यकृत, अपरयकृत विमर्षिणी टीका सहित, (१) सपा०  
गिरिजाप्रसाद द्विवेदी, बम्बई, १९३९, (२) सपा० रामचन्द्र द्विवेदी,  
(डॉ०), दिल्ली, १९६५, (३) विद्या चक्रवर्ती कृत मञ्जीवनी टीका सहित,  
सपा० डॉ० राघवन, (डॉ०), दिल्ली, १९६५

एकाग्रती, विद्याधरकृत, सपा० के० पी० त्रिवेदी, बम्बई, १९०३

जोखिन्यविचारचर्चा, शैलेन्द्रकृत, (१) सपा० आचार्य श्री ब्रजमोहन भा,  
वाराणसी—१, १९६४, (२) सपा० पण्डित दुर्गाप्रसाद, काव्यभाला-  
गुरुच्छत्र, बम्बई, १९२९

काव्यप्रकाश, मम्मटकृत, (१) सपा० वाग्नाचार्य भन्वकीकर, पुना, १९६५ ;  
(२) सपा० गजेन्द्र गद्कर, १, २, ३ तथा १० उल्लाम, बम्बई-७  
१९३९ ;

(३) सपा० सुवर्षाकर १, २, ३ तथा १० उल्लाम, बम्बई, १९४१ ;

(४) सपा० रामचन्द्र द्विवेदी (डा०), दिल्ली, १९७०

काव्यमीमांसा, राजशेखरकृत, (१) सपा० केशरनाथ शर्मा सारकृत, पटना,  
१९५४, (२) सपा० सी० डी० दत्तान तथा प० आर० ए० शास्त्री,  
बनौरा, १९३४

काव्यादर्श, दण्डीकृत, (१) सपा० २० रेड्डी शारदा, पुना, १९३८; (२) सपा०  
ठाकुर तथा भा, दरमशा, १९५७

काव्यानुशासन, हंसधन्द्रकृत, सपा० पारील तथा कुलकर्णी, बम्बई, १९६४

काव्यालंकार, भामहकृत, (१) सपा० भागनाथ शाम्भो, तबोर, १९२७,  
(२) सपा० देवेशनाथ शर्मा, पटना, १९६२

काव्यालंकार, चन्द्रकृत, नमिताबुरखिन टीकासहित, सपा० म० म० पण्डित  
दुर्गाप्रसाद तथा वामुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, बम्बई, १९०९

काव्यालंकार सारमण्डल उद्भटकृत, प्रतिहारेन्द्रराजखिन लघुवृत्तिटीकासहित,  
सपा० आर० डी० बणहट्टी, पूना, १९२५

काव्यालंकारसूत्र (वृत्ति) वामनकृत, गोपेन्द्रनिरुभूषणकृत कामपेनुटीका-  
सहित (१) सपा० जीवानन्द विद्याभार, कलकत्ता, १९०२,  
(२) सपा० वेचन भा, वाराणसी

कृत्तयानन्द, अप्रयदीक्षित कृत, सपा० वामुदेव शर्मा पणशीकर, बम्बई,  
१९३७

व्यन्यासोक्त, आनन्दचर्चनकृत, अभिनवगुप्तकृत लोचनटीकासहित, (१) सपा०  
पट्टाभिराम शम्शी बनारस, १९४० ; (२) उद्यान १, सपा०  
कुप्पुस्वामी शम्शी, मद्रास, १९४४

नाट्यशास्त्र, भरतकृत, अभिनवमागती टीका सहित, (१) सपा० एम० रामकृष्ण  
कवि, बडोदा, (२) सपा० पण्डित केशरनाथ, काव्यमालागुच्छक,  
बम्बई, १९४३

प्रतापसूत्रोप, विद्यानाथकृत, कुमारस्वामीरखिन रत्नापणटीकासहित, सपा० धी०  
राधवन, (डॉ०), मद्रास, १९७०

रमणगाधर, जयन्नाथकृत, नागेशभट्टकृत टीकासहित, (१) सपा० दुर्गाप्रसाद  
तथा परब, काव्यमालागुच्छक १२, बम्बई, १९३९,  
(२) सपा० बखरीनाथ भा तथा मदनमोहन झा, बनारस, १९४५

सञ्जीवितजीवित, कुन्तककृत, सपा० सु० कु० डे०, कलकत्ता, १९६१

व्यक्तिविशेष, महिमभट्टकृत, सपा० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्,  
१९०९

शुद्धारप्रकाश, भोजराजकृत, सरस्वतीकामरण, काव्यमालागुच्छक, बम्बई,  
१९३४



साहित्यदर्पण विन्वनाथकृत (१) १ से ६ परिच्छेद तक, सपा० कविरत्न  
श्री शिवदत्त बम्बई सन १९७३, (२) मरा० पी० बी० बाणे, १,२  
तथा १० परिच्छेद देहली, १९६५, (३) सपा० जीवनानन्द विद्यासागर  
नृदाचार बलकला, १९६५

## २. नवीन साहित्य

### २१ हिन्दी ग्रन्थ

गणशश्वम्बक देगारण्डे भारतीय साहित्यशास्त्र (हिन्दी संस्करण), बम्बई,  
१९६०

जगन्नाथ त्रिपाठी आचार्य दप्पी एव सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहासदर्शन,  
इलाहाबाद १९६८

बनदेव उपाध्याय भारतीय साहित्यशास्त्र दो भाग, पटना

बनदेव उपाध्याय सस्कृत आलोचना प्रवासान ब्यूरो, मूचना विभाग, उत्तर-  
प्रदेश १९७०

मानदत्त त्रिवेदी अथर्ववेद—एक साहित्यिक अध्ययन, विश्वरवरानन्द वैदिक  
शोध-मस्थान, होशियारपुर १९७३

रामश्री उपाध्याय प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका,  
इलाहाबाद, १९६६

रामश्री उपाध्याय भारतस्य सांस्कृतिकनिधि

गणपति त्रिपाठीद्वारा अमेन्द्र की ओचित्यदृष्टि पटना १९६०

### 22 English Works

Bhattacharya Sudhisanter *Imagery in the Mahabharata*,  
Calcutta, 1971

Bhattacharya, S *Studies in Indian Poetics*, Calcutta, 1964.

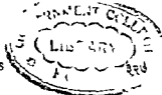
Bloomfield *The Religion of Veda*

- De S K *History of Sanskrit Poetics*, Calcutta 1960  
 " *Problems of Sanskrit Poetics*, Calcutta, 1959  
 " *Aspects of Sanskrit Literature*, Calcutta, 1959
- Dwivedi, R C *Principles of Literary Criticism in Sanskrit*  
 (*Papers of a Seminar at Udaipur, December, 1968*),  
 Delhi 1969
- Gerow Edwin *A Glossary of Indian Figures of Speech*, the  
 Hague, 1971
- Gnoli, R *The Aesthetic Experience According to Abhinava  
 Gupta*, Varanasi, 1968
- Gonda J. *Stylistic Repetition in the Veda*, Amsterdam 1959  
 " *Epithets in the Rgveda*, The Hague, 1959.  
 " *Remarks on the Similes in Sanskrit Literature*,  
 Leiden 1949
- Hiriyanna, M *Art Experience*, Mysore, 1951
- Hume, R E *The Thirteen Principal Upaniṣads*, Oxford,  
 1956
- Kane, P V *History of Sanskrit Poetics*, Delhi, 1961.
- Krishna Chaitanya *Sanskrit Poetics*, Asia Publishing House,  
 1965
- Kuppuswami Shastri, S *Highways and Byways of Literary  
 Criticism in Sanskrit*, Madras, 1945
- Lahti, P C *Concepts of Riti and Gunas in Sanskrit Poetics*,  
 Dacca, 1937
- Limaye, V P and Vadekar R D *Eighteen Principal Upa-  
 niṣads*, vol. I, Poona, 1958
- Mainkar, T G *Some Poetical Aspects of the Rgvedic Rep-  
 etitions*, Poona, 1966
- Masson and Patvardhan *Santa Rasa and Abhinava Gupta's  
 Philosophy of Aesthetics*, Poona, 1969

- Masson and Patvardhan *Aesthetic Rapture*, Vol I and II, Poona, 1970
- Mukherji Rama Ranjan *Imagery in Poetry: An Indian Approach*, Calcutta, 1972
- Nobel J, *The Foundations of Indian Poetry and their Historical Development*, Calcutta, 1925.
- Pandey K C *Comparative Aesthetics*, Vol I, Varanasi, 1962
- Radhakrishnan, S *The Principal Upaniṣads*, London, 1953
- Rachvan, V - *Bhoja s Śṛṅgāra Prakāśa*, Madras, 1963.
- „ *The Number of Rasas*, Madras, 1967.
- „ *Some Concepts of Alamkāra Śāstra* Madras, 1942
- Raja Kurnhan, C *Poet Philosophers of the Rgveda*, Madras, 1963
- Rajwade V K *Words in the Rgveda*, Bombay, 1932.
- Ranade, R D *A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy*, Poona, 1926
- Sankaran S *Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit or The Theories of Rasa and Dhvani*, Madras, 1929
- Sharma R K *Elements of Poetry in the Mahābhārata*, University of California, 1964
- Sherde N J *Āvāṅī and Āvāṅīya in the Atharvaveda*, Poona, 1967
- Varma, Mahendra Kumar *Glimpses into the Poetic Beauty of the Rgveda* Astward Damoh, 1963

### 3 Articles

- Ancient Indian Poetry and Drama*—Kalica P Datta, *Prabudha Bharata*, June 1940
- Emotional Similes in the Rgveda and the Concept of Bhakti*, *Bharatiya Vidya*, Vol XXV, Nos 3-4, Bombay, 1955 66



- Figures of Speech in the R̥gveda*—P. S. Sastri, *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute (ABORI)* XXVIII, Poona, 1947
- Literary Strata in the R̥gveda*—S.K. Belvalkar, *Proceedings and Transactions of the Second Oriental Conference*, Calcutta, 1922
- R̥gvedic Philosophy of the Beautiful*—P. S. Sastri, *ABORI*, Poona, 1951
- R̥gvedic Theory of Poetry*—P. S. Sastri, *All India Oriental Conference (AIOC) Summary*, Banaras, 1943-44
- Similes of Atris (R̥v̥ Mandala V)*—H. D. Velankar, *ibid.*, Vol. 16, 1940.
- Similes of the Atharvaveda*—H. D. Velankar, *Journal of Asiatic Society Bengal, (New Series)*, Vol. XXVIII, 1963-64
- Similes of Vānudevas (R̥v̥ Mandala IV)*—H. D. Velankar, *Journal of Bombay Branch of the Royal Asiatic Society (New Series)*, Vol. 14, 1938.
- Some Observations on the figures of speech in the R̥gveda*—A. Venkatasubbiah, *ABORI*, 17, Poona, 1935-36.
- Some Similes in the R̥gveda*, *Brahma Vidya*, Vol. XXVIII, Pts. 3-4, Adyar, 1964
- Studies in the Imagery of the Rāmāyana*—K. A. S. Iyer, *JOR* Vols 1-5, Madras, 1927
- Syntax of Vedic Comparisons*—Abel Bergaigne, *ABORI* Vol. XVI, 1934-35.
- The Development of figures of Speech in the R̥gveda*—D. R. Bhandarkar, *Kare Commemoration Volume*, Poona, 1941.

*The Imagery of Rgveda*—P. S. Sastri, *ABORI* XXIX, Poona, 1948.

*The Poetic Approach to the Divine in the Vedas*—A. C. Bose, *Prabuddha Bharata*, Calcutta, Dec., 1941

*Upanisadic Metre*—P. G. Gopalkrishna Iyer, *JOR* Madras, April, 1927

*Upanisadic Prosody*—P. G. Gopalkrishna Iyer, *Proceedings and Transactions of the Fourth Oriental Conference*, Vol. II, Allahabad, 1926

*Vedic Symbolism*—V. S. Agrawal, *Bharati*, Vol. VI, Pt. I, Varanasi, 1962-63

विशिष्ट शब्द-सूची  
(SUBJECT INDEX)

अ

अक्षमातोपनियद्, २  
अगाग्निघातवक्ष्य सञ्चर, १९१  
अगिर, १६०  
अगिरा, १३७, १६०  
अग्नि, २७०, ३०५  
अग्निपुराण, २६ टि०, २७ टि०  
अग्निपुराणकार, ७७  
अज्ञा, ५  
अण्ड, ३११  
अतिशयोक्ति अलंकार, १४, २१,  
५३, ११९-२०, १६५, १८२  
अतिशयोक्तिमूलक गुणोत्प्रेक्षा, ११७  
अतिशयोक्तिमूलक रूपक, १०७ ८  
अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि, २२२,  
२२५  
अत्रि, १०१  
अथर्ववेद, ५२-६०, ७७, ३०३  
अथर्वा (श्रष्टि), १६०  
अद्भुत रसा, २५२, २५४-५, २५७  
अध्ययत्ताप, ११९  
अन, ३०८

अनुप्रास, १८, ५२, ६४-५  
अनुप्रासात्मक शैली, २८७  
अनुप्रासोपमा २२  
अनुमाद ३७  
अनुमान अलंकार, १६५, १७३-४,  
१८९  
अनुष्टुप् छन्द, ३१५  
अनेकवाचयणा निदर्शना १३१  
अन्त्यानुप्रास, ६८  
अन्ध, ३१०  
अन्नमय कोश, १००  
अन्योन्य अलंकार, १४९-५१ २३८  
अन्वय व्यतिरेक, १८४  
अपराविद्या, ३  
अपह्नुति, ७६, ९६  
अपान, २७२  
अपूप, ३०५  
अप्यपवीक्षित, २२, ८५, १२६ टि०,  
१३५, १३९, १८०, १८२  
अप्रश्नपूर्विका परित्तदया, १६२  
अप्रस्तुत योजना, ५  
अप्राकरणिक अर्थ, १६४

अग्निज्ञानशाकुन्तल, ४७  
 अग्निधा, ४३  
 अग्निधामूलक अर्धशक्तिमूलध्वनि, २२५  
 अग्निधामूलक ध्वनि, २२२  
 अग्निवपुस्त, ३७-४०, ४२,  
 २४८-९, २५२  
 अभेदप्रधान उत्प्रेक्षा, ११९  
 अभेदबुद्धिजन्य तथाय, ११०  
 अभेदारोप, ९७  
 अमरकोश, १५९  
 अमरसिंह, २१  
 अर, ३१०  
 अरणी, ३०९  
 अर्धगुण, २५  
 अर्धशक्तिमूल(ध्यायध्वनि), २२२  
 अर्धशास्त्र, ३१३  
 अर्धसिद्ध ध्यावृत्ति, १६३  
 अर्धान्तरन्यास अलकार १४०, १४१  
 अर्धान्तरसन्नमितवाच्य (ध्वनि),  
 २२२-२४  
 अर्धापत्ति अलकार, १६४-१६६,  
 २३३, २३९, २४५  
 अर्धांलकार १८, २५, ६३, ७५, १८५  
 अर्धबृण्त, ३०८  
 अलकार, ७ १४, १६, १८, २१,  
 २२१-२, २५८ ६०  
 अलकार-ओच्चित्य, ४९, ६१, २६७  
 अलकारध्वनि, ४३-४, २५०

अलकारशेखर, ७७  
 अलकारसंयंस्व, १७, १११,  
 १३८-९ टि०, १५१ टि०,  
 १५४, १५७ टि०, १५८,  
 १५९-६१टि०, १७५टि०, १७७  
 टि०, १८५-६टि०, १९१ टि०  
 अलकार-सिद्धान्त, २९  
 अलकार से अलकार ध्यय, २३७  
 अलकार से वस्तु ध्यय (ध्वनि),  
 २३१-२, २३४-५  
 अलम्, २१  
 अल्पसमासता, १९४  
 अवन्तीसुन्दरी, २१५  
 अवि, ३०७  
 अविद्या, १३०, १४१, १७०, २६३  
 अविवक्षितवाच्य ध्वनि, २२२  
 अशुभाष्टक, १०३  
 अश्मा, ३०८  
 अश्लिष्टपरम्परितरूपक, १०७  
 अश्वत्थ, ५, ३०४  
 अश्वपति इन्द्रद्युम्न, २९६  
 अश्वपति-उद्दालक, २९६  
 अश्वपति-ओपमन्यव, २९६  
 अश्वपति की कथा, २९६  
 अश्वपति-जन, २९६  
 अश्वपति बुद्धि, २९६  
 अश्वपति-सत्यपति, २९६  
 अर्त्तदिग्गता, १९४

असन्नक्षयकमव्यय्य षष्ठि, ४४, २२२  
 असम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिवन्धना, १३१  
 असुर-सम्बन्धी लोक, १६५  
 अहर्नरम्, ३११

आ

आश्लेष, १६  
 आश्रयान, ६  
 आश्रय, ३०६  
 आत्मतत्त्व १३०, २१५  
 आत्मा, ४  
 आदर्श, ३०८  
 आनन्द, २४८  
 आनन्दमय कोश, १००  
 आनन्दवर्धन, २०, २६-७, ३६, ४१-४३,  
 ४५-६, ४८, २१९-२१, २६०  
 आपस्तम्ब, १ टि०  
 आभिजात्य (काव्य-गुण), २५  
 आभ्यन्तर (काव्यगुण), २५  
 आस्र, ३०५  
 आश्रयाक, २१३  
 आशुर्वेद, २४८, ३१३  
 आराध, ३१०  
 आपी उपमा अलंकार, १८७  
 आर्द्रघा, ३०९  
 आर्षा छन्द, ३१३  
 आलम्बन भाव, २५६

आवर्त, ३०६  
 आश्रमव्यवस्था, ३  
 आश्रयाभयिभाव, १८४  
 आस्तिक, १६५

इ

इतिहास, ३१३  
 इन्द्र, २७०  
 इन्द्रगोप, ३०७  
 इन्द्रवज्रा छन्द, ३१३-३१६  
 इन्द्रसूक्त, ६०-१  
 इषीका, ३०४

ई

ईशोपनिषद्, २, ३ टि०, ५, ७,  
 ६५-६६, ६७ टि०, ६९, १०६,  
 १२०, १३३, १४३, १४६,  
 १५२, १६५, १७०, १९१,  
 १९५, १९८, २००, २०३ टि०,  
 २०६, २०८, २११, २२४-५,  
 २३१, २५६, २७१, २७८,  
 २८४, ३१५, ३१८

उ

उक्ति-संविध्य, २७३  
 उज्ज्वल, ३०८  
 उत्कलिकाप्राय गद्य, २८४, २८९-  
 ९०, २९५  
 उत्तर अलंकार, १७५-१७७



उत्प्रेक्षा अलङ्कार, ५५, ७६,  
 ११५ ६ १२६, १९०  
 उदक, ३०५  
 उदर, ३११  
 उदात्त अलङ्कार, १८१ १८३, २३९  
 उदात्त विचार, ६  
 उदान २७२  
 उदारता, १९४  
 उदुम्बर, ३०५  
 उदगीय-उपासना, १३७  
 उदगीयविषयक सवाव, २९६  
 उद्दीपन विभाव २५२  
 उदभट, १८, २०, २२, ७३, ७७,  
 ८५ ९६ ११९ १२३, १२७  
 १३१-२ १५२, १५४,  
 १६९-७० १७५, १७७,  
 १७९, १८०, १८२, १८६  
 उपजाति छन्द ३१६  
 उपनिषन्धन, १५४  
 उपनिषदों की सहाय, २  
 उपनिषदों के उपमान ३०३  
 उपनिषद षट् १  
 उपमा अलङ्कार, ७ ११, १४ १८  
 २१ २७, ५१ २, ५५ ६३,  
 ७५ ६ ७८ १२६ १३०,  
 १८९-९०, २३२, २३७,  
 २६६ ७  
 उपमा-औचित्य २६५  
 उपमान, ७, १२, १०८, ११०, ११६,  
 २६७-८, ३०३

उपमान-योजना, ३०३  
 उपमान-विधान, ५  
 उपमानोपमेयभाव, १३०  
 उपमेय, ७, १०८, ११०, ११६  
 उपमेय-उपमान, २६९  
 उपमेयोपमा, ९५-६, १५०  
 उपसर्ग, २६०  
 उपादानकारण, ११९, २६७  
 उपेन्द्रयज्ञा छन्द, ३१६  
 उभयशक्तिमूल(ष्यम्यत्वनि), २२२  
 उभयालङ्कार, ६३, १८४-५  
 उर, ३११  
 उल्लेख अलङ्कार, ११२-११५,  
 १५३, १८७-८, १९०-१, २३४  
 उषः सूक्त, ५१  
 उपस्ति-कथा, ९

ऊ

ऊर्णनामि, ३०६

ऊर्मि, ३०६

श्रु

श्रुवेद, ५, ८, ९, २३, ५०,

५२-६१, ६३-४, ७७-८, १००,

१९२-३, २२०, ३०३, ३१२

श्रुपम, ३०७

श्रुपि, ४

ए

एकदेशविधतिरुपह, १०७

एकवाक्यगा निदर्शना, १३१

एकध्वनितगत-कलट्टयन्याय, ७३-४  
एकाध्वनानुप्रवेशरूप सकार, १९१

औपनिषदिक गद्य, २९९  
औपम्यमूलक अलंकार, १२७

ऐ

ऐतरेय-आरण्यक, १  
ऐतरेयोपनिषद्, २, ७०, ७२,  
८२, १०४, १०५ टि०, ११२,  
१२१, १३६, १५५, १६८,  
१९९, २०० टि०, २०३ टि०,  
२०९, २११, २१७, २३८,  
२४१, २४४-५, २७४, २८१,  
२८४, २८६, २९०, २९३,  
३०७, ३११, ३१८

ओ

ओष, ३०६  
ओज सुप्त, १८, २६-२८, ३१,  
५६, १९२, १९४-५, १९७, १९८  
ओदन, ३०९  
ओदधि, ३०५

औ

औचित्य, ७, १४, १६, ४५-४८,  
२५९, २६१, २६३, २६६-  
२७१, २७४, २७७, २८२  
औचित्य के भेद, ४८, २६०  
औचित्यविचारचर्चा, ४७, ४७ टि०,  
४९, २५८-२६०  
औदार्य, १८

क

कता, ११२  
कठोपनिषद्, २, ८-११, ६३ टि०,  
६५-६, ६७ टि०, ६८-७०, ७५,  
७९, ८५-८७, ८९, ९२,  
९५ टि०, ९८, १०३, १०५ टि०,  
१११ टि०, ११३, ११५ टि०,  
१२०, १२३ टि०, १२४, १३१,  
१३३, १३४ टि०, १४०,  
१४३-४, १४६ टि०, १५०,  
१५७-८, १६१-२, १६४ टि०,  
१६५-६, १७०-१, १७३ टि०,  
१७५, १७८, १८०, १८२,  
१९५-६, १९७, टि०, १९८,  
२०० टि०, २०१, २०३ टि०,  
२०६-७, २०८ टि०, २०९,  
२१० टि०, २११, २१२ टि०,  
२१६, २२३, २२७-३०,  
२३२-३, २३७-८, २४०,  
२४२, २५२-३, २६२, २६५,  
२७३, २८४, ३०३-३१०, ३१४,  
३१६, ३१८  
कथा-शैली, २९५  
कथा-साहित्य, ३१३  
कवित्त-पाक, २१५  
कविल, २७४  
कवन्धी, २९६  
कदण्डरस, ४०, २५१

- कर्ण १९३  
 कर्मयोग, २८२  
 कर्मवाद, ३  
 कला, ६  
 कश्यप, १०१  
 कस्तूरिकामृग, २३०  
 काकु वक्रोक्ति, ७२, २३६  
 कादम्बरी, ३१, २०४ टि०, २८८  
 कारक, १२४  
 कारकीचित्य, २६०  
 कारणमाला अलंकार, १५४ १५७  
 कार्यकारण, १६९  
 कार्यकारण भ्रम, १५४  
 कार्यकारणभाव, १७०  
 कानिदान, ६, ३३ ५०-५२,  
 ६४ टि०, १९४, २०५, ३०३  
 काव्य की आत्मा, २८, २०१  
 काव्यतत्त्व, १६, ५०  
 काव्यगद्यायमूलक अलंकार, १५९  
 काव्यपाक, ३४  
 काव्यप्रकाश, १७ टि०, २३ टि०,  
 ४४ टि०, १२३ टि०, १६०-१,  
 १६९ टि०, १७९ टि०,  
 २४९ टि०, २५१ टि०  
 काव्यमाना, ३७ टि०  
 काव्यमानागुच्छक, २६८ टि०  
 काव्यमीमांसा, २१३, २१४ टि०,  
 २१५-२१८  
 काव्य लग अलंकार, १६४, १६९-  
 १७३, १८८-१९०  
 काव्यशास्त्र, १६, ३१-२, १२७  
 काव्यहेतु, १६९  
 काव्यादर्श, १७ टि०, २४ टि०,  
 २७ टि०, ७३, ९२, ११९,  
 १८० टि०, २०४  
 काव्यानुशासन, १५ टि०, १९ टि०,  
 ७१  
 काव्यामिमत्त लिग, १६९  
 काव्यालंकार, १६-७ टि०, १९ टि०,  
 २१ टि०, २४ टि०, ३५ टि०  
 काव्यालंकारसारसंग्रह, १७९  
 काव्यालंकारसूत्र, ११ टि०, २७ टि०  
 २९-३० टि०, २१३, २८३ टि०,  
 २८४  
 काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति, २४ टि०,  
 २९ टि०, ३३-४ टि०  
 कीनाट ३०४  
 कुन्तक, १८-२०, २५, ३५-६,  
 ४६, ७१  
 कुप्पुस्वामी शास्त्री ४९  
 कुमारसम्भव, १५९  
 कुशलपानन्द, १२६ टि०, १३५  
 कृष्ण, ११२, १९३  
 केनोपनिषद्, २, ८, ९, ६५-६७,  
 ७०, ७४, ८८, १११, ११६,  
 १३५, १४३, १५०, १६७,  
 १८७, १९५, १९८, २००,

२०३ टि०, २०६, २०८ टि०,  
२१६, २२२-२२७, २३०-२३२,  
२३९-४०, २४२, २४४, २४४-६,  
२६१, २६२, २६९-७३, २७५,  
२७८ ९, २८४, २८९ ३१४,  
३१८

केश, ३११

कंचलय, १५६

कौमिल घटयोजना, १९२

कौपीतकी-, २

कौस्तुभ, २९६

कमुक पाक, २१५

किया-ओचित्य, २७८

किरोप्रेक्षा भलकार, ११८

किरोचित्य, २७९, २८१

कोध, ३७

कीच-मिमुन, ३१२

किवपु प्रत्यय, २

कीर, ३०९

क्षुर, ३०८

क्षेत्र, ४५, ४७-४९, २५८-२६०

ख

खलेरुपोलगाय, १६६-७

ग

गाय, ११२

गणोती, ५१

गद्य, २८४

गद्य काव्य, २८३

गन्ध औषध्यमूलक भलकार, १३०

गर्भ, ३१०

गर्मिणी, ३१०

गायत्रीसूत्र, ३१२ टि०, ३१३

गार्गी, २४३, २४७

गार्ग्य, २९६

गिरनार, १९४

गिरि, ३०६

गौता, २२४

गौलि-साहित्य, ३१५

गुण, ७, १४, १६, १८, २३, २५,

१९२, २०५, २२१, २५८-२६०

गुणोक्ति, ४९

गृह, ५

गुणार्थप्रतीतिमूलक भलकार, १७९

गोवर्ग्य, २०४

गोडी, ३०-१, ४८, २०५-६

गोतम, १०१

घ

घञ् प्रत्यय, २१

च

चक्र, ३०९

चन्द्रातीक, २२ टि०, १७७ टि०

चम्पूकाव्य, २८३, २८३

धर्म, ३०९  
 चार घोनियाँ, १०२  
 चित्, २४८  
 चित्रमीमांसा, ८५  
 चूर्णरुग्ण, २८४-२८७, २८९-२९१,  
 २९५

## छ

छन्द, ६, ३१२-३  
 छान्दोग्योपनिषद्, २, ९, १२-३,  
 ३९ टि०, ६६ टि०, ६७, ७०,  
 ७२, ८२, ८७, ९०, ९१ टि०,  
 ९३-९६, १००, १०३ टि०,  
 १०५, १०६ टि०, १०७, १०९,  
 ११० टि०, ११४, ११७, १२१,  
 १२४, १२५ टि०, १२८-९,  
 १३० टि०, १३७, १४८  
 १५५-६, १५८, १६३, १७६,  
 १७७ टि०, १९३ टि०, १९६,  
 १९७ टि०, १९९ २०० टि०,  
 २०१-२, २०३ टि०, २०७,  
 २०८ टि०, २०९-२१२, २३६,  
 २८४, २८७, २९०, २९४-२९७,  
 ३०४-५, ३०९, ३१३, ३१८

छाया, ३०६

छेकानुप्रास, ५१, ६५

## ज

जगती, ३१३  
 जगन्नाथ १६-७, २३ ७८, १११,  
 ११९, १३९, १५७, २४९

जनुकाष्ठन्याय, ७३  
 जनक, ४, १३७, २७५  
 जनक-याज्ञवल्क्यसंवाद, २९६  
 जबाला, २९६  
 जगदग्नि, १०१  
 जगदेव, २२  
 जगदथ, १७५  
 जातवेदा, २६१  
 जात्युत्प्रेक्षाकार, ११८  
 जानधृति की कथा, २९६  
 जानधृति-रेख, २९६  
 जाल, ५  
 जीव, ६, ११  
 जीव-जन्तु ३०६  
 जीवात्मा, १०९  
 ज्योति, ३०५  
 ज्योतिष, ५, ३१३

## झ

झदित्यर्थप्रतिपादक परव्यञ्जना, १९२

## त

तण्डुल, ३०५  
 तद्गुण अलकार १७७-८, १८८,  
 २३७  
 तन्तुनाम, ३०६  
 तम, ५  
 तमम्, ३०६

तर्कन्यायमूलक अलंकार, १६९  
 तर्कशास्त्र, १६४, १६९  
 तर्कसंग्रह, २२६  
 तिङन्त, २१४  
 तिलिङ्गोपाक, २१४, २१७, २१८  
 तिलक, १८४  
 तिलसम्बलन्याय, १९०  
 तीन करण, १०२  
 तुल्ययोगिता अलंकार, १२५  
 तुल्यजलायुका, ३०७  
 तैत्तिरीयोपनिषद्, २, ९, ३७ टि०,  
 ६७, ८२, ८९, १००, १०३ टि०,  
 १०४, १०५ टि०, १०७, ११४,  
 १२४-५, १३६, १४४, १४५,  
 १४९, १५०, १५२-३, १५५,  
 १६८, १७८, १८८, १९६,  
 १९९-२००, २०३ टि०,  
 २०७, २०८ टि०, २११, २४६,  
 २४८ टि०, २६७, २८४-५,  
 २९२-३, २९५-६, ३०६,  
 ३११, ३१८  
 त्रयुक्तपाक, २१५-२१७  
 त्रिशंकु, २६७  
 त्रिष्टुप्, ३१३  
 त्वक्, ३०४  
 द  
 दण्डापूर्विकान्याय, १६४  
 दण्डी, १७-८, २०, २४, २६, २७,  
 ३०, ४६, ७३, ७७-८, ९२,  
 उप० ४३

९६, ११९, १२३, १३१-२,  
 १३९, १४२, १४२, १४४,  
 १६५, १७०, १७५, १७७,  
 १८०, १८२, १८६, १९२,  
 २०४-५  
 वधि, ३०९  
 वसंत, ५  
 वसंतशास्त्र, ३१३  
 वस इन्द्रिया, १०२  
 वारु, ३०४  
 वारुण्य, २९६  
 विषय उपमान, ३०३  
 वीप, ३०९  
 वीपक अलंकार, ७७, १२३-१२४  
 वृष्ट बालाकि, ९  
 वृष्टान्त अलंकार, १४, १२६-१३०,  
 १४०, २३४-२३६, २३८  
 वृष्टान्त-योजना, ५  
 खी, ३०४  
 खशापाक, ३४  
 खार, ३१०  
 घ  
 घनु, ३०८  
 घर्मलुप्तोपमा, ८५-६, ८८  
 घर्मवाचकलुप्तोपमा, ८७  
 घर्मशास्त्र, ३१३

धर्माष्टक, १०३  
 धातु-अष्टक, १०२  
 धेनु, ३०७  
 ध्वनि, ६-७, १४, १६, २३, ४१,  
 २१९-२०, २५९-६०  
 ध्वनिभेद, २२२  
 ध्वनिसिद्धान्त २०, २९, २१९-  
 २२१  
 ध्वन्यालोक, ३६ टि०, ४१ टि०,  
 ४२, ४४, २१९-२२१  
 ध्वन्यालोक लोचन, १९ टि०,  
 ४० टि०

## न

नचिकेता, १, १४१ २५२ ३,  
 २६२, २७३  
 नदी, ३०५  
 नपुंसक लिंग, २७३  
 नमिसाधु २४-५  
 नाटकीय शैली, २९७  
 नाट्यशास्त्र, २३, २७ टि०,  
 ३६-७ टि०, ४६ टि०, २४८ टि०,  
 २५१ टि० ३१३ टि०  
 नाम-ओचित्य, २७७  
 नाम की महत्ता, १७२  
 नारायण, २५२  
 नारायणतीर्थ, १०६  
 नारिकेलपाक, ३४, २१५-६

नासदीय सूक्त, ४,  
 नास्तिकभाव, १६५  
 नित्यधर्म, २९  
 निर्दाना अलंकार, १२६, १३०-२  
 निपात, २४४-५, २६०  
 निपात औचित्य, २७५  
 निपात-ध्वनि, २४४-५  
 निमित्तकारण, २६७  
 निरुप रूपक, १०३-५  
 निरुप-अनिरुप, १४४  
 नित्यमन-अनित्यमन, १४४  
 नीर-शीर-भ्याय, १८६  
 नीलकण्ठदीक्षित, १८ टि०  
 न्याय, १६९

## प

पञ्चकोशविवेक, २९५  
 पञ्चमहामृत, १५८  
 पद्मीशाराधु, ३०९  
 पद, २६०  
 पद्मगतध्वनि, २४०, २४१  
 पद्मध्वनि २३९  
 पदपरार्थव्यञ्जना, ३६  
 पदपूर्वार्थव्यञ्जना, ३६  
 पद्मोद्भवा, ६  
 परार्थगत बाध्यालिंग, १७०  
 परार्थरत्न, २४८

पदोचित्य, २६०-१	पार्वती, ११२
पटाकाव्य, २८३	पार्वी, ३११
परमपुष्ट्य, १७३	पाश, ३०७
परमात्मा, १०-१, १०९	पिचुमन्दपाक, २१५
परम्परित रूपक, ९७	विग्रह, १२९
पराविद्या, ३	विम्पल, ३०५
परिकर अलंकार, १३२-१३४, १८८-९, १९१, २३१, २३७	पी० वी० काणे, ११३ टि०
परिकराक्षर अलंकार, १३४-१३८, २३६	पृच्छ, ३११
परिणाम अलंकार, १०८, ११०, १८७	पुण्डरीक, ३०४
परिवृत्ति अलंकार, १६०, १६१	पुत्र, ३१०
परिसंख्या अलंकार, १६१-१६४, २३९	पुनःकृतवचनमात्र, १८४
पर्ण, ३०४	पुर, ३१०
पर्याय अलंकार, १५९, १६०, १९०	पुराण, ३१३
पर्यायोक्त अलंकार, १३८-१४०, १९०	पुरुषसूक्त, ६०
पाष भ्रंश, १०२	पुनोपमा, ७७-८४
पाच शशय, १०२	पूर्तकर्म, १४१
पांच सूक्ष्ममूल, १०२	पूर्वमीमासा, १६१
पांच स्पूलमूल, १०२	पृष्ठ, ३११
पांचाली, ३०-१, ५९, २०५-६	पेशाकारी, ३१०
पाक, ३१, ३३, २१३-२१५	पीप, ४८
पादोदर, ३०६	प्रकरणव्यङ्गता, ३६
पारिजातमंथरीमर्दन, १३९	प्रकृति, ६, ११, १०९
पारिभाषिक लिपि, १६९	प्रकृति-अष्टक, १०२
	प्रकृति-काव्य, १३
	प्रग्रह, ३०८
	प्रतापकवीर्य, ३२, ३४ टि०
	प्रतिवस्तूपमा अलंकार, १२६, १३०, १४०



प्रतिषेध अलकार, १८८-१९०,  
 २३५, २३९  
 प्रतिहारैन्दुराज, २२, १७९  
 प्रतीक योजना, ५  
 प्रतीयमान अर्थ, २१९-२१  
 प्रतीयमानध्वज्येष्टा परिसर्या, १६२  
 प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, ११६  
 प्रत्यय-औचित्य, २७४  
 प्रत्ययठवनि, २४५  
 प्रवन्धव्यवृत्ता, ३६  
 प्रत्य-पौचित्य, ४९, २६०  
 प्रयाग, ५१  
 प्रवाहण, २९६  
 प्रश्नपूर्विका परिसर्या, १६२  
 प्रश्नोत्तरात्मक सवाद, २९६  
 प्रश्नोपनिषद् २, ६६, ८१, ९३,  
 १०४, १०५ टि०, १०७-८,  
 ११३-४, ११५ टि०, ११८,  
 १२७-८, १८०, १८७, १९६,  
 १९८, २०० टि०, २०१,  
 २०३ टि०, २०७, २०८ टि०,  
 २०९, २१७, २३४, २५५,  
 २६६, २८४, २८९, २९६,  
 ३०३, ३०५-६, ३१०  
 प्रसाद गुण, १८, २५-६, २८, ३१,  
 ५७, ११२, ११४-५, २००  
 प्रस्थानत्रयी, ३  
 प्राकरनिक अर्थ, १६४  
 प्राणमय योग, १००

प्राणायाम, २४४  
 प्रेम-काव्य, १३  
 प्रौढि शब्दगुण, ३४  
 प्लव, ३०८  
 प्लुत-ठवनि, २४६  
 प्लेटो, ३००

फ

फसोत्प्रेक्षा, ११६-७

ब

बबरपाक, २१५  
 बभारस, ५१  
 बाणमट्ट, ३१, ११६, १६२, २०४-५  
 बासमुकास्वादवत्, २२७  
 बाह्य (शब्दगुण), २५  
 बिम्बप्रतिबिम्बभाव, १२७-३२  
 बिम्बविधान, ५  
 बुद्धिवाच, १६२  
 बहुदारण्यकोपनिषद्, २, ४ टि०,  
 ५, ८, ९, ११, ६६ टि०, ८३, ८७,  
 ९०, ९१ टि०, ९४-५, १०१-२,  
 १०३ टि०, १०५, १०६ टि०,  
 १११, ११५, ११७-८, १२२,  
 १२९, १३० टि०, १३२, १३४,  
 १३७-८, १४५, १४७, १५१,  
 १७२, १७३ टि०, १७६,  
 १७७ टि०, १८३, १८८,

१९६-७, १९९, २०० टि०,  
२०२-३, २०८, २१०, २१२,  
२१६, २३६, २४३, २४६, २५४,  
२५७, २७०, २७५, २८४  
२८८, २९१, २९७-८,  
३०४-३११, ३१६, ३१९

बेन, २२

बोध-दर्शना, १३१

बौद्धधर्म, ३

ब्रह्म, ५, ६, १०, ११, ६३, १४४,  
१७२, १७४, १८३

ब्रह्मक्षत्र, २८२

ब्रह्मप्राप्ति, २९५

ब्रह्मविद्या, ३, १६०

ब्रह्मसूत्रभाष्य, २

ब्रह्माण्ड, १४

ब्रह्मानुभवसत, २४८

ब्राह्मी उपनिषद्, १६७

धर्मसफील, ३

भ

भक्तिरस, २५१

भगवद्गीता, १३३ टि०

भट्टतील, १५, ४०

भट्टनायक, १८-२०, ३-८, २४८

भट्टलोल्लट, २४८

भक्ति-वैचित्र्य, १८

भयानक रस, ४०

भरतमुनि, १६ टि०, २३, २७,  
३६-७, ५१, ७७, ९६, १२३,  
१९२, २०४, २४८, २५१,  
२५८, ३१२

भरतसूत्र, २४८

भरद्वाज, १०१

भवभूति, ५०

भागीरथी, ५१

भानु, १६, १७ टि०, १८,  
१९ टि०, २०-२, २४, २९-३०,  
३५, ४६, ५१, ७३, ७७, ९६,  
११९, १२३, १३१-२, १३९,  
१४२, १५२, १५४, १६०,  
१६५, १७०, १७५, १७७, १८०,  
१८२, १८६

भारथि, ६, ५०, ५२

भार्गव, २९६

भाष, २५६-७

भाषना, १७९

भावशक्तता, २५१

भावशान्ति, २५१

भावसन्धि, २५१

भाषाभास, २५१

भाषिक अलंकार, १७९-१८१, १३५

भावोदय, २५१

भृगु, २९५

भृगु-वारणि सवाह, २९६

मोजराज, १६ टि०, २१-२, २५,  
३०, ३२, १८०, १९२, २०५,  
२५१

धान्तिमान् अलकार, १११-२

म

मगल (भाषार्थ), २१४

ममिका, २०६

मघ, ३०९

महाट्टक, १०३

मधुकर, ३०६

मधुरता, ११४

मत्तोमयकोश, १००

मम्मट, १७ टि०, २०, २२, २३ टि०,  
२५, ४४ टि०, ७३, ७८,  
८५, ९७, १११, १०७ टि०,  
१३२, १३५, १५४, १५७,  
१६२, १६५, १६७, १७९,  
१८४, १८६, २४८, २५१

मरोधि, ३०३

महाभारत, ५०, ३२-३, १९३

महाभारत, ३०७

महावाच्य, २४४

महिममट्ट, २३ टि० ३९ टि०, ४५

माघ, ६, ३२

माण्डूक्य महाभाष्य, ९९,

माण्डूक्योपनिषद्, २, ६५, ६७,

१६, ९९, १०३ टि०, १०५,

१०५ टि०, १३३, १३४ टि,  
१७१-२, १८१, १८८, १९६,  
१९९, २०० टि०, २०९,  
२३५-६, २३८, २८४-५, २९०

माता, ३१०

माधुर्यगुण, १४, १८, २५-२७,  
५६, १९२, १९४-५, २१६,  
२८७

माषाजाल, २६३

मार्गत्रय, १०३

मालारूपक, १०७

मालोपमा, ८८-९१, ११०, २३२

मास, ३११

महहरजन वास, ३०८

मीमांसा, १६९

मीमांसासमत प्रमाण, १६४

मुक्तक, २८४

मुक्तकगण, २८६

मुक्ति, १७१

मुक्तिकोपनिषद्, १ टि०

मुल, ३०४

मुण्डकोपनिषद्, २, ७, ११-२,  
६६ टि०, ६७, ८१, ८९,  
९८-९, १०४, १०८-९,  
११८, १२१, १२५-६, १३३,  
१३५, १४४, १४२, १५५,  
१५६ टि०, १६०, १६३,  
१६७, १७१, १७३ टि०,  
१८३, १८७-८, १९६, १९७

टि०, १९८, २०१, २०३टि०,  
२०७, २०८ टि०, २०९,  
२१० टि०, २११, २१७-८,  
२३४-५, २४१, २६६, २८०-१,  
२८४, ३०५-६, ३०८, ३१०,  
३१४, ३१६, ३१८

मृष्टीकापाक, २१५, २१८

मंथुपनिषद्, ७७

मोक्षरत्न, २४८

य

यज्ञ, २६१

यजुर्वेद, ११

यम, ९

यमकालकार, ६९, १८७

यम-यमी सवाद, २९९

यव, ३०४

याज्ञवल्क्य, ४, २४३, २४७

याज्ञवल्क्य-आश्रमि, २९६

याज्ञवल्क्य-आर्तभाग, २९६

याज्ञवल्क्य-उपस्ति, २९६

याज्ञवल्क्य-बहोत, २९६

याज्ञवल्क्य-गार्गी, २९६

याज्ञवल्क्य-मृग्यु, २९६

याज्ञवल्क्य-मंत्रेयी, २५४, २९६

याज्ञवल्क्य-शाकल्य, २९६

यास्क, ७७

योगशास्त्र, १७९

र

रघुवंश, ६५ टि०

रतिमात्र, ३७, २५६-७

रथ, ३०८

रथचक्र, १२९

रत्नि, ३०४

रत्न, १६, २३, २७, ३६, २१५,

२२१, २४९-२५०, २५९-

२६०, ३०४

रत्नगगाधर, १७, टि०, १११,

२४९ टि०

रत्नध्वनि, २८, ४४, २५०

रत्नध्वनि-सिद्धान्त, २०५

रत्न-विश्लेषण, २५१

रत्नसिद्धान्त, २०, २९, २४९

रत्नाभास, २५१

रत्नोचित्य, ४९

राघवण, बी०, ५०

राजरोखर ३४, ७७, २१३-२१६

राजा, ३१०

राम, १९४

रामायण, ५०, ५२-३, १९३

रीति, ७, १४, १६, २९, २०४-५,

२२१, २५८, २६०

रीति-ओचित्य, ४९

रीति-सिद्धान्त, १८, ३०-१

रथ, १५३

द्वन्द्व, २२, २४-५, ४६, ७१, ७३,  
९६, १११, १२३, १३२,  
१३९, १५२, १५४, १५७,  
१५९, १६७, १७५, १७७,  
१८०, १८२, २०५

द्वन्द्वामन्, १९४

द्वन्द्वक, १७, ७३, १११, ११९,  
१३१-२, १३८-९, १५१,  
१५४, १५७, १५९ टि०-  
१६१ टि०, १६७, १७०,  
१७५ टि०, १७७ टि० १८०,  
१८२, १८४-५, १८६ टि०,  
१९१ टि०

द्वन्द्व अलकार, ११-१४, २७, ५१,  
५४, ७६, ८३, ९६-७, १२६,  
१८८, २३४

द्वन्द्व-योजना, ५

द्वन्द्वकालिभ्योक्ति अलकार, ७, ५३,  
१२०-१२३, १८८

द्वन्द्वरस, २५३

लं

लक्षण, ४३

लक्षणामूलक अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-  
इवनि, २२४

लक्षणामूलक अर्थातिरसकमित्त-  
वाच्यइवनि, २२२-३

लक्षणामूलक इवनि, २२२

लघुना, १९४

लघुवृत्ति, १७९

लघ, ३१२

लागिसस, ४७

लाटिका, २०६

लावण्य, २५

लिंग, १६९

निगो, १६९

निगोचित्य, २६०, २७१-२

लुप्तोपमा, ८५

लोकव्यायमूलक अलकार, १७५

लौकिक इन्द्र, ३१३-५

व

वक्ष, ३०४

वक्षस्य इन्द्र, ३१७

वक्रोक्ति अलकार, १६, १८, ३५,  
७१-२, २३६

वक्रोक्तिजोचित्य, १८८ टि०, १९१ टि०,  
२५, २५, ३६ टि०, ४६ टि०

वक्रोक्तिसिद्धान्त, २०

वक्रोचित्य, २६०, २७२-३

वक्ष, ३०३

वर्षाति, ३०६

वदण, २९५

वदणमूलक, ६०

वर्ण-योजना, १९५

वर्णविग्यातवक्रता, ३६

वर्णित्, १०१

वस्तुध्वनि, ४३-४, २२२, २३१,  
 २४३, २५०  
 वस्तुरूपध्वनि, २२९  
 वस्तुव्यंग्यध्वनि, २३५  
 वस्तु से वस्तु-व्याप्यध्वनि, २२५  
 २२७-२२९ २३४  
 वाक्य, २६०  
 वाक्य-ध्वनि, २४२  
 वाक्यपाक, २१५  
 वाक्यध्वनता, ३६  
 वाक्यार्थगत कार्यकारणभाव, १७०  
 वाक्यार्थोपमा अलंकार, ९२-९५,  
 २३८  
 वाक्यीच्छित्य, २६०, २६३  
 वाचकलुप्ता, ८७  
 वाच्यव्यवच्छेद्या परिसरत्या, १६२  
 वाच्या विद्योत्प्रेक्षा, ११७  
 वाच्योत्प्रेक्षा, ११६-७  
 वास्तव्य रस, २५१  
 वासन, १८, २०-१, २४, २७,  
 २९, २९-३१, ३३-४, ४६, ७३,  
 ९६, १२३, १३२, १३९,  
 १५२, १५४, १७०, १७५, १७७,  
 १८०, १८२, २०४-५, २१४,  
 २८३-४  
 वासन भक्तवीर्य, १२३, १६०-१,  
 १६९

वायु, २७०, ३०५  
 वातकिपाक, २१५  
 वातमीकि, ५०-१, १९३, ३१२  
 वातमीकि-रामायण, १९४ टि०,  
 ३१२ टि०  
 वातवदन्ता, २८८  
 विकटपश्योजना, १९२  
 विकटवर्ण-योजना, १९५  
 विज्ञान-अधिज्ञान, १४४  
 विज्ञानमय कोश, १००  
 विद्या, १४१  
 विद्याधर, ३४  
 विद्यानाथ, ३२-३४  
 विद्युत्, ३०४  
 विद्रूपिका, १२  
 विनोक्ति अलंकार, २३८  
 विभाव, ३७  
 विभावना अलंकार, १४२, १४६-७  
 विभाषानुभाव, ३७, २५६  
 विमर्षिणी टीका, १५१  
 विरोध अलंकार, १४२, १४९,  
 २३१-२, २३५, २३८  
 विरोधमूलक अलंकार, १४२,  
 १५१  
 विरोधमूलक उदात्त अलंकार, १८२  
 विरोधाभास अलंकार, ६, ७०,  
 १४२-६, १८७-९

विवक्षितान्यपरवाण्यवनि, २२२  
 विवृतिटीका, १७  
 विशेष अलकार, १५१-३, १८९,  
 १९०, २३९  
 विशेषणीचित्य, ६१, २६०, २६९,  
 २७१  
 विशेषोक्त अलकार, १४२, १४६-८  
 विश्वनाथ, २६, २८८, ३१-४०,  
 ६५, ६९, ७२-७४, ७८, ८५,  
 ९७, ११०, ११२-३, ११६,  
 ११९-१२०, १२३-४, १२६-७,  
 १३१-२, १३५, १३९,  
 १४०, १४२-३, १४७-  
 १५१, १५४, १५७, १५९,  
 १६१-२, १६५, १६७, १७०,  
 १७३, १७४, १७७, १८०,  
 १८२, १८६, १९१, १९५  
 १९७, २००, २०६, २४९,  
 २५०, २५२, २५६, २८४  
 विश्वामित्र, १०१  
 विश्वेश्वर, ३२  
 विषय अलकार, १४८-९  
 विष्णुसूक्त, ६१  
 वीरराम, ४०, २५१  
 वृक्ष ३०४-५  
 वृक्षगण्डि गण, २८६, २८९, २९५  
 वृक्षयज्ञान, ६६  
 वृत्ताङ्ग-वाक, २१३  
 वेदान्त, ३, २६८  
 वैदिक्य, १९४

वेदमं, २०४  
 वेदमो रीति, ३०-१, ३४, ५१,  
 ५८, २०५-६, २८७  
 वैदिक छन्द, ३१३-४  
 वैशेषिक (काठ्य-गुण), २५-६  
 व्यजना, ४३  
 व्यक्ति-विवेक, २३ टि०, ३९ टि०  
 व्यतिरेक, ९६  
 व्यभिचारिभाव, ३७  
 व्यञ्जित १६२  
 व्यष्टि, २०५  
 व्याप्त, २७२  
 व्याप्त, ५०, १९३  
 व्रीहि, ३०४

श्री

शकराचार्य २  
 शकरानन्द, १०६  
 शकल, ३०४  
 शब्दगुण, २५  
 शब्दतरव, १७  
 शब्दपाक, ३३, २१५  
 शब्दशक्तिपूत्र (व्यङ्ग्यवनि), २२२  
 शब्दशक्तिपूत्राभ्युदाय, १७  
 शब्दशक्तिकार, १८, २५, ३२, ६३-४,  
 १८४-५  
 शब्दा, ३१-३४  
 शर, ३०८

शाकरभाष्य, ७१, १०६, ११७-८,  
 १३७, २८०  
 शान्तरस, ३५१-२५४, २५७  
 शांतिग्राम, १५४, १५७  
 शिर, ३११  
 शिलक, २९६  
 शिष्य, ११२  
 शिवसीतार्णव, १८ टि०  
 शुक्रनासोपवेश, २८६  
 शृङ्खलाबन्धमूलक अलंकार, १५६  
 शृङ्गारप्रकाश, १९ टि०, २५२ टि०  
 शोक, ३७  
 शौर्य १८  
 शीव उद्गीथ, १२  
 श्यामाक, ३०४  
 श्येन, १२९, ३०७  
 श्रीशकुन्त, २४८  
 श्रुत्यनुप्रास, ६८  
 श्लक्ष्णता, १९४  
 श्लिष्टपटम्परितरूपक, १०६  
 श्लिष्टरूपक, १०६  
 श्लेष अलंकार, ७३-७४, १४२,  
 १६२, १८४  
 श्वान-कथा, ९  
 श्वेतकेतु, ९  
 श्वेतकेतु की कथा, २९६  
 श्वेताश्वतरोपनिषद्, २, ६६ टि०,

६७, ७१, ७४, ८३-४, ८६, ९१,  
 ९५, १०२-३, १०५-७, १०९,  
 ११५, १२२-३, १२५, १२९,  
 १३०, १३४, १३८-९, १४१,  
 १४५, १४७, १५३, १५६,  
 १६०, १६३-४, १६८, १७३-  
 ४, १७७-८, १८१, १८३,  
 १८६, १८९-१९०, १९७,  
 १९९, २००, २०३, २१७,  
 २२९, २३६-७, २३९, २४३,  
 २४५, २५७, २६३, २६७-२७०,  
 २७४-२७७, २८१, २८४,  
 ३०५-६, ३०८-३१०, ३१४-  
 ३१७, ३१९

प

पङ्क, ३१२  
 पद्म धातु, २

स

सकर अलंकार, १८४, १८६,  
 १९०-१  
 सघटनीचित्य, ४९  
 सवारी भाव, २५६  
 सविग्रहरूप सकर, १९१  
 संयोग-न्याय, १८५  
 सप्तशतकमध्यगणध्वनि, ४४, २२२  
 संवाद, ६  
 सवादात्मक शैली, २९६



सरलेप, १८५	सर्पि., ३०९
समृष्टि अलकार, १८४-१९१	सर्वस्वकार (दृष्यक), १८५, १९१
संस्कृत साहित्यशास्त्र, २०४	सर्वप, ३०४
सकथी, ३११	ससम्बेह, १११
सत्, २४८	सस्य, ३०४
सत्-असत्, १४४	सहकारपाक, २१५
सत्यकाम, २९६	साध्यकारिका, १७४
सत्यकामजाबाल की कथा, २९६	सागरूपक अलकार, ५५, ९८-१०१, १०३, १८७, २३६
सत्यवाह, १६०	सादृश्यमूलक अर्थालकार, ७६, ११६
सन्देह अलकार, ७६, ११०-१	सार अलकार, १५६-१५८
सन्देहमकर अलकार, १९१	साहित्यदर्पण, २६ टि०, २८ टि०, ४० ४१टि०, ४३, ६३, ६५-६९, ७२, ७४, ७८-९, ८५, ८८, ९६-९८, १०३, १०६, १०८, ११०, ११२, ११३ टि०, ११६, १२०, १२३, १२५-१२७, १३१-२, १३९ १४०, १४२, १४७-१५१, १५४, १५७, १५९, १६१-२, १६५, १६७, १७०, १७५, १७७, १८०, १८२, १८६, १९१, १९५, १९७, २००, २०६, २२३ टि०, २४८, २५९ टि०, २५२ टि०, २५६ टि०, २८४
समवाय न्याय, १८५	सिद्धि-अष्टक, १०२
समष्टि ९९, २०५	सुशेषा, २९६
समस्तवस्तुविषयक रूपक, ९८	सुपर्णा, ३०६
समाधि, २४४	सुवन्त, २१४
समान, २७२	सुवन्तु १६२, २०५
समालकार, १४८	
समासोक्ति, ५४	
सामिद, ३१०	
सामिद, ३०९	
सामुच्चय अलकार, १६६-१६८, १८९, २३७	
समुद्र, ३०५	
समुद्रबन्ध, १७ १८, २०	
सम्बन्धातिशयोक्ति, १२३	
सम्बन्धवस्तुसम्बन्धनिबन्धना (निबन्धना), १३१	
सम्भावनामूलक उपप्रेक्षा, ११६	
सरस्वतीकण्ठाभरण, २५ टि०	

सुमनोज्ञता, १९४  
 सुवर्णचिह्न १३०  
 सुवर्णचिह्न, १३०  
 सूत्र, ३१०  
 सूर्य, ३०३  
 शृङ्गा, ३०७  
 शृष्टि, ११  
 सेतु, ३१०  
 सेनापति, ३१०  
 संग्रहचिह्न, ३०८  
 स्तम्भ, ३११  
 स्थाविभाव, ३७, २५६  
 स्फुटता, १९४  
 सक्त-सूत्रम्पाप, २५४  
 स्वहृत्प्रीति, ११६  
 स्वर्गलोक, २६२

ह

हस्त, ५, ८, १६०, ३०७  
 हनुमान्, १९३  
 हय, ३०७  
 हयग्रीव, १३९  
 हयंवरित, २०४ वि०  
 हादिभूत गीतय, २९६  
 हास्यरस, ४७  
 हिमालय, ८  
 हेतु अलकार, २३८  
 हेतुप्रेक्षा, ११६  
 हेतुहेतुमद्भाव, १६९  
 हेमचन्द्र, १५६ वि०, १९ वि०, १=२  
 हेमचन्द्रोपनिषद्, २

## शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२५	छन्दोग्य	छान्दोग्य
५	२६	घनप्वमहृस्व-	घनप्वहृस्व-
६	३	महृस्व	महृत्त्व
२४	३	माघुयं	माधुयं
३७	२६	प्रयन्द्यमिविशन्ति	प्रयन्द्यमितिशन्ति
५६	१४	मदुघान्	मदुघान्
६३	१६	मर जाते है	भर जाने है
६६	२७	यन्मूर्त	यन्मूर्त
७०	२०	ध्रीर	धोर
१०३	१४	ऊमियो	ऊमियो
११४	११	य	य
१२३	७	सम्बन्धातशयोवित	सम्बन्धातिशयोवित
२८	२१	ऋष	ऋष
४३	२७	बहुभियो	बहुभियो
५३	७	मुपसक्रम्य	मुपसक्रम्य
६८	१३	योनि	योनि
८१	१४	भूत	भूत
९२	१३	लक्ष्मीनिहिता	लक्ष्मीनिहिता
९४	२५	धविलस	धविलस
०१	१२	मिच्छेते	मिच्छेते
०४	२२	वक्नु	वक्नु
१२२	४	धमिषामूलक	धमिषामूलक

पृष्ठ	पक्षित	अशुद्ध	शुद्ध
२४२	५	३२३	३२५
२७३	६	नपुसक	नपुसक
२८२	६	हो	ही
२८७	१६	विजिघित्स	विजिघत्स
२८७	२७	प्रजापोष ।	प्रजापोषाण
२८८	१५	सब त परादाद	सब त परादाद
२८९	१९	तुम्य प्राण	तुम्य प्राण
२९०	१४	नोभयत प्रण	नोभयत प्रण
३०३	३	महत्त्व	महत्त्व
३१२	१२	पग पक्षिया	पशु पक्षियो
३१२	२० २१	उससे वेद का	उसे वेद का
३१५	२८	दिनियोजयेथ	दिनियोजयेत्थ
३१५	२९	कृतकम नाग	कृतकमनाग
३१५	३०	कम क्षये	कमक्षय
३१८	९	ववघस्य	ववघस्य
३२५	१	२२५	३२५